

श्रीवीतरागाय नमः

श्रीमद्देवनंदि-अपरनास-पूज्यपाद्स्वामिविरचित

इष्टोपदेश

[टीकात्रय एवं पद्यातुवाद चतुर्युक्त] पण्डितप्रवर शीआशाधरजीकृत संस्कृतटीका

हिन्दी-टीकाकार और सम्पादक

जैनदर्शनाचार्य श्री धन्यकुमारजी जैन, एम०ए० (हिन्दी, संस्कृत) साहित्यरत्न

स्व॰ वैरिस्टर श्रीचम्पतरायजी विद्यावारिधिकृत अंग्रेजीटीका The Discourse Divine.

तथा

स्व॰ जैनधर्मभ्र्पण त्र. सीतलप्रसादजीकृत हिन्दी-पद्यानुवाद, अज्ञातकविकृत मराठी-पद्यानुवाद, श्री रावजीभाई देसाईकृत गुजराती-पद्यानुवाद, श्रीजयभगवानजी जैन, (बी. ए., एल एल. बी., एडवोकेट, पानीपत) कृत विस्तृत अंग्रेजी पद्यानुवाद Happy sermons.

> Bhartiya Shruti-Darshan Kendra प्रकाशक JAIPUR

परमञ्जुतप्रभावक मंडल श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, अगास

वीरनिर्वाण संग्रु४९९ वि० संग्रु२९९, सन् १९७३

प्रकाशकीय निवेदन

बाचार्य पूज्यपादस्वामी-विरचित (इण्टोपदेश) ग्रन्थको प्रथमावृत्ति परमश्रुतप्रभावक मण्डल, वम्बईसे वीरिनर्वाण सं० २४८० में प्रकाशित हुई थी। उक्त संस्थाका समस्त कार्य थव श्रीमद्-राजचन्द्र आश्रम, अगास से ही होता है अर्थात् इस आश्रमके अन्तर्गत ही परमश्रुतप्रभावक मण्डलका समावेश हो गया है, अतः प्ररतुत ग्रन्थका प्रकाशन भी यहींसे दूसरी आवृत्तिके रूपमें हो रहा है।

'इल्टोपदेश' की मूल रचना संक्षिप्त होते हुए भी कथनका प्रकार विशाल और वैराग्यपूर्ण है। संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी टीकाओं के साथ प्रकृत रचना सचमुच और भी मधुर बन गई है। इसके साथ भी विशेषता यह है कि ग्रन्थपर चार विद्वानों द्वारा हिन्दी, गुजराती, मराठी और अंग्रेजीभाषामें रचित पद्यानुवाद भी सिम्मिलित है। इतनी सामग्री सिह्त संशोधनपूर्वक यह ग्रन्थ पाठकों के समक्ष रखते हुए हमें स्वाभाविक प्रसन्मता है, आनन्द है।

परमध्युतप्रभावक मण्डलको स्थापनाका उद्देश्य सत्श्रुतका प्रचार है। ग्रन्थोंका मूल्य लागत-मात्र या उससे भी कम रखा जाता है। संस्थाको ओरसे अवतक प्रकाशित ग्रन्थोंका सूचीपत्र पीछे संलग्न है, देखिए। आशा है पाठकगण महान् पुरुषोंकी कृतियोंका स्वाध्याय द्वारा लाभ उठाकर हमारा उत्साह बढ़ावेगे। सभी सहयोगीवन्युओंका हम आभार मानते है।

ज्येष्ठ सुदी ५,२०२९ वीर नि० सं० २४९९

निवेदक रावजोभाई देसाई

वित्ताय (भौतिकवादी) विचार-वैतरणोर्ने बहावमे बहता हुआ वर्तमान-पुगका मानव, माया ममता मोहादिसे मोहित होकर सतत ही सासारिक स्वार्य-साधनाकी पूर्ति हेतु अपनी एड़ीसे चोटी तकका पसीना एक करता रहता है। वह अपनी शिक्त और सामर्थिको विस्मृत कर, श्रान्तिको तिलाजित है, चलते-फिरते, उठते-बैठते, जागते-सोते, आठो पहर विपय-वासनाओको विकट बिल्लामे शुलसता हुआ संतत एयं दुःखी बना रहता है। ऐसी ही आधियो-व्याधियोसे व्यथित होता हुआ जन्म-मृत्युकी काँवरको कन्धोपर रख यह नाना गितयो, योनियो, एयं पर्याथों ठोकरें खाता फिरता है।

पाठकराण । इसकी अञ्चतापर हँसिये या तरस न खाइये । यह हालत किसी एक मानव विशेपकी नहीं, दसकी नहीं, सैकड़ों, हजारों, लाखों और करोड़ोकों नहीं अपितु हम आप समूची मानव-जातिकी हो रहीं है।

संसारी प्राणीकी बहिर्मुंकी दृष्टि अंतरोन्मुकी हो सके, वह स्व-पदमे अवस्थित हो सुपथका पथिक वन सके, इसके लिये आवश्यक है कि वह इष्ट (हितकारी) उपवेशको सुने । उसे एक कानसे सुनकर दूसरे कानसे न निकालते हुए उसपर मनन करे और इस प्रकार ज्ञात हुए साँचैके डाँचैमे जीवनको ढाल लेवे।

इस ओर प्रवृत्ति या कदम वढानेके पूर्व यह अवश्य व्यानमे रखना चाहिये कि सभी उपदेश इष्ट तथा हितकारी नहीं होते हैं। इष्ट उपदेशके उपदेष्टामें, पूज्यपादता होनी चाहिये। पूज्यपादता संयमकी प्रकर्पता एवं ज्ञानकी निर्मल्ताके विना हो नहीं सकती। अत्तएव निष्कर्प निकला कि पूज्यपाद द्वारा प्रणीत जो उपदेश होगा वह न केवल इष्ट अपि तु प्राणि-हितकारक एवं स्वस्वरूपाववोधक भी होगा।

प्रसन्नता है कि पाठकोंके समक्ष आज श्रोपूज्यपादस्वामी जिनका कि दूसरा नाम देवनन्द्याचार्य भी या, उनके द्वारा प्रतिपादित इष्ट-उपदेश (इष्टोपदेश) को, अनेक भाषाओं ग्रा-पद्यानुवादों सहित, सम्पादित कर सामने लानेका अवसर प्राप्त हो रहा है। इसके पहिले कि आगे लिखी जानेवाली पंक्तियों ग्रंथके रचिता एवं उसमें विज्ञत विपये वारों कुछ संकेत कह या परिचय हूँ, मैं सेठ मणीलालजी रेवाशंकरजी जीहरी ऑ० व्य० और कुन्दनलालजी जैन मैनेजर श्रीरायचन्द्रजैनशास्त्रमाला बम्बईको धन्यवाद देना अपना कर्तव्य समझता हूँ, जिनकी प्ररेणांके परिणामस्वरूप यह ग्रंथ इस रूपमे आप महाध्ययोंके समक्ष रखनेमें समर्थ हो सका हूँ।

ग्रंथकारका परिचय

वेद (ज्ञान) वृक्षकी सिद्धान्त, दर्शन, व्याकरण, साहित्य, वैद्यक आदि ज्ञाखा-प्रज्ञाखाओं के पारंगत, अनेक ग्रंथोंके प्रणेता, देशेके द्वारा पूजित श्रीपूर्यपादस्थामीका जन्म कर्नाटक प्रातके अंतर्गत कोलंगल नामके नगरमें हुआ था। आपके पिताजीका नाम श्रीमाधवमहु तथा माताका नाम श्रीदेवी था। आपने अपने जन्म द्वारा ज्ञाह्मण कुलको विभूषित किया था।

कन्नड भाषामे चंद्रय्य किव द्वारा लिखित पूज्यपादचरितसे ज्ञात होता है कि इनका नाम जन्मसे ही पूज्यपाद या किन्तु जब इस तथ्यको श्रवणवेदगोलाके ४० वे शिलालेखके प्रकाशमे देखनेका प्रयत्न करते है, तो यह प्रमाणताको प्राप्त नही होता है। इनका दोक्षा-चारणके समय देवनन्दी नाम था। इसके बाद बुद्धि-वैभवके विकासके वशसे इनका जिनेन्द्रबुद्धि नाम हुआ तथा देवताओं ने इनके चरणकमलोको पूजा की, अतः

⁽१) यो देवनन्दि प्रथमाभिधानो, बुद्धचा महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः । श्रीपञ्चपादोऽजनि देवताभियत्पजित पादयमं यदीयम् ॥ श्र० शि० क्र० स० ४०

जगतीतलपर पूज्यपादके नामसे ये विख्यात हुए । इसी निष्कर्णके समर्थनमे अन्य ीशलालेखींका भी उल्लेख किया जा सकता है, विस्तार भयसे यहाँ (टिप्पणोमे) उनकी मात्र कमाक संस्थाको हो लिखा जा रहा है।

आचार्य देवनन्दी (पूज्यपाद) के नामके विषयको और भी गहराईको लिये हुए जब देखते है तो उपरिक्तिखत बातकी पुष्टि पदावली , पुराणादिकोसे भी होती है।

इस नामके ये ही बाचार्य हुए हो ऐसी वात नहीं है। इनके वाद मी बहुतसे अन्य इसी नामके धारक ग्रय-रचियता हुए है। पर साहित्य-जोष्ठव, विषय-विवेचनको जैलोको दृष्टिसे इनकी (इष्टोपदेशके रचियता की) रचनाएँ अनोकी और अनुपमेय है 3। एवं ये महान् वैयाकरण थे अतः भाषापर एवं उसके साघनभूत शब्दोपर इनका अच्छा आधिपत्य था। जिसकी छटा उनके ग्रंथोमें जहाँ-तहाँ देखनेको मिलती है।

समय निर्णय — जैता कि लिखा जा चुका है 'पूज्यपाद' नामके कई ग्रंथनिर्माता हुए है । बतः इनके समयके विषयमे विवाद बना रहता है। कोई इन्हें पाणिनिका समकालीन बताते हुए ईस्वी सन् से पाँच शताब्दी पूर्वका घोषित करते हैं तो अन्य इन्हें विक्रमकी पाँचवी छठी शताब्दीका उद्धोषित करते हैं। भिन्नाभिन्न विचारोको मन्यन कर निष्कर्ष रूपमें जो कहा जा सकता है-त्रह यह है कि राजा दुविनीत जोकि अविनीतका पुत्र या, तथा विक्रमकी छट्टी शताब्दीमें शासन करता था। इसके शासन-कालमें इन्होंने इस मारत-मूमिको अपने जन्मसे पवित्र किया था।

पूज्यपादकी पावन कृतियाँ या ग्रन्थ-सम्पत्ति

पूज्यपादस्वामीने जो कुछ भी ज्ञानार्जन किया या वृद्धि-वलसे जाना, उसे उन्होने शब्दसाधनके द्वारा गूँच कर अन्योके रूपमें रख दिया । इस वृष्टिसे देखनेपर ज्ञात होता है कि इन्होने बहुत वहे पैमानेपर साहित्य-निर्माणकी बोर प्रयत्न किया था। आपका बहुत कुछ साहित्य अनुपळव्य है, फिर भी जो कुछ वर्तमानमे है, वह इस प्रकार है:—

- १. जैनेन्द्रव्याकरण—इसके नामसे ही व्यक्त होता है कि वह व्याकरणशास्त्र-सबधी ग्रंथ है। 'बीपदेव' नामक महान् वैयाकरणने अपने 'मुम्बबोघ' नामक ग्रंथमें आर्ठ महा व्याकरणोमें इसका उल्लेख किया है। 'बद्धमान' नामक कविने भी देवनन्दि (पूज्यपाद) नामके आचार्यका नामस्मरण किया है। देव-नन्दिके द्वारा रचित जैनेन्द्रव्याकरणकी महत्ताका एक यह भी प्रमाण है कि पाणिनिकेद्वारा निर्मित अष्टाध्यायीके अतर्गत गणपाठमें इसका उल्लेख किया गया है।
- सर्वार्थितिद्धि—यह श्रीमटुमास्वामिविरचित तत्त्वार्थसूत्र नामक सूत्रात्मक ग्रंपके अर्थको विशव-रूपसे विवेचन करनेवाला महान् ग्रंथ है और इस पर सबसे ज्यादा प्रामाणिक प्राचीन टीका है!
- ३. समाधितंत्र या समाधिशतक—सौ क्लोकोमे निवद्ध यह एक आव्यारिमक ग्रय है। इसमें आचार्यश्रीने वडी गम्भीरता एवं तात्त्विक्पनेसे अव्यारम विवयका विवेचन बहुत ही हृदयग्राही और सुन्दर किया है। इसपर संस्कृतमे अनेक उपयोगी टोकाएँ हुई हैं। हिन्दीमें भी इसका वर्ष लिखा जा चुका है।

१. (व) श्र. शि. ले के सं १०५. श्र. शि. नि ले. क. सं. ४०

⁽वं) श्र. शि नि. ले. क्रंसं १०८०

 ⁽क) यशःकीतिर्यशोनन्दी देवनन्दी महामितः।
 श्रीपुज्यपादापराख्यो गुणनन्दी गुणाकरः॥ (नदन्दिसंघ पट्टावली)

⁽ ख) कवीचा तीर्थं छुद्देवः कि तरां तत्र वर्णाते । विदुषां वाड मलध्वंसि तीर्थं यस्य वचीमयम् ॥ (बादिपुराण प्र पर्व)

प्रमाणमकलज्ज्ञस्य पूज्यपादस्य लक्षणम् । चनंजयकवै. काव्य रत्नत्रयमपिक्चमम् ॥ (घनंजयकविकृत नाममाला)

इन्द्रइतदः काशकृत्स्न पिशलीशाकटायन । पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टो च शान्दिका ॥
 चातुपाठ

- ४. इष्टोपदेश—यह छोटासा ग्रंय है जिसको कि पाठकगण अपने हायमे लिये हुए है। आप लोग देखेंगे कि इसमें बाचार्यश्रीने 'गागरमें सागर भरने'की उक्तिको चिरतार्थ किया है। यानी थोड़ेंगे बहुत कुछ लिखा गया है। इसकी महत्ता, उपयोगितादिको देख पंडितप्रवर आशाधरजीने इसपर संस्कृतटीका लिखी जो कि इसमें सन्नद्ध है। वर्तमानमें तो इसके मराठी, गुजराती, अँग्रेजी आदि भाषाओंमें बनुवाद भी हो चुके हैं।
- ५. दशमिकः—प्रभाचन्द्राचार्यके "संस्कृताः सर्वे मक्तयः पूज्यपादस्वामिकृताः" इस कथनके सहारे कहा जा सकता है कि इनके रचयिता पूज्यपादस्वामी है ।

ग्रन्थान्तरोमे जो यहाँ वहाँ उल्लेख मिलते हैं उनके सहारे ज्ञात होता है कि उपरिलिखित उपलब्ध ग्रन्थोंके अतिरिक्त अन्य विविध विषयके ग्रन्थोंका प्रणयन भी इन्होंने किया है। वैद्यक ग्रन्थोंके रचियता ये थे, ऐसा शिलालेखों, रसरत्नसमुच्चय, ज्ञानार्णवादि ग्रन्थोंके रचियताओंने (वसवराज, शुभचन्द्राचार्यने) अपने-अपने ग्रन्थोंने उल्लेख किया है, उससे ज्ञात होता है।

पूज्यपादस्वामोने 'जैनाभिषेक' नामक गम्यका भी निर्माण किया था । छम्द-शास्त्र विपयक ग्रम्थकी भी इन्होंने रचना की थी ऐसा कहा जाता है। घवलांके वेदनाखण्डके उद्धरणसे ज्ञात होता है कि न केवल इनका व्याकरण, वैद्यक, छम्द-शास्त्र, आध्यात्मिक, साहित्यपर आधिपत्य या अपि तु न्याय-शास्त्रके भी ये एक अधिकारी विद्वान् थे । इन्होंने सारसंग्रह नामके न्याय व सिद्धान्त-सम्बन्धी ग्रंथका निर्माण किया था । चंद्रय्य किय द्वारा कन्नड भाषामें लिखित पूज्यपादचरितको यदि प्रमाणक्ष्यमे ग्रहण किया जाय तो उसके सहारे कहा जा सकता है कि पञ्चपादस्वामीने 'अर्हतप्रतिष्ठालक्षण' एवं 'शान्त्यप्टक' की भी रचना की थी।

यद्यपि महापुरुपोके विषयमे जितना भी लिखा जाय वह सव योड़ा है, किन्तु साहित्यकी वह भी लाज्यात्मिकसाहित्यकी सृष्टि करनेवाला, निस्पृही, निर्यंग्य, साहित्यिक महापुरुप अपने ढेंगका अद्वितीय व्यक्ति हुआ करता है। वह सीधी, सरल, हितकारी भाषाका आश्रय ले सच्चे सुहृद्के समान मन-मानसमें निहित विचार-मणि-मुक्ताओको सामने रख देता है और कहता है, कि यह स्वानुभूत-अच्छी तरहसे परखी हुई विचार-मणियाँ है। इनसे मुझे ब्रांति, संतोष, और आनन्दकी अनुभूति हुई है। चाहो तो तुम भी इनका रसास्वाद कर सकते हो। ऐसे ही महापृष्ट पूज्यपादस्वामी थे। इन्होने स्वान्तःसुखकी वृष्टिसे साहित्य-धृष्टि कर संसारके समस्त सत्वोको समुन्नतिका सन्माग् सुझाया।

अंतमे अधिक न लिखते हुए, इनके साहित्यसे जो हृदय पटलपर विचार अंकित होते है वे ये हैं:—
पूज्यपादस्वामी न केवल उच्च दर्जेंके संयमी थे अपितु महान् विद्वान् थे। उनका जन्म इस भारत-भूमिने छठी
खताब्दीके पूर्वार्द्धमे हुआ था। उनको ब्याकरण, न्याय, सिद्धान्त, वैद्यक, छंदशास्त्र, ज्योतिप, साहित्यका ज्ञान
ही नहीं अपितु उनपर अधिकारपूर्ण विवेचना करनेका सामर्थ्य था। उन्होने एकपकीय साहित्यका ही निर्माण
नहीं किया। आब्यात्मिक साहित्यको भी सुन्दर शब्दोमें सजीकर सामने रक्खा। ऐसे साहित्यक योगी महापुरुपको शत तमन हो।

प्रस्तावना समाप्तिके पूर्व उन साहित्यिकोंका भी (पूज्य प्रेमीजी, श्रीमोतीचन्द्रजी कोटारी एम. ए. आदिका) जिनके ग्रंथोकी सहायता इस प्रस्तावनाके लिखनेमे ली है, आभार मानता हूँ और आशा करता हूं कि वे इस धब्दताको क्षमा करेंगे कि अनुमति लिए विना उनके ग्रंथोका सहारा ले लिया गया है।

पाठकगण ! मानव जवतक मानवकी दक्षामें हैं, उसमें अपूर्णताका होना अवश्यंभावी हैं । अत. म चाहते हुए भी इसमें यदि कुछ बृटियाँ रह गई हो तो उसमें मेरी अल्बज्ञताको ही कारण समझे । इतना अवश्य निवेदन हैं कि यदि महत्त्वपूर्ण कोई बुटि खटकती हो तो उसकी सूचना मुझे देवे, जिससे कि यदि अवसर मिला तो अगले संस्करणमें उन्हें अलग कर दिया जावे । जिन जिन सज्ज्ञनोने अपने पद्यानुवादोको इसमें समाविद्य कराया है, उनको बन्यवाद देते हुए विराम लेता हूँ । विज्ञेषु किमधिकम् ।

श्रीनशियां जी-श्रीपार्श्वनयाय जैनमन्दिर इन्दौर, } अक्षयतूतीया, वीर--नि. रं. २४८० }

वापलोगोका ही धन्यकुमार जैन

प्रकाशकीय निवेदन (प्रथमावृत्ति)

श्रोपूज्यपादस्त्रामी (देवनन्दी) एक वहुत ही प्रसिद्ध काचार्य हुए है। इनके बनाये हुए १ जैनेन्द्रमहाब्या-करण, २ सर्वार्थसिद्धि-तत्त्वार्यसूत्रको सबसे प्राचीन महत्त्वपूर्ण टीका, ३. समाधिजतक या समाधितंत्र;४. इट्टो-पदेश और ५ दशमित, जपन्त्रव ग्रन्य है। १ शब्दावनारन्यस, २ जैनेन्द्रन्याम, ३ सारसंग्रह, ४ वैद्यक-गन्यको भी रचता इन्होंने की है, किन्तु वे वर्तमानमें अनुपनव्य है।

इनका सबसे छोटा किन्तु महत्त्वपूर्ण सुन्दर प्रत्य इष्ट्रोपदेश है। इसको यदि जैनोपिनविद् कहें तो भी अर्युवित नहीं होगी। इसमें मानव-कल्याणकारी तत्त्वोका वडा सुन्दर हृदयप्राही वर्णन किया गया है। इसमें प्रतिपादित तत्त्वोक्ते प्रचार प्रसार एवं तदनुकुल जययोग होनेवर जयती-तलका महान् कल्याण हो सकता है।

इस ग्रन्थकी पंडितप्रवर आसाधरजीकृत संस्कृतटोका, चिड्रद्रस्त न्यायालंकार पं. यंशीधरजी सिद्धान्तशास्त्री (प्रधानाध्यापक सर सेठ हुकमचन्द्र जैनविद्यालय इन्दौर) के मुष्य जैनदर्गनावार्य धीधन्य-कुमारजी एम् ए. (हिन्दौ-सस्कृत) साहित्यरत्नकृत हिन्दौटीका, स्व वैरिस्टर चम्पतरायजी विद्यावारि- विकृत वंगोजीटोका (The Discourse Divine) इन तीन टोकाओ तथा स्व॰ जैनवर्मभूपण स. सीतल-प्रसादजीकृत हिन्दौ दोहानुवाद, अज्ञातकिव (श्रीमोतीलाल होराचन्द्रजी गांघी) कृत मराठी पद्यानुवाद, श्री रावजीभाई देसाई श्रीमद्राजचन्द्राश्रम वगामकृत गुजराती-पद्यानुवाद, और श्रीज्यभगवानजी वी ए. एल एल. वी. एडवोकेट पानीपतकृत विस्तृत वंग्नेजी कृतिके साथ इन सात महान् विद्वानोकी कृतिको सोमाय प्राप्त हुआ है। समाज पूज्यपाद आचार्यकी कृतिके साथ इन सात महान् विद्वानोकी कृतिको तो वांग करेगी। विधिकसे अधिक लोग लाग उठावे इसीलिए यह सब प्रयत्न किया गया है बीर मूल्य भी कम रक्वा है।

हशेपरेश पहला ग्रन्थ है, जो इतनी टीकाओ और पशानुवादोंके साथ प्रमाणित हो रहा है। पूष्यपादहमामीने इसे छंडी शताब्दीमें रचा था। ७०० वर्ष वाद तेरहवी शताब्दीमें पंडितप्रवर काकाघरजीने संस्कृतटीका श्रीमुनिराज विनयचन्द्रजीके बाग्रहसे मालवाकी राजधानी नालछा-धारानगरीके श्रीनेमिनाथ
मन्दिरमें बनाई। प्रच सीतलप्रधादजीकी हिन्दीटीका सन् १९२२ में प्रकाशित हुई, जो अब अप्राप्य है। हिन्दी
टीका प्रकाशित होनेके ३ वर्षके बाद सन् १९२५ में स्वच वैरिस्टर चम्पतरायजीने व सीतलप्रसादजीक
आग्रहसे अगेजीमें टीका लिखी। पं. प्र. आशाधरजीकी टीकाके ७०० वर्ष वाद वीसवी शताब्दीमें जैनदर्शनाचार्य श्रीचन्यकुमारजी एम. ए साहित्यरतने स्वच आचार्य सूर्यसागरजीके आग्रहसे मालवाकी राजधानी
इन्दीरमें निषयांगीके श्रीपादर्वनाथ जैनमन्दिरमें नई हिन्दीटीका लिखी।

इस अर्थप्रधान युगमे आपने निःस्वार्ध मानसे हमें यह टीका प्रकाशित करनेकी अनुमति प्रदान की, तद्यं आपको प्रया धन्यवाद दूँ ? आप तो स्वयं धन्यकृपार ही है। पहिले यह हिन्दीटोका सेठ फकीरचन्द्रजी गोधा मन्दसीरकी ओरसे वी. नि. सं २४७२ में वितरत हुई थी। यह अव्यास-प्रन्य-संग्रह जिसमें छोटे वडे आठ ग्रन्य थे, अन्तर्गत छपी थी। आपसे (हिन्दी-टीकाकारसे) हमें वडी आशाएँ है। आपकी छपा हुई तो कोई अन्य उपयोगी ग्रन्य समाधिश्वतक वगैरह सम्पादित कराकर इसी पढ़ितसे प्रकाशित करायेंगे।

संस्कृतटीकाकी हस्तर्लिखित प्रतियोके प्राप्त करनेका बहुत प्रयत्न किया, पर मिली नही । इसकी संस्कृतटीका माणिकचन्द जैनग्रयमालाके १३ वे ग्रंथ तत्त्वानुशासनादिसंग्रहमें छपी प्रतिपरसे छपाई गई है । क्षतप्त ग्रयमालाके मंत्रीजीके वहे आसारी हैं ।

शोलापुर निवासी बिद्धहर प. बंद्गीयरची झास्त्रीने इसका प्रूफ्त संशोधन बड़ी तत्परता और लगनसे किया है। एतदर्य पंडितजोको अनेक धन्यबाद है। आप ग्रन्य-सम्पादन-कलामे बड़े निपुण है। आपने प्रमेय-कमलमार्तण्ड, बष्टसहुस्रो, जैतेन्द्रप्रक्रियादि महान् ग्रन्थोका सम्पादन एवं संशोधन किया है।

ग्रन्यमे उद्भृत क्लोको गाथाओको मूल-स्थानोको दूँ ढेनेमे बहुत प्रयत्न किया फिर भी कितनोका पता

नहीं लगा । अन्तमे एक वार पुन ग्रन्थ-प्रकाशनमें सङ्घायक होनेवाले टीकाकारो, पद्यानुवादको, संशोधको आदि समस्त सुरुग्नोको धन्यवाद देते हुए विराम लेते हैं ।

जौहरी वाजार, वम्वई न० २ महावीरजयन्ती, वीर-सं० २४८० र् निवेदक-प्रकाशक

इष्टोपदेशकी विषय-सूची

मंगलाचरण-टीकाकार और मूल ग्रन्थकत्तीका	1	मोही कमीको बाँबता है, और निमाहा छूट जाता	
'स्वयंस्वभावाप्ति' का समाघान	7	है, इसलिए हरतरहसे निर्ममताका प्रयत्न करे-	₹ १
व्रतादिकोको सार्थकता —	3	में एक ममता रहित शुद्ध हूं, संयोगसे उत्पन्न	22
बात्म-परिणामीके लिये स्वर्गकी सहजमे ही प्राप्ति	4	पदार्थ देहादिक मुझसे सर्वथा भिन्न है— देहादिकके सम्बन्धसे प्राणी दुःख-समूह पाते हैं,	35
स्वर्ग-सुखोका वर्णन	É	इससे इन्हें कैसे दूर करना चाहिए ?	33
"सासारिक स्वर्गादि-सुख भ्रान्त है" इसका कथन	9	ज्ञानी सदा नि जॅक है, क्योंकि उसमे रोग, मरण,	
यदि ये वासनामात्र हैं, तो उनका वैसा अनुभव		वाल, युवापना नही, ये पुद्गलमे है	38
वयों नहीं होता? इसका उत्तर-मोहमे ढका		पुद्गलोको वार-वार भोगे और छोडे, ज्ञानीका	
हुआ ज्ञान वस्तु-स्वरूपको ठीक-ठीक नही		उच्छिष्ट-झुठेमे प्रेम नही	३५
जानता है—	3	कर्म कर्मका भला चाहता है, जीव जीवका, सव	
मोहतीयकर्मके जालमे फँसा प्राणी शरीर, धन,		अपना अपना प्रभाव बढ़ाते हैं—	34
	१०	परका उपकार छोडकर अपने उपकारमें तत्पर होओ-अपनी भलाईमें लगी।	३७
जीव-गृति वर्णन, अपने शत्रुओके प्रति भी हैपमाव मत करो-	१२	गुरुके उपदेशसे अपने और परके भेदको जो	40
राग-द्रेष भावसे भारमाका अहित होता है—	१३	जानता है, वह मोक्षसम्बन्धी सुलका अनुभव	
संसारमे सुख है तो फिर इसका त्याग नयो किया		करता है।	36
जाय ? इसका समाधान	88	स्वयं ही स्वयंका गुरु है	३९
सासारिक सुख तथा घर्म, आदि, मध्य और	_	अभन्य हजारो उपदेशोसे ज्ञान प्राप्त नहीं कर	
अन्तमे दुःखदायी है	१६	सकता है। सच्चे योगी अपने ध्यानते चलाय-	V 0
'घनसे आत्माका उपकार होता है,' अत: यह उपयोगी है, इसका रामाधान—	१७	मान नहीं होते हैं, चाहें कुछ भी हो जावें स्वात्मावलोकनके सम्यासका वर्णन	86
धनसे पुष्य करूँगा, इसलिये कमाना चाहिए-	, ,	स्वात्मसवित्ति बढनेपर आत्मपरिणत-	४२
इसका समाधान—	38	योगी निर्जन और एकान्तवास चाहता है, अन्य	8 7
भोगोपभोग कितने भी अधिक भोगे जायँगे कभी	,	सब बातें जल्दी भुला देता है-	ሄሄ
तृप्ति न होगी	१९	ध्यानमे लगे योगीकी दशाका वर्णन	४६
शरीरके सम्बन्धसे प्रवित्र पदार्थ भी अपवित्र हो		आत्मस्वरूपमे तत्पर रहनेवालेको परमानन्दकी प्राप्ति	28 E
जाते है-सरीरकी मलिनताका वर्णन-	28	परद्रव्योके अनुराग करनेसे होनेवाले दोपोका वर्णन	86
जो आत्माका हित करता है, वह शरीरका अप-		तत्त्वसंग्रहका वर्णन—	४९
कारी है और जो शरीरका हित करता है,		तत्त्वका सार-वर्णन	40
वह जीवका अपकारक (बुरा करनेवाला) है	२२	शास्त्रके अध्ययनका साक्षात् और परम्परासे	
घ्यानके द्वारा उत्तम फल और जघन्य फल इच्छानुसार मिलते है	າກ	होनेवाले फलका वर्णन—	48
कारमस्बद्धप वर्णन—	25	उपसंहार और टीकाकारका निवेदन-	५२
मनको एकाग्र कर इन्द्रियोके विषयोको नष्ट कर	२३	परिशिष्ट नं. १ मराठी पद्यानुवाद	५३
भारमा ज्ञानी परमानंदमयी होकर अपने-आपमे		,, नं. २ गुजराती ,,	44
रमता है	२५	" नं. ३ अग्रेनी अनुवाद—	
अज्ञभक्ति अज्ञानको ज्ञानभक्ति ज्ञानको देती है,	• •	The Discourse Divine	५७
जो जिसके पास होता है, उसे वह देता है	२७	,, ४ अंग्रेजो विस्तृत पद्मानुवाद	
आत्मामे आत्माके चिन्तनरूप ध्यानसे, परीप-		Happy Sermons	७६
हादिका अनुभव न होनेसे, कर्म-निर्जरा होती है-	२८	। , म नं. ५ मूल क्लोंकोको वर्णानुक्रमणिका	८२
जहाँ आत्मा ही ध्याता और ध्येय हो जाता है		,, नं, ६ उद्धृत क्लोको गायाओ और दोहो-	•
वहाँ अन्य सम्बन्ध कैसा ?	30	की वर्णासूक्रमणिका	८३
the read of a second by	7 "	1	A.1

श्रीदेवनन्दि-पृज्यपादःसमर्णम् ।

	6
?	कवीना वीर्वकृतिः कि तथ सद पर्वते । विद्वां सार्वादर्भेन सीर्व देशसम् ॥
	વાલ્યુમને-પૌરિયંવરાવાર્ષ [ે] ।
₹.	इस्त्रमञ्ज्ञाकृति अभाविष्याक्रमपेक्षयः । क्षेत्रम्य दवसंपरम् न वस्यां विरः, वश्रम् ॥
	—हिमोबार्ग नुस्तारतेषीय भीविसीववरिः।
3,	अभिनय-महिमा देश. मोर्जभणको हिंशीयचा । अस्थास्य मेन निद्यप्रतिष् माणसं प्रतिकतिमना, ।
	वाः विद्यादिक्षामानिः
đ.	सवाहुनीन गणन अग्र-सन्धन्धनम्भवत् । बान्द्रम् हुवा सोक्षे देवस्सी वसम्बन्धे ॥
	—सामार्कते—संस्थानस्मितः।
tz	राहमीरास्यन्तित्री गरम निरवणाह्यभागते । देशमीराहपूर्वेश नामन्त्रमे स्वयमते ॥
**	— देशेन्यसम्बद्धाः ।
ę	प्रमानाः भन्ना प्रभावः प्रमे, पुनातु माम् । स्वारम्यानीते सेन बीट्रा किनीर्ट्यसूमाः ॥
٦	14
	—पाष्ट्रय्यम्भिन्धीय्भस्यभद्दास्यः।
Ġ	मो रेजनिक-प्रमाणियानो, कृतमा भरत्मा म जिनेत्रकृतिः ।
	भोतृत्वपार्याद्यात्वि देशसमिवंगुर्वाचलं पारवृष गयीयम् ॥
	भगपनियोल-जिलामेग तं० ४०.
	जैनेन्द्रं निज्याब्दमायमपुर्णं म संयोगिद्धिः यस
	निद्धान्ते निषुणस्यम्३पर्वाता जैसामियेकः स्वकः ।
	छ'इ. मृहम्पिम नमारिदाउक्तं स्थारध्यं यदीयं विदा-
	महत्त्वा होह् स प्रवताद्रमृत्तिः, पृत्रवे मृत्तीना मर्वे ॥
	—यापयाचीम-सिगालेस नंद ४०.
٩	स्रोपुण्यपादीद्पृतगर्मराज्यस्ताः मुरागीदगरगृण्यपादः ।
	यदोवयेंदुरवतुर्गानदानी तदन्ति सारतायि तदुद्गृतामि ॥
	पृतिविद्यमुद्धिरयमत्र योगिभिः, कुनकृत्यभात्रमनुविधदुष्यकैः ।
	जिनसभूव गदन हुनागहुरम जिनेन्द्रबुद्धिरिति सापुत्रणिनः ।।
	— शवणवैःगोत-शिलानेय न० १०५
ę o	श्रोगुज्यवायमुनिरप्रतिमोवयद्विभीवादिवेहिजिनयर्तनपूर्वमापः ।
	यत्नादमीनजन्त्रतंस्वर्धनप्रभावात् कालायस् किन्न तदा कनकोचकारः॥
	—भवणवेतगोल-चिलालेग नं० १०८.
११	न्यासं जैनेन्द्रमंत्र सक्छबुधनुतं पाणिनीयस्य भूयो
	न्यासं शब्दावतारं मनुजतितिहतं वैद्यवारनं च कृत्वा ।
	यस्तत्त्वार्थस्य टीका व्यरचयदिहता भात्यसी पूज्यपादः,
	स्वामी भपालवन्त्रः स्वपरहितवसः पर्णदेग्वोधवसः ॥
	—नगर ताल्लुका विलालेस न० ४६.
१२	नमोऽस्तु पूच्यवादाय, समाधिस्वामिने त्रिधा । राजचन्द्राय याचेऽहं, समाधिबोध-साधनम् ॥ १ ॥
	कलिकालानले दग्धान्, जीवास्त्रातुं समुचतः । राजचन्द्रसुधासिन्धुर्नमस्तस्मै स्मराम्यहम् ॥ २ ॥
	नमोऽस्तु पूज्यपादाय, समाधिस्वामिने सदा । समाधितन्त्रकर्तारं, नगामि समताघरम् ॥ ३ ॥

—श्रीराजचन्द्रः





श्रीमद् राजचंद्र

जन्म--ववाणिया वि० सं० १९२४, कार्तिक सुदी १५ देहोत्सर्ग-राजकोट

वि० सं० १९५७, चैत्र वदी ५

अलौकिक अध्यात्मज्ञानो परमतत्त्ववेत्ता

श्रीयद् राजचन्द्र

'खद्योतवत्सुदेष्टारो हा द्योतन्ते ववचित्दवचित्' हा [।] सम्यक्तत्त्वोपदेष्टा जुगनूंकी भाँति कही-कही चमकते है, दुष्टिगोचर होते है ।

---आशाधर

महान् तत्त्वज्ञानियोंकी परम्परारूप इस भारतभूमिके गुजरात प्रदेशान्तर्गत ववाणिया ग्राम (सौराष्ट्र) में श्रीमद्राजचन्द्रका जन्म विक्रम सं० १९२४ (सन् १८६७) की कार्तिकी पूर्णिमाके शुभदिन रविवारको रात्रिके २ वजे हुआ था । यह ववाणिया ग्राम सौराष्ट्रमें मोरबीके निकट है ।

इनके पिताका नाम श्रीरवजीभाई पंचाणभाई महेता और माताका नाम श्री देववाई था । आप लोग वहुत मक्तिशील और सेना-भानी थे । साधु-सन्तोंके प्रति अनुराग; गरीवोको अनाज-कपडा देना: वद्ध और रोगियोंकी सेना करना इनका सहज-स्वभाव था ।

श्रीमद्जीका प्रेम-नाम 'रुक्ष्मीनंदन' था । बादमे यह नाम वदलकर 'रायचन्द' रखा गया

और भविष्यमे आप 'श्रीमद्राजचन्द्र' के नामसे प्रसिद्ध हुए।

श्रीमद्राजचन्द्रका उज्ज्वल जीवन सचमुच किसी थी समझदार व्यक्तिके लिए यथार्थ मुक्ति-मार्गकी दिशामें प्रवल प्रेरणाका स्रोत हो सकता है। वे तीव्र क्षयोपशमवान और आत्मज्ञानी सन्तपुरुप थे, ऐसा निस्सदेहरूपसे मानना ही पडता है। उनकी अत्यन्त उदासीन सहज वैराग्यमय परिणति तीव्र एवं निर्मल आत्मज्ञान-दशाकी सुचक है।

श्रीमद्जीके पितामह श्रीकृष्णके भक्त थें, जब कि उनकी माताके जैनसंस्कार थे । श्रीमद्-जीको जैन लोगोंके 'प्रतिक्रमणसूत्र' आदि पुस्तके पढनेको मिली । इन धर्म-पुस्तकोमे अत्यन्त विनय-पूर्वक जगतके सर्व जीवोसे मित्रताकी भावना व्यक्त की गई है । इसपरसे श्रीमद्जीकी प्रीति जैन-धर्मके प्रति वढने लगी । यह वृत्तान्त उनकी तेरह वर्षकी वयका है । तत्पक्चात् वे अपने पिताकी दुकानपर वँठने लगे । अपने अक्षरोकी छटाके कारण जव-जव उन्हें कच्छ दरवारके महलमें लिखनेके लिए वृलाया जाता था तव-तव वे वहां जाते थे । दुकानपर रहते हुए उन्होंने अनेक पुस्तकें पढीं, राम आदिके चरित्रोंपर कविताएँ रची, सासारिक तृष्णा की, फिर भी उन्होंने किसीको कम-अधिक भाव नहीं कहा श्रथवा किसीको कम-ज्यादा तौलकर नहीं दिया ।

जातिस्मरण और तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति

श्रीमद्जी जिस समय सात वर्षके थे उस समय एक महत्त्वपूर्ण प्रसंग उनके जीवनमें बना। उन दिनो ववाणियामे अमीचन्द नामके एक गृहस्थ रहते थे जिनका श्रीमद्जीके प्रति बहुत ही प्रेम था। एक दिन अमीचन्दको साँपने काट लिया और तत्काल उनकी मृत्यु हो गई। उनके मरण-समाचार सुनते ही राजवन्द्रजो अपने घर दादाजीके पास दौड़े आये और उनसे पूछा 'दादाजी, क्या अमीचन्द सर गये?' वालक राजचन्द्रका ऐसा सीवा प्रश्न सुनकर दादाजीने विचार किया कि इस वातका वालकको पता चलेगा तो उर जायगा अतः उनका ध्यान दूनरी बोर आर्कावत करनेके लिए दादाजीने उनहें भोजन कर लेनेको कहा और इघर-उघरको दूसरी वाते करने लगे। परन्तु, वालक राजचन्द्रने मर जानेके वारेमे प्रथमवार हो सुना था उसलिए विदोप जितासापूर्यक थे पूछ

वंठे: 'मर जानेका क्या अर्थ है ?' दायाजीने कहा—उसमंगे जीव निकल गया है। अब यह चलना-फिरना, खाना-पीना कुछ नहीं कर सकता, उमिछिए उसे तालप्रवंक पास स्मजान भूमिमें जला देवेंगे!' उतना मुनकर राजचन्द्रजी थोड़ी देर तो घरमें उमर-उसर भूमते रहे, बादमें न्यापाय तालावके पास पये और वहाँ बचूलके एक वृद्धपर चलकर रेसा तो सचमून बृद्धक्रे छोन उसके अरीरको जला रहे है। इस प्रकार एक परिचिन और सज्जन व्यक्तिने जलाता देयकर उन्हें बड़ा आरचर्य हुआ और वे बचारने लगे कि यह सब गया है! उनके अन्तरमें बचारों की तीन्न सलवली-सो मच गई और वे गहन विचारने लगे कि यह सब गया है! उनके अन्तरमें विचारों की तीन्न सलवली-सो मच गई और वे गहन विचारमें ज्य गये। इसी समय अचानक विचारमें भागे आवरण हट गया और उन्हें पूर्व भवोकी स्मृति हो आई। बादमें एक बार वे जूनागहका किया देशने गये तब पूर्व-स्मृतिज्ञानकी विवेध वृद्धि हुई । उस पूर्व-स्मृतिस्प-ज्ञानने उनके जीवनमें प्रेरणाका अपूर्व नवीन-अध्याय जोटा। श्रीमद्जीकी पहाई वियेध नहीं हो पाई थी। फिर भी, वे संस्कृत, प्रावृत्त आदि भागाओके ज्ञाता थे एव जैन आगमोंके असाधारण येता और मर्मज थे। उनके क्षयोपजमक्ति उत्तनी विज्ञाल थी कि जिस काव्य या सूत्रका मर्ग बटे-नडे विद्यान लोग नहीं बता तकते थे उसका यथाई विवेधण उन्होंने सहल्यभे किया है। उनहें अल्य-वयमें ही तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो गई थी, जैना कि उन्होंने स्वयं एक काव्यमें लिया है—

लघुवयथी अद्भुत ययो, तत्त्वज्ञाननो वोध । ए ज सूचवे एम के, गति आगति कां दोध ? जे सस्कार यवो घटे, अति अभ्यासे काय, विना परिश्रम ते थयो, भवर्शका शी त्यांय ?

अर्थात् छोटी अवस्थामे मुद्दो अद्भुत तत्त्वगानका वोध हुआ है, यही सूचित करता है कि अब पुनर्जन्मके शोधकी क्या आवश्यकता है ? और जो संस्कार अत्यन्त अभ्यासके द्वारा उत्पन्न होते हैं वे मुझे विना किसी परिश्रमके ही प्राप्त हो गये है, किर वहाँ भवशंकाका क्या काम ? (पूर्वभवके ज्ञानसे आत्माकी श्रद्धा निश्चल हो गई है।) अवधान-प्रयोग, स्पर्शनकृति

श्रीमद्जीकी स्मरणगिक अत्यन्त तीव्र थी। वे जो कुछ भी एक वार पढ लेते, उन्हें ज्यों का त्यों याद रह जाता था। इस स्मरणगिकिक कारण वे छोटो अवस्थामें ही अवधान-प्रयोग करने लगे थे। वीरे धीरे वे सी अवधान तक पहुँच गये थे। वि० सं० १९४३ मे १९ वर्षकी अवस्थामें उन्होंने वम्यईकी एक सार्वजिनक सभामें डाँ० पिटर्सनके सभापितत्वमें सी अवधानोंका प्रयोग वताकर यडे-बंडे लोगोको आक्चर्यमें डाल दिया था। उस समय उपस्थित जनताने उन्हें 'सुवर्णचन्द्रक' प्रदान किया, साथ ही 'साक्षात् सरस्वती' के पदसे भी विभूषित किया था। ई० सन् १८८६-८७ में 'मुवर्ई समाचार', 'जामे जमगेद', 'गुजराती' 'पायोनियर', 'इण्डियन', 'स्पॅक्टेटर', 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' आदि गुजराती एव अग्रेजी-पत्रोंमें श्रीमद्जीको अद्भुत शक्तियों को योरे भारी प्रशसात्मक लेख छपे थे।

१ इस प्रसगकी चर्चा कच्छके एक विशक्त वधु पदमशीभाई ठाकरक्षीके पूछनेपर वम्बईमें भूलेश्वरके दि॰ जैन मन्दिरमें सं॰ १९४२ में श्रीमद्जीने की ।

२ देखिए, पं० वनारसीदासजीके 'समता रमता उरघता॰' पद्यका विवेचन 'श्रीमद्राजचन्द्र' (गुजराती) पत्राक ४३८.

आनद्यन चौबीसीके कुछ पद्योका विवेचन उपरोक्त ग्रन्थमे प्रथाक ७५३.

शतावधानमे शतरंज खेलते जाना, मालाके दाने गिनते जाना, जोड़-बाकी-गुणा करते जाना, आठ भिन्न-भिन्न समस्याओकी पूर्ति करते जाना, सोल्ह भाषाओके भिन्न-भिन्न क्रमसे उलटे-सीधे नम्बरों- के साथ इत्दोंको याद रखकर वाक्य वनाते जाना, दो कोठोंमें लिखे हुए उल्टे-सीधे अक्षरोसे कविता करते जाना, कितने ही अलंकारोंका विचार करते जाना, इत्यादि सौ कामोंको एक ही साथ कर सकते थे।

श्रीमद्जीकी स्पर्शनशक्ति भी अत्यन्त विलक्षण थी। उपरोक्त सभामे ही उन्हे भिन्न-भिन्न प्रकारके वारह ग्रन्थ दिये गये और उनके नाम भी उन्हे पढ़कर सुना दिये गये। वादमे उनकी आँखोंपर पट्टी वॉधकर जो-जो ग्रन्थ उनके हाथपर रखे गये उन सव ग्रन्थोंके नाम हाथोंसे टटोलकर उन्होंने बता दिये।

श्रीमद्जीकी इस अद्भुत्तजिक्ते प्रभावित होकर उस समयके वम्बई हाइकोर्टके मुख्य न्याया-धीश सर चार्ल्स सारजटने उन्हें विलायत चलकर अवधान-प्रयोग दिखानेकी इच्छा प्रगट की थी, परन्तु श्रीमद्जीने इसे स्वीकार नहीं किया। उन्हें कीर्तिकी इच्छा नहीं थी, विल्क ऐसी प्रवृत्तियोंको आत्मकल्याणके मार्गमें वाधक जानकर फिर उन्होंने अवधान-प्रयोग नहीं किये। महात्मा गाँधीने कहा था—

महात्मा गाँधीने उनकी स्मरणशक्ति और आत्मज्ञानसे जो अपूर्व प्रेरणा प्राप्त की वह सक्षेप-मे उन्होंके शब्दोमे—

''रायचन्द्रभाईके साथ मेरी भेट जुलाई सन् १८९१ मे उस दिन हुई जब मै विलायतसे बम्बई वापस लीटा । इन दिनो समुद्रमे तूफान आया करता है इस कारण जहाज रातको देरीसे पहुँचा । मै डाक्टर वैरिस्टर और अब रंगूनके प्रख्यात जौहरी प्राणजीवनदास महेताके घर उतरा था। रायचन्द्रभाई उनके बड़े भाईके जमाई होते थे। डॉक्टर सा० (प्राणजीवनदास) ने ही परिचय कराया । उनके दूसरे बड़े भाई झवेरी रेवाशकर जगजीवनदासकी पहचान भी उसी दिन हुई। डॉक्टर सा० ने रायचन्द्रभाईका 'कवि' कहकर परिचय कराया और कहा 'कवि' होते हुए भी आप हमारे साथ व्यापारमे है, आप ज्ञानी और शतावधानी है। किसीने सुचना की कि मै उन्हे कूछ शब्द मुनाऊँ, और वे शब्द चाहे किसी भी भाषाके हो जिस क्रमसे मै वोलूँगा उसी क्रमसे वे दूहरा जावेंगे, मुझे यह सूनकर आश्चर्य हुआ । मै तो उस समय जवान और विलायतसे लौटा था, मुझे भाषाज्ञानका भी अभिमान था । मुझे विलायतकी हवा भी कम नही लगी थी । उन दिनों विलायतसे आया मानो आकाशसे उतरा था ! मैने अपना समस्त ज्ञान उलट दिया और अलग-अलग भाषाओंके शब्द पहले तो मैने लिख लिये, क्योंकि मुझे वह क्रम कहाँ याद रहनेवाल। था ? और वादमे उन शब्दोंको मै बॉच गया। उसी क्रमसे रायचदभाईने धीरेसे एकके बाद एक सब शब्द कह सुनाये। मैं राजी हुआ, चिकत हुआ और कविकी स्मरणशिक्तके विषयमें मेरा उच्च विचार हुआ । विलायत-की हवाका असर कम पड़नेके लिए यह सुन्दर अनुभव हुआ कहा जा सकता है।"" कविके साथ यह परिचय बहुत आगे बढा " "कवि संस्कारी ज्ञानी थे।

मुझपर तीन पुरुषोने गहरा प्रभाव डाला है—टाल्सटॉय, रिस्कन और रायचंदभाई! टाल्सटॉयने अपनी पुस्तको द्वारा और उनके साथ थोड़े पत्र-व्यवहारसे, रिस्कनने अपनी एक ही पुस्तक 'अन्टु दिस लास्ट' से—जिसका गुजराती नाम मैने 'सर्वोदय' रखा है, और रायचंद्रभाईने अपने गाढ परिचयसे। जब मुझे हिन्दूधमेंमें शका पैदा हुई उस समय उसके निवारण करनेमे मदद करनेवाले रायचंद्रभाई थे। सन् १८९३ मे दक्षिण अफीकामें मै कुछ क्रिश्चियन सज्जनोंके विशेष सम्पर्कमें

आया । उनका जीवन स्वच्छ था । वे नुस्त धर्मातमा थे । अन्य-विमयोंको क्रिक्वियन होनेके लिए समझाना उनका मुख्य व्यवसाय था । यद्यपि मेरा और उनका सम्बन्ध व्यावहारिक कार्यको लेकर ही हुआ था, तो भी उन्होंने मेरे आत्माके कल्याणके लिये चिन्ता करना ग्रुष्ट कर दिया । उस समय मेअपनाएक ही कर्तव्य समझ सका कि जब तक में हिन्दूधमंके रहस्यको पूरी तीरसे न जान लूँ और उससे मेरेआत्माको असतोप न हो जाय, तब तक मुझे अपना कुलवर्म कभी नहीं छोड़ना चाहिए। इसलिए मेने हिन्दूधमं और अन्य धर्मोंकी पुस्तकें पढना श्रुष्ट कर दी । किश्चियन और इस्लामधर्मकी पुस्तकें पढी । विलायतसे अँग्रेज मित्रोंके साथ पत्रव्यवहार किया । उनके समक्ष अपनी गकाएँ रवकी तथा हिन्दुस्थानमे जिनके कपर मुझे कुछ भी श्रद्धा थी उनसे पत्रव्यवहार किया । उनमें रायचन्दभाई मुख्य थे । उनके साथ तो मेरा अच्छा सम्बन्ध हो चुका था, उनके प्रति मान भी था, इसलिए उनसे जो भी मिल सके उसे लेनेका मेने विचार किया । उसका फल यह हुआ कि मुझे जानित मिली । हिन्दूधमें मुझे जो चाहिए वह मिल सकता है, ऐसा मनको विश्वास हुआ । मेरी इस स्थितिके जिम्मेदार रायचन्दभाई हुए, इससे मेरा उनके प्रति कितना अधिक मान होना चाहिए इसका पाठक लोग अनुमान कर सकते हैं।"

इस प्रकार उनके प्रवल आत्मज्ञानके कारण ही महात्मा गावीको संतोप हुआ और उन्होने धर्मपरिवर्तन नहीं किया ।

और भी वर्णन करते हुए गाधीजीने उनके वारेमे लिखा है:

"श्रीमद्राजचन्द्र असाधारण व्यक्ति थे। उनके लेख उनके अनुभवके विन्दु समान है। उन्हें पढ़नेवालें, विचारनेवालें और उसके अनुसार आचरण करनेवालोंको मोक्ष सुलभ होवे। उसकी कथायें मन्द पड़े, उसे संसारमे उदासीनता आवे, वह देहका मोह छोड़कर आत्मार्थी वने।

इसपरसे वाचक देखेंगे कि श्रीमद्के लेख अधिकारीके लिए उपयोगी हैं। सभी वाचक उसमें रस नहीं ले सकते। टीकाकारको उसकी टीकाका कारण मिलेगा परन्तु श्रद्धावान तो उसमेसे रस ही लूटेगा। उनके लेखोंमें सन् निथर रहा है, ऐसा मुझे हमेगा भास हुआ है। उन्होंने अपना ज्ञान दिखानेके लिए एक भी अक्षर नहीं लिखा। लिखनेका अभिप्राय वाचकको अपने आत्मानन्दमें भागीदार बनानेका था। जिसे आत्मवलेश टालना है, जो अपना कर्तव्य जाननेको उत्सुक है उसे श्रीमद्के लेखोंमेंसे बहुत मिल जायगा ऐसा मुझे विख्वास है फिर भले वह हिन्दू हो या अन्य धर्मी।

" जो वैरान्य (अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ?) इस काव्यकी कड़ियोंमे झलक रहा है वह मैंने उनके दो वर्षके गाढ परिचयमे प्रतिक्षण उनमें देखा था। उनके लेखोकी एक असाधारणता यह है कि स्वय जो अनुभव किया वही लिखा है। उसमें कही भी कृत्रिमता नहीं है। दूसरे पर प्रभाव डालनेके लिये एक पिक भी लिखी हो ऐसा मैने नहीं देखा " ।

खाते, बैठते, सोते, प्रत्येक क्रिया करते उनमें वैराग्य तो होता ही । किसी समय इस जगत्के किसी भी वैभवमें उन्हें मोह हुआ हो ऐसा मैने नही देखा।

उनकी चाल घीमी थी, और देखनेवाला भी समझ सकता कि चलते हुए भी ये अपने विचार-मे ग्रस्त है। ऑखोमे चमत्कार था अत्यन्त तेजस्वी, विह्वलता जरा भी नहीं थी। दृष्टिमे एकाग्रता थी। चेहरा गोळाकार, होठ पहले, नाक नोकदार भी नहीं, चपटी भी नहीं; अरीर इकहरा, कद

श्रीमद्जी हारा म० गाधीको उनके प्रश्नोके उत्तरमे लिखे गये कुछ पत्र, क्र० ५३०,५७०,७१७ 'श्रीमद्
राजचन्द्र'—ग्रथ (गुजराती)

मध्यम, वर्ण स्थाम, देखाव शांत मूर्तिका-सा था। उनके कष्ठमें इतना अधिक माधुर्य था कि उन्हें सुनते हुए मनुष्य थके नही। चेहरा हँसमुख और प्रफुल्लित था, जिसपर अन्तरानन्दकी छाया थी। भाषा इतनी परिपूर्ण थी कि उन्हें अपने विचार प्रगट करनेके लिये कभी गव्द ढूँढना पड़ा है, ऐसा मुझे याद नही। पत्र लिखने वैठें उस समय कदाचित ही मैने उन्हें शव्द वदलते देखा होगा, फिर भी पढ़नेवालेको ऐसा नही लगेगा कि कही भी विचार अपूर्ण है या वाक्य-रचना खंडित है, अथवा शब्दोके चुनावमे कमी है।

यह वर्णन संयमीमें संभिवत है। वाह्याडम्बरसे मनुष्य वीतरागी नही हो सकता। वीत-रागता आत्माकी प्रसादी है। अनेक जन्मके प्रयत्नसे वह प्राप्त होती है और प्रत्येक मनुष्य उसका अनुभव कर सकता है। रागभावको दूर करनेका पुरुपार्थ करनेवाला जानता है कि रागरिहत होना कितना कठिन है। यह रागरिहत दशा किव (श्रीमद्) को स्वाभाविक थी, ऐसी मेरे ऊपर छाप पड़ी थी।

मोक्षकी प्रथम पेड़ी वीतरागता है। जवतक मन जगत्की किसी भी वस्तुमें फॅक्षा हुआ है तवतक उसे मोक्षकी वात कैसे रुवे ? और यदि रुवे तो वह केवल कानको ही—अर्थात् जैसे हम लोगोको अर्थं जाने या समझे विना किसी सगीतका स्वर रुव जाय वैसे। मात्र ऐसी कर्णप्रिय क्रीड़ामेसे मोक्षका अनुसरण करनेवाले आचरण तक आनेमें तो वहुत समय निकल जाय! अतरग वैराग्यके विना मोक्षकी लगन नहीं होती। वैराग्यका तीव्र भाव कविमे था।

ं व्यवहारकुशलता और धर्मपरायणताका जितना उत्तम मेल मैने कविमे देखा उत्तना किसी अन्यमें नही देखा।"

गृहस्थाश्रम

सं० १९४४ माघ सुदी १२ को १९ वर्षकी आयुमे उनका पाणिग्रहणसंस्कार, गांधीजीके परमित्र स्व० रेवाशकर जगजीवनदास महेताके बड़े भाई पोपटलालकी पुत्री झवकबाईके साथ हुआ था। इसमे दूसरोंकी 'इच्छा' और 'अत्यन्त आग्रह' ही कारणरूप प्रतीत होते हैं। पूर्वोपाजित कर्मोंका भोग समझकर ही उन्होंने गृहस्थाश्रममे प्रवेश किया, परन्तु इससे भी दिन-पर-दिन उनकी उदासीनता और वैराग्यका वल बढता ही गया। आत्मकल्याणके इच्छुक तत्त्वज्ञानी पुरुषके लिए विपम परिस्थितयाँ भी अनुकूल वन जाती है, अर्थात् विषमतामे उनका पुरुषार्थ और भी अधिक निखर उठता है। ऐसे ही महात्मा पुरुष दूसरोंके लिये भी मार्ग प्रकाशक—दीपकका कार्य करते है।

श्रीमद्जी गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी अत्यन्त उदासीन थे। उनकी दशा, छहडालाकार प॰ दोलतरामजीके शब्दोमे 'गेही पै, गृहमे न रचं ज्यौ जलते भिन्न कमल है'—जैसी निर्लेप थी। उनकी इस अवस्थामे भी यही मान्यता रही कि ''कुटुम्बरूपी काजलकी कोठड़ीमे निवास करनेसे संसार वहता है। उसका कितना भी सुधार करो तो भी एकान्तवाससे जितना ससारका क्षय हो सकता है उसका शताश भी उस काजलकी कोठड़ीमे रहनेसे नहीं हो सकता, क्योंकि वह कथायका निमित्त है और अनादिकालसे मोहके रहनेका पवंत है'।'' फिर भी इस प्रतिकूलतामें वे अपने परिणामोकी पूरी सँभाल रखकर चले। यहाँ उनके अन्तरके भाव एक मुमुक्षको लिखे गये पत्रमे इस प्रकार ब्यक्त हुए हैं—'ससार स्पष्ट प्रीतिसे करनेकी इच्छा होती हो तो उस पुरुपने ज्ञानीके

१. देखिये---'श्रीमद्राजचन्द्र' (गुजराती) पत्र-क्र० ३०.

२. 'श्रीमदराजचन्द्र' (गुजराती) पत्र-फ्र० १०३.

वचन सुने नहीं अथवा ज्ञानीके दर्शन भी उमने किये नहीं ऐसा तीर्थकर कहते हैं।' 'झानी पुरुषके वचन सुननेके बाद स्त्रीका सजीवन कारीर अजीवनरूप भास्यमान हुए विना रहें नहीं'।' उससे स्पष्ट प्रगट होता है कि वे अत्यन्त वैरागी महापुरुष थे।

सफल व्यापारी

व्यापारिक झंझट और धर्मसाधनाका मेल प्राय. कम वैठता है, पग्नु आपका धर्म—आत्मिन्तन तो साथमे ही चलता था। वे कहते थे कि धर्मका पालम कुछ एकादशीके दिन ही, पर्यूपणमें ही अथवा मन्दिरोंमे ही और दुकान या दरवारमे न हो ऐसा कोई नियम नहीं, बिल्क ऐसा कहना धर्मतत्त्वको न पहचाननेके तुल्य है। श्रोमद्जीके पारा दुकान पर कोई न कोई वार्मिक पुस्तक और दैनन्दिनी (डायरी) अवक्य होती थी। व्यापारकी बात पूरी होते ही फीरन धार्मिक पुस्तक खुलती या फिर जनकी वह डायरी कि जिसमें कुछ न कुछ मनके विचार वे लिखते ही रहते थे। जनके लेखोका जो संग्रह प्रकाणित हुआ है उसका अधिकाल भाग उनकी 'नोंघपोथी'मेंसे लिया गया है।

श्रीमद्जी सर्वाधिक विज्वासपात्र व्यापारीके रूपमे प्रसिद्ध थे। वे अपने प्रत्येक व्यवहारमें सम्पूर्ण प्रामाणिक थे। इतना वडा व्यापारिक काम करते हुए भी उसमे उनकी आसिक नहीं थी। वे बहुत ही सन्तोपी थे। रहन-सहन पहरवेश सादा रखते थे। धनकों तो वे 'उच्च प्रकारके कंकर' मात्र समझते थे।

एक अरव ज्यापारी अपने छोटे भाईके साथ वस्त्रईमें मोतियोंकी आढ़तका काम करता था। एक दिन छोटे भाईने सोचा कि मैं भी अपने वड़े भाईकी तरह मोतीका व्यापार करूँ। वह परदेशसे आया हुआ माल लेकर वाजारमे गया। वहाँ जाने पर एक दलाल उसे श्रीमद्जीकी दुकानपर लेकर पहुँचा। श्रीमद्जीने माल अच्छी तरह परखकर देखा और उसके कहे अनुसार रकम चुकाकर ज्योका त्यौ माल एक और उठाकर रख दिया। उघर घर पहुँचकर बड़े भाईके आनेपर छोटे भाईने व्यापारकी वात कह सुनाई। अब जिस व्यापारीका वह माल था उसका पत्र इस अरव व्यापारीके पास जसी दिन आया था कि अमुक भावसे नीचे माल मत बेचना। जो भाव उसने लिखा था वह चालू वाजार-भावसे बहुत ही ऊँचा था। अब यह व्यापारी तो घबरा गया वयोकि इसे इस सीदेमें बहुत अधिक नुकसान था। वह कोघमें आकर वोल उठा—'अरे! तूने यह क्या किया? मुझे तो दिवाला ही निकालना पड़ेगा!'

अरव-व्यापारी हॉफता हुआ श्रीमद्जीके पास दोड़ा हुआ आया और उस व्यापारीका पश्र पढवाकर कहा—'साहब, मुझ पर दया करो, बरना मैं गरीब आदमी बरबाद हो जाऊँगा।' श्रीमद्जीने एक और ज्यो का त्याँ वँधा-हुआ माल दिखाकर कहा—'भाई, तुम्हारा माल यह रक्खा है। तुम खुशीसे ले जाओ।' यौ कहकर उस व्यापारीका माल उसे दे दिया और अपने पैसे ले लिये। मानो कोई सौदा किया ही नहीं था, ऐसा सोचकर हजारोंके लाभकी भी कोई परवाह नहीं की। अरव-व्यापारी उनका उपकार मानता हुआ अपने घर चला गया। यह अरव व्यापारी श्रीमद्को खुदाके पैगम्बरके समान मानने लगा।

व्यापारिक नियमानुसार सौदा निश्चित हो चुकने पर वह व्यापारी माल वापस लेनेका

१ 'श्रीमद्राजचन्द्र' (गुजराती) पत्र-क्र० ४५४.

२. 'ऊँची जातना काकरा'

अधिकारी नही था, परन्तु श्रीमद्जीका हृदय यह नहीं चाहता था कि किसीको उनके द्वारा हानि हो। सचमुच महात्माओंका जीवन उनकी कृतिमें व्यक्त होता ही है।

इसी प्रकारका एक दूसरा प्रसंग उनके करुणामय और निस्पृही जीवनका ज्वलन्त उदा-हरण है:

एक बार एक ब्यापारीके साथ श्रीमद्कीने हीरोंका सौदा किया। इसमें ऐसा तय हुआ कि अमुक समयमें निह्चित किये हुये भावसे वह व्यापारी श्रीमद्को अमुक हीरे दे। इस विषयकी चिट्ठी भी ब्यापारीने लिख दी थी। परन्तु हुआ ऐसा कि मुद्दतके समय उन हीरोंकी कीमत बहुत श्रीक बढ़ गई। यदि व्यापारी चिट्ठीके अनुसार श्रीमद्को हीरे दे, तो उस बेचारेको बड़ा भारी नुकसान सहत करना पड़े: अपनी सभी सम्पत्ति बेच देनी पढ़ें। श्रव क्या हो ?

इधर जिस समय श्रीमद्जीको हीरोंका बाजार-भाव मालूम हुआ, उस समय वे बीछ ही उस व्यापारीको दुकानपर जा पहुंचे। श्रीमद्जीको अपनी दुकानपर आये देखकर व्यापारी घद-राहटमें पड़ गया। वह गिड़ीमडाते हुए बोला—'रायचंदभाई, हम लोगोंके बीच हुए सौदेके सम्बन्धमें मैं खूव ही चिन्तामें पड़ गया हूँ। मेरा जो कुछ होना हो बहु भले हो, परन्तु आप विश्वास रखना कि मैं आपको आजके बाजार-भावसे सौदा चुका दूँगा। आप जरा भी चन्तान करें।'

यह सुनकर राजचन्द्रजो करुणाभरी आवाजमें बोलें ' 'वाह ! माई, वाह ! मै चिन्ता क्यों न करूँ ? तुमको सौदेकी चिन्ता होती हो तो मुझे चिन्ता क्यों न होनी चाहिये ? परन्तु हम दोनोंकी चिन्ताका मूल कारण यह चिट्ठी ही है न ? यदि इसको ही फाड़कर फेक दे तो हम दोनोंकी चिन्ता मिट जायगी ।"

यों कहकर श्रीमद् राजचन्द्रने सहजभावसे वह दस्तावेज फाड डाला । तत्परचात् श्रीमद्जी बोले. "भाई इस चिट्टोके कारण तुम्हारे हाथपाँव विधे हुए थे । बाजारमाव वढ़ जानेसे तुमसे मेरे साठ-सत्तर हजार रुपये लेना निकलते हैं, परन्तु में तुम्हारी स्थिति समझ सकता हूँ । इतने अधिक रुपये मैं तुमसे लूँ तो तुम्हारी क्या दशा हो ? परन्तु राजचन्द्र दुध पी सकता है, खून नहीं!"

वह व्यापारी कृतज्ञ-भावसे श्रीमङ्की ओर स्तव्य होकर देखता ही रहा ।

भविष्यवक्ता, निमित्तज्ञानी

श्रीमद्बीका ज्योतिष-सम्बन्धी ज्ञान भी प्रखर था। वे जन्मकुंडली, वर्षफल एवं अन्य चिह्न देखकर भविष्यकी सूचना कर देते थे। श्रीजूठाभाई (एक मुमुखु) के मरणके बारेसे उन्होंने रा मास पूर्व स्पष्ट वता दिया था। एक वार सं० १९५५ की चैत्र वदी ८ को मोरवीमे दोपहरके ४ वजे पूर्वदिशाके आकाशमे काले वादल देखे और उन्हें दुष्काल पड़नेका निमित्त जानकर उन्होंने कहा कि 'ऋतुको सिलात हुआ है।' इस वर्ष १९५५ का चोमासा कोरा रहा—वर्षा नहीं हुई और १९५६ से भयंकर दुष्काल पड़ा। वे दूसरेके मनकी वातको भी सरलतासे जान लेते थे। यह सब उनकी निर्मल बारसवास्तिका प्रभाव था।

कदि-लेखक

श्रीमद्जीमें, अपने विचारोंकी अभिव्यक्ति पद्यरूपमें करनेकी सहज क्षमता थी। उन्होंने सामाजिक रचनाओंमे—'स्त्रीनीतिवोधक', 'सद्बोधवतक', 'आर्य प्रजानी पडती', 'हुन्नरकला वया-

१. देखिये-दैनिक नोघसे लिया गया कथन, पत्र ऋ० ११६, ११७ ('श्रीमद्राजचन्द्र' गुजराती).

रवा विपे', 'सद्गुण, सुनीति, सत्य विपे' आदि अनेक रचनाएँ केवल ८ वर्षकी वयमें लिखी थी, जिनका एक संग्रह प्रकाशित हुआ है। ९ वर्षकी आयुमे उन्होंने रामायण और महाभारतकी भी पद्य-रचना की थी जो प्राप्त नहीं हो राकी। इसके अतिरिक्त जो उनका मूल विषय आत्मज्ञान था उसमें उनकी अनेक रचनाएँ है। प्रमुखरूपसे 'आत्मिसिद्धि' (१४२ दोहे), 'अमूल्य तत्त्वविचार' 'भिवतना वीस दोहरा', 'ज्ञानमीमांसा', 'परमपदप्राप्तिनी भावना' (अपूर्व अवसर), 'मूलमार्ग रहस्य', 'जिनवाणीनी स्तुति', 'वारह भावना' और 'तृष्णानी विचित्रता' है। अन्य भी बहुत-सी रचनाएँ है जो भिन्त-भिन्न वर्षोमें लिखी है।

'आत्मसिद्धि'—शास्त्रकी रचना तो आपने मात्र डेढ घटेमे, श्री सीभागभाई, डूंगरभाई आदि मुमुक्षु ओके हितार्था निष्ठयादमे आदिवन वदी १ (गुजराती) गुरुवार सं० १९५२ को २९ वें वर्षमें लिखी थी। यह एक, निस्सदेह धर्ममार्गकी प्राप्तिमे प्रकाशरूप अद्भृत रचना है। अंग्रेगीमे भी इसके गद्य-पद्यात्मक अनुवाद प्रगट हो चुके हैं।

गद्य-लेखनमे श्रीमद्जीने 'पुष्पमाला', 'भावनावोव' और 'भोक्षमाला' की रचना की । यह सभी सामग्री पठनीय-विचारणीय है। 'मोक्षमाला' उनकी अत्यन्त प्रसिद्ध रचना है, जिसे उन्होंने केवल १६ वर्ष ५ मासकी आयुमे मात्र ३ दिनमें लिखी थी। इसमे १०८ पाठ है। कथनका प्रकार विवाल और तत्त्वपुर्ण है।

उनकी अर्थ करनेकी शक्ति भी वडी गहन थी। भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यके 'पचास्तिकाय'-ग्रन्थकी मूल गाथाओका उन्होने अविकल गुजराती अनुवाद किया है।'

सहिप्णुता

विरोधमे भी सहननील होना महापुरुषोका स्वाभाविक गुण है। यह वात यहाँ घटित होती है। जैन समाजके कुछ लोगोने उनका प्रवल विरोध किया, निन्दा की, फिर भी वे बटल जात और मीन रहे। उन्होंने एक वार कहा या 'दुनिया तो सदा ऐसी ही है। ज्ञानियोंको, जीवित हों तव कोई पहचानता नहीं, वह यहाँ तक कि ज्ञानीके सिर पर लाठियोंकी मार पड़े यह भी कम, और ज्ञानीके मरनेके वाद उसके नामके पत्थरकों भी पूजे!'

एकान्तचर्या

मोहमयी (वम्बई) नगरीमे व्यापारिक काम करते हुए भी श्रीमद्जी ज्ञानाराधना तो करते ही रहते थे। यह उनका प्रमुख और अनिवार्य कार्य था। उद्योग-रत जीवनमे शात और स्वस्थ चित्तसे चुपचाप आत्म-साधना करना उनके लिये सहज हो चला था, फिर भी वीच-बीचमे विशेष अवकाश लेकर वे एकान्त स्थान, जगल या पर्वतोमे पहुच जाते थे। वे किसी भी स्थानपर वहुत गुप्तस्पसे जाते थे। वे नही चाहते थे कि किसीके परिचयमे आया जाय, फिर भी उनकी सुगन्धी छिप नही पातो थी। अनेक जिज्ञासु-भ्रमर उनका उपदेश, धर्मवचन सुननेकी इच्छासे पीछे-पीछे कही भी पहुँच ही जाते थे और सत्समागमका लाभ प्राप्त कर लेते थे। गुजरातके चरोतर, ईडर आदि प्रदेशमे तथा सीराष्ट्र-क्षेत्रके अनेक शान्तस्थानोमे उनका गमन हुआ। आपके समागमका

१. 'आत्मिसिद्धि' के अग्रेजी अनुवादमें Atmasiddhi, Self Realization और Self Fulfilment प्रगट हुए हैं | संस्कृत-छाया भी छपी हैं |

२ देखिये—'श्रीमद्राजचन्द्र' गुज० पत्राक ७६६ । उनको सभी प्रमुख-सामग्रीका सकलन 'श्रीमद्राजचन्द्र'-ग्रन्थमे किया गया है ।

विशेष लाभ जिन्हें मिला उनमें मुनिश्री लल्लुजी (श्रीमद्ल्यपुराजस्वामी), मुनिश्री देवकरणजी तथा सायलाके श्रीसीभागभाई, अम्बालालभाई (खंभात), जूठाभाई (अहमदावाद) एवं डूंगरभाई मुख्य थे।

एक वार श्रीमद्जी सं॰ १९५५ में जब कुछ दिन ईंडरमें रहे तब उन्होंने डॉ॰ प्राणजीवनदास मेहता (जो उस समय ईंडर स्टेटके चीफ मेडिकल ऑफीसर थे और सम्बन्धकी दृष्टिसे उनके श्वसुरके भाई होते थे) से कह दिया था कि उनके आनेकी किसीको खबर न हो। उस समय वे नगरमे केवल भोजन लेने जितने समयके लिए ही स्कते, शेष समय ईंडरके पहाड़ और जंगल-में बिताते।

मुनिश्री लत्लुजी, श्रीमोहनलालजी तथा श्री नरसीरखको उनके वहाँ पहुँचनेके समाचार मिल गये । वे शीघ्रतासे ईडर पहुँचे । श्रीमद्जीको उनके आगमनका समाचार मिला । उन्होंने कहलवा दिया कि मुनिश्री वाहरसे वाहर जंगलमें पहुँचे—यहाँ न आवे । साधुगण जंगलमे चले गये । वादमें श्रीमद्जी भी वहाँ पहुँचे । उन्होंने मुनिश्री लल्लुजीसे एकांतमे अचानक ईडर आनेका कारण पूछा। मुनिश्रीने उत्तरमें कहा कि 'हम लोग अहमदाबाद या खंभात जानेवाले थे, यहाँ निवृत्ति क्षेत्रमें आपके समागममें विशेष लाभकी इच्छासे इस ओर चले आये । मुनि देवकरणजी भी पीछे आते हैं।' इसपर श्रीमद्जीने कहा—'आप लोग कल यहाँसे विहार कर जावे, देवकरणजीको भी हम समाचार भिजवा देते हैं वे भी अन्यत्र विहार कर जावेगे । हम यहाँ गुप्तरूपसे रहते हैं—किसीके परिचयमें आनेकी इच्छा नहीं है।'

श्री लल्लुजो मुनिने नम्र-निवेदन किया— 'आपकी आजानुसार हम चले जावेगे परन्तु मोहनलालजी और नरसीरख मुनियोंको आपके दर्शन नहीं हुये हैं, आप आज्ञा करें तो एक दिन स्ककर चले जावें। श्रीमद्जीने इसकी स्वीकृति दी। दूसरे दिन मुनियोंने देखा कि जंगलमें आम्र-वृक्षके नीचे श्रीमद्जीन प्राकृतभापाकी *गाथाओंका तन्मय होकर उच्चारण कर रहे हैं। उनके पहुँचनेपर भी आधा घण्टे तक वे गाथाएँ वोलते ही रहे और ध्यानस्थ हो गए। यह वातावरण देखकर मुनिगण आत्मविभोर हो उठे। थोड़ी देर वाद श्रीमद्जी ध्यानसे उठे और 'विचारना' इतना कहकर चलते वने। मुनियोंने विचारा कि लघुशकादि निवृत्तिके लिए जाते होगे परन्तु वे तो निस्पृहरूपसे चले ही गये। थोड़ी देर इधर-उधर ढूँहकर मुनिगण उपाथयमे आ गये।

उसी दिन शामको मुनि देवकरणजी भी वहाँ पहुँच गये। सभीको श्रीमद्जीने पहाड़के ठपर स्थित दिगम्बर, श्वेताम्बर मन्दिरोके दर्शन करनेकी आज्ञा दी। वीतराग-जिनप्रतिमाके दर्शनोंसे मुनियोंको परम उल्लास जाग्रत हुआ। इसके पश्चात् तीन दिन और भी श्रीमद्जीके सत्समागमका

१. मा मुज्जह मा रज्जह मा दुस्सह इठ्ठणिट्ठलत्येसु ।
 थिरमिच्छह जइ चित्तं विचित्तज्ञाणप्यसिद्धीए ॥ ४८ ॥
 २. जं किनि वि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साह ।

लद्भूणय एयत्तं तदाहु तं णिच्चयं उदाणं॥ ५५॥

मा चिट्ठह मा लंपह मा चितह कि वि जेण होइ थिरो ।
 अप्पा अप्पिम रलो इणमेव पर हवे ज्ञाण ॥ ५६ ॥
 (द्रव्यसंग्रह)

[—]शीमद्जीने गह 'वृहद्दव्यसंगह'-गन्य ईडरके दि० जैन शास्त्र-गणारमेंने स्वयं निवजवामा पा ।

लाभ उन्होंने उठाया । जिसमें श्रीमद्जीने उन्हें 'द्रव्यसंग्रह' और 'आत्मानुशासन'—ग्रंथ पूरे पढकर स्वाध्यायके रूपमें सुनाये । एक अन्य भी कल्याणकारी बोध दिया ।

अत्यन्त जाग्रत आत्मा ही परमात्मा वनता है, परम वीतरागदजाको प्राप्त होता है । इन्हीं अन्तरमावोके साथ आत्मस्वरूपको ओर लक्ष्य कराते हुए एक वार श्रोमद्जीने अहमदाबादमे मुनिश्री लल्लुजी (पू० लघुराजस्वामी) तथा श्रोदेवकरणजीको कहा था कि 'हममे और वोतरागमें भेद गिनना नहीं' हममे और श्री महावीर भगवान्मे कुछ भी अत्तर नहीं, कैवल इस कुत्तेंका फेरहैं। मत-मतान्तरके आग्रहसे दूर

जनका कहना था कि मत-मतान्तरके आग्रहसे दूर रहनेपर ही जीवनमें रागद्वेषसे रहित हुआ जा सकता है । मतोके आग्रहसे निज स्वभावरूप आत्मधर्मकी प्राप्ति नही हो सकती । किसी भी जाति या वेषके साथ भी घर्मका सम्बन्ध नही ।

> "जाति वेषनो भेद नहि, कह्यो मार्ग जो होय। साघे ते मुक्ति लहे, एमां भेद न कोय॥"

> > (आत्मसिद्धि १०७)

—जो मोक्षका मार्ग कहा गया है वह हो तो किसी भी जाति या वेपसे मोक्ष होने, इसमें कुछ भेद नहीं है। जो साधना करें वह मुक्तिपद पावे।

आपने लिखा है—''मूलतत्त्वमें कही भी भेद नही है। मात्र दृष्टिका भेद है ऐसा मानकर

आशय समझकर पवित्र धर्ममे प्रवृत्ति करना।" (पुष्पमाला १४, पृ० ४)

''तू चाहे जिस धर्मको मानता हो इसका मुझे पक्षपात नही, मात्र कहनेका तात्पर्य यही कि जिस मार्गेसे ससारमलका नाश हो उस भक्ति, उस धर्म और उस सदाचारका तू सेवन कर । '(पु॰ मा॰ १५, पृ॰ ४)

"दुनिया मतभेदके बधनसे तत्त्व नही पा सकी !" (पत्र-क्र० २७)

उन्होंने प्रीतम, अखा, छोटम, कबीर, सुन्दरदास, सहजानन्द, मुक्तानन्द, नर्रासह महेता आदि सन्तोकी वाणीको जहाँ-तहाँ आदर दिया है और उन्हे मार्गानुसारी जीव (तत्त्वप्राप्तिके योग्य आत्मा) कहा है। इसिलए एक जगह उन्होंने अत्यन्त मध्यस्थतापूर्वक आध्यात्मिक-दृष्टि प्रकट की है कि 'मैं किसी गच्छमे नहीं, परन्तु आत्मामे हूँ।'

एक पत्रमे आपने दर्शाया है—"जब हम जैनशास्त्रोको पढ़नेके लिए कहे तब जैनी होनेके लिए नहीं कहते, जब बेदान्तशास्त्र पढ़नेके लिए कहे तो बेदान्ती होनेके लिए नहीं कहते। इसीप्रकार अन्य शास्त्रोको बॉचनेके लिए कहे तब अन्य होनेके लिए नहीं कहते। जो कहते हैं वह केवल तुम सब लोगोंको उपदेश—ग्रहणके लिए ही कहते हैं। जैन और बेदान्ती आदिके भेदका त्याग करो। आत्मा बैसा नहीं है।"

फिर भी अनुभवपूर्वक उन्होंने निग्नंथशासनकी उत्कृष्टताको स्वीकार किया है। अही । सर्वोत्कृष्ट शातरसमय सन्मागं, अहो ! उस सर्वोत्कृष्ट शातरसप्रधान मार्गके मूल सर्वज्ञदेव, अहो !

पक्षपातो न मे नीरे न होवः किपलादिषु । युक्तिमहचनं यस्य तस्य कार्य परिग्रह ॥ (हिरिभद्रसूरि)

१ देखिए इसी प्रकारके विचार-

२. 'श्रीमद्राजचन्द्र' (गुज०) पत्र-क्र० ३५८.

६. 'श्रीमदराजवन्द्र' विक्षापाठ ९५ (तत्त्वाववीघ १४) तथा पत्र-ऋ० ५९६.

र्जस सर्वोत्कृष्ट शांतरसकी सुप्रतीति करानेवाले परमकृपालु सद्गुरुदेव-इस विश्वमे सर्वकाल तुम जयवंत वर्तो । भ

दिनोंदिन और क्षण-क्षण उनकी वैराग्यवृत्ति वर्धमान हो चली। चैतन्यपूंज निखर उठा। वीतराग-मार्गकी अविरल उपासना उनका घ्येय बन गई। वे बढ़ते गये और सहजभावसे कहते गये--- "जहाँ-तहाँसे रागद्वेषसे रहित होना ही मेरा धर्म है।"

निर्मल सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिमें उनके उद्गार इस प्रकार निकले है-

ओगणीससे ने सुडतालीसे, समकित शुद्ध प्रकाश्युं रे, श्रुत अनुभव वघती दशा, निज स्वरूप अवभास्यं रे। धन्य रे दिवस आ अहो!

(हा. नो. श६३ क्र० ३२)

सोल्लास उपकार-प्रगटना

"है सर्वात्कृष्ट सुखके हेतुभूत सम्यग्दर्शन ! तुझे अत्यन्त भक्तिपूर्वक नमस्कार हो । इस अनादि अनन्त ससारमे अनन्त अनन्त जीव तेरे आश्रय विना अनन्त अनत दु.ख अनुभवते हैं। तेरे परमानू-ग्रहसे स्वस्वरूपमे रुचि हुई। परमवीतराग स्वभावके प्रति परम निरुचय आया। कृतकृत्य होनेका मार्ग ग्रहण हुआ।

हे जिन वीतराग ! तुम्हे अत्यन्त भक्तिसे नमस्कार करता हूँ । तुमने इस पामरपर अनंत

अनंत उपकार किया है।

हे कुन्दकुन्दादि आचार्यो !तुम्हारे वचन भीस्वरूपानुसंधानमेइम पामरको परम उपकारभत हुए है। इसके लिए मै तुम्हे अतिशय भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ।

हे श्री सोभाग । तेरे सत्समागमके अनुग्रहसे आत्मदशाका स्मरण हुआ। अतः तूझे नमस्कार करता हूँ।" (हा. नों. २/४५ क्र० २०)

परमनिवृत्तिरूप कामना । चिंतना

-उनका अन्तरङ्ग, गृहस्थावास-व्यापारादि कार्यसे छूटकर सर्वसंगपरित्याग कर निर्ग्रन्थद्शाके लिए छटपटाने लगा। उनका यह अन्तरआशय उनकी 'हाथनोघ' परसे स्पष्ट प्रगट होता है-

"हे जीव ! असारभूत लगनवाले ऐसे इस व्यवसायसे अब निवृत्त हो, निवृत्त ! उस व्यवसायके करनेमे चाहे जितना बलवान प्रारब्धोदय दीखता हो तो भी उससे निवृत्त हो निवत्त ! जो कि श्रीसर्वज्ञने कहा है कि चौदहवे गुणस्थानवर्ती जीव भी प्रारव्ध भोगे विना मुक्त नहीं हो सकता, फिर भी तू उस उदयके आश्रयरूप होनेसे अपना दोष जानकर उसका अत्यन्त तीवरूपमे विचारकर उससे निवृत्त हो, निवृत्त ! (हा॰ नो॰ १।१०१ क्र॰ ४४)

"हे जीव ! अब तू संग-निवृत्तिरूप कालकी प्रतिज्ञा कर, प्रतिज्ञा कर ! केवलसंगनिवत्तरूप प्रतिज्ञाका विशेष अवकाश दिखाई न दे तो अंशसंगनिवृत्तिरूप इस व्यवसायका त्याग कर ! जिस ज्ञानदशामे त्यागात्याग कुछ सम्भावित नही उस ज्ञानदशाकी सिद्धि है जिसमे ऐसा तू, सर्वसंगत्याग दशा अल्पकाल भी भोगेगा तो सम्पूर्ण जगत प्रसंगमे वर्तते हुए भी तुझे बाधा नहीं होगी, ऐसा

१. हाथनोध ३।५२ क्रम २३ 'श्रीमद्राजचन्द्र' (गुज०)।

२. 'पत्र क्र॰ ३७ 'श्रीमद्राजचन्द्र'।

होते हुए भी सर्वज्ञने निवृत्तिको ही प्रशस्त कहा है; कारण कि ऋषभादि सर्व परमपुरुषोने अन्तमें ऐसा ही किया है।" (हा नो १/१०२ क्र० ४५)

"राग, द्वेप और अज्ञानका आत्यतिक अभाव करके जो सहज शुद्ध आत्मस्वरूपमे स्थित हुए वही स्वरूप हमारे स्मरण, ध्यान और प्राप्त करने योग्य स्थान है।" (हानो २।३ क०१)

"सर्व परभाव और विभावसे व्यावृत्त, निज स्वभावके भान सहित, अवध्तुवत्-विदेहीवत् जिनकस्पीयत् विचरते पुरुष भगवानके स्वरूपका ध्यान करते हैं।" (हा नो ३/३७ क० १४)

''मैं एक हूँ, असँग हूँ, सर्व परभावसे मुक्त हूँ, असंख्यप्रदेशात्मक निजअवगाहनाप्रमाण हूँ । अजन्म, अजर, अमर, आश्वत हूँ । स्वपर्यायपरिणामी समयात्मक हूँ । शुद्ध चैतन्यमात्र निर्विकल्प दुष्टा हूँ । (हा. नों. ३।२९ क्र० ११)

"मै परमशुद्ध, अखंड चिद्धातु हूँ, अचिद्धातुके संयोगरसका यह आभास तो देखों ! आक्चर्यरूप, घटना है। कुछ भी अन्य विकल्पका अवकाश नही, स्थिति भी ऐसी ही है।" (हा॰ नो. २।३७ क० १७)

इसप्रकार अपनी आत्मद्याको सभालकर वे बढ़ते रहे। आपने सं॰ १९५६ में व्यवहार सम्बन्धी सर्व उपाधिसे निवृत्ति लेकर सर्वसगपरित्यागरूप दीक्षा धारण करनेकी माताजीसे आज्ञा भी ले ली थी। परन्तु उनका जारीरिक स्वास्थ्य दिन-पर-दिन विगडता गया। उदय वलवान है। शरीरको रोगने आ घेरा। अनेक उपचार करनेपर भी स्वास्थ्य ठीक नहीं हुआ। इसी विवशतामें उनके हृदयकी गभीरता वोल उठी "अत्यन्त त्वरासे प्रवास पूरा करना था, वहाँ वीचमें सहराका मरुस्थल आ गया। सिरपर बहुत बोझ था उसे आत्मवीयंसे जिसप्रकार अल्पकालमें सहन कर लिया जाय उस प्रकार प्रयत्न करते हुए, पैरोने निकाचित उदयरूप थकान ग्रहण की। जो स्वरूप है वह अन्यथा नहीं होता यही अद्भुत आक्चर्य है। अव्यावाध स्थिरता है ।"

अन्त समय

स्थिति और भी गिरती गई। शरीरका वजन १३२ पौडसे घटकर मात्र ४३ पौड रह गया। शायद उनका अधिक जीवन कालको पसन्द नहीं था। देहत्यागके पहले दिन शामको आपने अपने छोटे भाई मनसुखराम आदिसे कहा—"तुम निश्चित रहना, यह आत्मा शाश्वत है। अवश्य विशेष उत्तम गतिको प्राप्त होगा, तुम शान्ति और समाधिक्ष्पसे प्रवर्तना। जो रत्नमय ज्ञानवाणी इस देहके द्वारा कही जा सकती थी, वह कहनेका समय नही। तुम पुरुपार्थ करना।" रात्रिको २॥ वजे वे फिर वोले—'निश्चित रहना, भाईका समाधिमरण है। और अवसानके दिन प्रातः पौने नौ वजे कहा 'भनसुख, दुखी न होना, मै अपने आत्मस्वरूपमे लीन होता हूँ।' और अन्तमे उस दिन सं० १९५७ चैत्र वदी ५ (गुज०) मगलवारको दोपहरके दो बजे राजकोटमे उनका आत्मा इस नश्वर देहको छोडकर चला गया। भारतभूमि एक अनुपम तत्त्वज्ञांनी सन्तको खो वैठी।

उनके देहावसानके समाचार सुनकर मुमुक्षुओं चित्त उदास हो गये । वसत मुरझा गया । निस्संदेह श्रीमट्जी विश्वकी एक महान विभूति थे । उनका वीतरागमार्ग-प्रकाशक अनुपम वचनामृत आज भी जीवनको अमरत्व प्रदान करनेके लिए विद्यमान है । धर्मोजज्ञासु बन्धु उनके वचनोका लाभ उठावे ।

१. 'श्रीमद् राजचन्द्र' (गुज०) पत्र क्र० ९५१।

श्री लघुराजस्वामी (प्रमुश्री) ने जनके प्रति अपना हृदयोदगार इन शन्दोंमें प्रगट किया है: "अपरमार्थमें परमार्थके दृढ़ आग्रहरूप अनेक सूक्ष्म भूलभुलैयाँके प्रसम दिखाकर इस दासके दोष दूर करनेमें इन आप्त पुरुषका परम सत्संग तथा उत्तम वोध प्रबल उपकारक बने है।" "संजीवनी औषघ समान मतको जीवित करे ऐसे उनके प्रवल पुरुपार्थ जागृत करनेवाले वचनोंका माहात्म्य विशेष विशेष भास्यमान होनेके साथ ठेठ मोक्षमे ले जाय ऐसी सम्यक् समझ (दर्शन) उस पुरुष और उसके बोधकी प्रतीतिसे प्राप्त होती है; वे इस दुषम किकालमें आश्चर्यकारी अवलवन है।" "परम माहात्म्यवंत सद्गुरु श्रीमद् राजचन्द्रदेवके वचनोंमें तल्लीनता, श्रद्धा जिसे प्राप्त हुई है; या होगी उसका महद् भाग्य है। वह भव्य जीव अल्पकालमें मोक्ष पाने योग्य है।

उनको स्मृतिमे शास्त्रभालाको स्थापना

सं० १९५६ में व सत्श्रुतके प्रचार हेतु बम्बईमें श्रीमद् जीने परमश्रुतप्रभावकमण्डलकी स्थापना की थी। उसोके तत्त्वावधानमे उनकी स्मृतिस्वरूप श्रीरायचन्द्र जैन शास्त्रमालाकी स्थापना हुई। जिसकी ओरसे अब तक समयसार, प्रवचनसार, गोम्मटसार, स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, परमात्मप्रकाश और योगसार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, इष्टोपदेश, प्रश्मरितप्रकरण, न्यायावतार, स्याद्वादमञ्जरी, अष्टप्रामृत, सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र, ज्ञानार्णन, वृहद्द्रव्य संग्रह, पचास्तिकाय, लब्धसार-क्षपणासार, इत्यानुयोगतर्कणा, सप्तभगीतरिगणी, उपदेशख्याय और, आत्मसिद्धि, भावनाबोधमोक्षमाला, श्रीमद्राजचन्द्र आदि ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके है। वर्तमानमें संस्थाके प्रकाशनका सब काम अगाससे ही होता है। विक्रयकेन्द्र वम्बईमे भी पूर्वस्थानपर ही है। श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, अगाससे गुजरात्ती भाषामे अन्य भी उपयोगी ग्रन्थ छपे है।

वर्तमानमे निम्निलिखित स्थानोपर श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम व मन्दिर आदि संस्थाएँ स्थापित है, जहाँ पर मुमुक्षु-बन्धु मिलकर आत्मकल्याणार्थ वीतराग-तत्त्वज्ञानका लाभ उठाते हैं । वे स्थान है—अगास, ववाणिया, राजकोट, बड़वा, खंभात, काविठा, सीमरडा, भादरण, नार, सुणाव, नरोड़ा, सडोदरा, धामण, अहमदाबाद, ईडर, सुरेन्द्रनगर, वसो, वटामण, उत्तरसंडा, बीरसद, आहोर (राज०) हन्पी (दक्षिण भारत), इन्दौर (म०प्र०); बम्बई-घाटकोपर, देवलाली तथा मोम्बासा (आफ्रिका)।

अन्तमे, वीतराग-विज्ञानके निधान तीर्थंकरादि महापुरुषोद्वारा उपदिष्ट सर्वोपरि- आत्म-धर्मका अविरल प्रवाह जन-जनके अन्तरमें प्रवाहित हो, यही भावना है।

श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम स्टे० अगास, पो० वोरिया वाया. आणंद (गुजरात)

—बाबूलाल सिद्धसेन जैन





नमः सिद्धेभ्यः श्रीमत्पूज्यपादस्वामि-विरचित

इष्टोपदेश

श्रीपण्डित-आशाधरकृत संस्कृतटीका

और

भाषानुवाद सहित

9

उत्थानिका

टीकाकारका मंगलाचरण।

परमात्मानमानम्य, मुमुक्षुः स्वात्मसंविदे । इष्टोपदेशमाचष्टे, स्वशक्त्याशाधरः स्फुटम् ॥

तत्रादी यो यद्गुणार्थी स तद्गुणोपेतं पुरुपिकशेप नमस्करोतीति परमारमगुणार्थी श्रन्थकर्ता परमारमानं नमस्करोति, तद्ययाः —

जो जिस गुणको चाहनेवाला हुआ करता है वह उस उस गुण सम्पन्न पुरुष विशेषको नम-स्कार किया करता है। यह एक सामान्य सिद्धान्त है। परमात्माके गुणोको चाहनेवाले ग्रन्थकार पुज्यपादस्वामी है, अतः सर्वप्रथम वे परमात्माको नमस्कार करते हैं।

मूलग्रत्यकर्ताका मंगलाचरण । श्लोक—यस्य स्वयं स्वभावाप्तिरभावे कृत्स्नकर्मणः । तस्मै संज्ञानरूपाय नमोऽस्तु परमात्मने ॥ १ ॥

अस्वय—यस्य कृत्स्नकर्मणः अभावे स्वयं स्वभावाप्तिः तस्मै संज्ञानरूपाय परमात्मने नमः अस्तु ।

टीका—अस्तु भवतु । कि तन्नमः नमस्कारः । कस्मै, तस्मै परमात्मने । परमः वैनाध्येयाप्रहेयािचय्य-त्वात्सकलसंसारिजोवेभ्यः उत्कृष्ट जात्मा चेतनः परमात्मा तस्मै । किविशिष्टाय, सज्ञानरूपाय सम्यवसकलार्थ-साक्षात्कारित्वादितदत्यन्तसूक्ष्मत्वादीनामिप लागात्कर्महन्तृत्वादेरिप विकारस्य त्यागाच्य संपूर्णज्ञानं स्वपराद-वोधस्तदेव रूपं यस्य तस्मै । एवमाराध्यस्वरूपमुक्त्वा तत्प्राप्त्युपायमाह । यस्यामूत्कासी स्वभावािमः स्वभावस्य

१. बनारोपि अप्रतिहत ।

निर्मलनिर्मलनिर्मलिद्यस्य वास्तिलंबियः कर्यनित्तादारम्यपरिणतिः। कृतकृत्यतया स्वरूपेऽवस्यितिरित्वयं तेन, स्वयं संपूर्णरत्नत्रयात्मनारमना । क्व राति, अभावे शिवतस्पतया विनाशे । कस्य, कृत्स्नकर्मणः । कृत्स्नस्य सकलस्य द्रव्यंभावरूपस्य कर्मणः आत्मपारतन्त्र्यानिमित्तस्य ।। १ ॥

अय शिष्यः प्राह स्वस्य स्वयं स्वरूपोवलिवः कथमिति । स्वस्यात्मनः स्वयमात्मना स्वरूपस्य सम्यवस्वादि-गुणाएकाभिव्यवितरूपस्य उपलव्धिः कथ केनोपायेन दृष्टान्ताभावादिति । अत्राचार्यः समाघतं;—

अर्थ--जिसको सम्पूर्ण कर्मोके अभाव होनेपर स्वयं ही स्वभावकी प्राप्ति हो गई है, उस सम्यक्जानरूप परमात्माको नमस्कार हो ।

विशदार्थं —िनसे आत्माकी परतन्त्रता (पराधीनता) के कारणभूत द्रव्य एवं भावरूप समस्त कर्मोके, सम्पूर्ण रत्नत्रयात्मक स्वरूपके द्वारा, सर्वथा नष्ट हो जानेसे निर्मल निश्चल चैतन्य-रूप स्वभाव (कथंचित् तादात्म्य परिणति) की प्राप्ति हो गई है, उस सम्पूर्ण ज्ञानस्वरूप शात्माको जो कि मुख्य एवं अप्रतिहत अतिशयवाला होनेसे समस्त सासारिक प्राणियोसे उत्कृष्ट है, नमस्कार हो ॥ १॥

दोहा-स्वयं कर्म सब नाज करि, प्रगटायो निजभाव । परमातम सर्वज्ञको, बंदो करि जुभ भाव ॥१॥

"स्वयं स्वभावाप्ति" इस पदको सुन शिष्य वोला—कि "आत्माको स्वयं ही सम्यक्त आदिक अष्ट गुणोको अभिव्यक्तिरूप स्वरूपकी उपस्टिब्ध (प्राप्ति) कैसे (किस उपायते) ही जाती है ? क्योंकि स्व-स्वरूपकी स्वय प्राप्तिको सिद्ध करनेवाला कोई दृष्टान्त नही पाया जाता है, और विना दृष्टान्तके उपरिलिखित कथनको कैसे ठीक माना जा सकता है ? आचार्य इस विषयमे समाधान करते हुए लिखते है कि—

योग्योपादानयोगेन, दृपदः स्वर्णता मता । द्रव्यादिस्वादिसंपत्तायात्मनोऽप्यात्मता मता ॥ २ ॥

अन्वय—(यथा) योग्योपादानयोगेन दृषदः स्वर्णता मता (तथा) आत्मन. अपि द्रव्यादि-स्वादिसम्पत्ती आत्मता मता ।

द्दीका - मता अभिग्रेता लोकीः । कासी, स्वर्णता सुवर्णभावः । कस्य, द्यदः सुवर्णिवर्भवयोग्ययायाणस्य । कन्, योग्याना सुवर्णपिरणामकरणोचितानामुपादानाना कारणामा योगेन मेलापकेन संपर्या यया । एवमारम-नोऽपि पुरुषस्यापि न केवल द्यद इत्यपिशव्याय् । मता कथिता । कासी, आत्मता । आत्मतो जीवस्य भाषी विसंलिनश्चलचैतन्यं । कस्या सत्या, द्वव्यादिस्यादिसंपत्ती द्वव्यमन्वयिभावः आदियंया क्षेत्रकालभावाना ते च ते स्वादयश्च सुशव्दः स्वराव्दो वा आदियंगा ते स्वादयो द्वव्यस्य स्वादयश्च । इच्छातो विशेषणियवेष्यभाव इति समातः । सुश्व्य सुक्षेत्र सुकालः सुभाव इत्यर्थः । सुशक्दः प्रशंसार्थः । प्राचन्त्यं चात्र प्रकृतकार्योपयोगित्यं द्वव्यादिस्वादीभां संपत्तिः सपूर्णता, तस्या सत्याम् ।

अय निष्य प्राह्न-तिह न्नतादीनामानर्थनयमिति । सगवन् यदि सुद्रन्यादिसामन्या सत्यामेवायमात्मा स्वात्मानमुपळप्त्यते तिह न्नतानि हिंसाविरत्यादीनि आदयो येपा समित्यादीना तेपामानर्थवयं निष्फलत्वे त्यादिभ-प्रतोया. स्वात्मोपळन्वे सुद्रव्यादिसंपत्त्यपेक्षत्वादित्यर्थः । अत्रानायों निपेषमाह्-सन्नेति । वत्स । यस्तव्या

१ ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्माणि, रागद्देशादयो भावकर्माणि । २ मेलापकेन । ३ कस्या सामन्या विद्यमानायाम् । ४ प्रारव्यकार्यसाघकस्वम् । ५. वाञ्चितायाः ।

ाह्नितं ब्रतादोनामानर्यवयं तन्स भवति । तेषामपूर्वशृभकर्मनिरोवेनोपाजिताज्ञुभकर्मेकदेशक्षपणेन च सफलत्वात-इपयरागस्थ्रणब्र्भोपयोगजनितपुण्यस्य च स्वर्गोटिषदप्राप्तिनिमित्तत्वादेव च व्यक्ती कर्त्तुं विन्तः;— ॥ २ ॥

क्षर्य—योग्य उपादान कारणके संयोगसे जैसे पाषाणिवशेष स्वर्ण बन जाता है, वैसे ही कुट्टिय मुक्टेत्र आदि रूप सामग्रीके मिळनेपर जीव भी चैतन्यस्वरूप आत्मा हो जाता है।

विज्ञदार्य —योग्य (कार्योत्पादनसमर्थ) उपादान कारणके मिलनेसे पापाणविज्ञेप-जिसमें पुत्रणंक्प परिणमने (होने) की योग्यता पाई जाती है वह जैसे स्वर्ण वन जाता है, वैसे ही अच्छे प्रकृत कार्यके लिए उपयोगी) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंकी सम्पूर्णता होनेपर जीव (संसारी प्राप्ता) निज्यल चैतन्यस्वरूप हो जाता है। दूसरे शब्दोंमे, ससारी प्राणी जीवात्मासे परमात्मा प्रन जाता है।

दोहा—स्वर्णं पाषाण सुहेतु से, स्वयं कनक हो जाय । सुद्रम्यादि चारों मिलें, लाप शुद्धता थाय ॥ २ ॥

शंका—इस कथनको सुन शिब्य बोला कि भगवन् ! यदि बच्छे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप यामग्रीके मिलनेसे ही आत्मा स्व स्वरूपको प्राप्त कर लेता है, तव फिर वत समिति आदिका पालन करना निष्कल (निर्थक) हो जायगा। ब्रतोंका परिपालन कर व्यर्थमें ही शरीरको कष्ट देनेसे व्या लाभ ?

समाधान—आचार्य उत्तर देते हुए वोले—हे वत्स ! जो तुमने यह जना की है कि ब्रतादि-कोका परिवालन निरर्थंक हो जायगा, सो वात नहीं है, कारण कि वे ब्रतादिक नवीन गुभ कर्मोंके वतके कारण होनेसे, तथा पूर्वोपाजित अग्नुभ कर्मोंके एकदेश क्षयके कारण होनेसे सफल एवं सार्थंक है। इतना ही नहीं किन्तु ज्ञतसम्बन्धी अनुरागलक्षण हुप गुभोपयोग होनेसे पुण्यकी उत्पत्ति होती है। और यह पुण्य स्वर्गोदिक पदोंकी प्राप्तिक लिए निमित्त कारण होता है। इसलिय भी ब्रतादिकों-का आचरण सार्थक है। इसी वातको प्रयट करनेके लिए आचार्य आगेका ब्लोक कहते हैं—॥२॥

वरं व्रतेः पदं देवं, नाव्रतेवेत नारकं। छायातपस्ययोभेंदः, प्रतिपालयनोभेंहान् ॥ ३ ॥

अन्यय—प्रतिः देवं पद वरं, वत अन्नतैः नारकं पर्द न वरं प्रतिपालयतोः छायातपस्थयोः महान् भेदः (अस्ति)।

टीका—परं भवतु । कि तत् ? पद स्वातं । किविशिष्टं, वैयं देवानामिदं वैवं स्वर्गः । केहॅनुभिर्मतैर्वंतादिविषयगण्यनितपुर्यः तेषा स्वर्गोदिषदास्युव्यनिकव्यन्तित्ते त्रक्षण्यनसुप्रसिद्धस्तत् । तर्स्वण्यनास्य नप्यान्
विणानि भविष्यान्तित्तास्य स्वर्गोद्ध । ते परं भवति । कि तत् ? परं । किविशिष्टं, नारकं नरकसंबन्धि ।
की, अप्रते दिसादिपरिणामयनित पातकः । वर्गोत गरेदे वर्षे सा । तिह प्रताप्रतिमित्तयोशि देवनारव्यक्षयोः
माग्यं भविष्यपित्यान्तित्तान्त्रित्तां । वर्गोत गरेदे वर्षे सा । तिह प्रताप्रतिमित्तयोशि देवनारव्यक्षयोः
माग्यं भविष्यपित्यक्तां, महान् वृत्त् । वर्षोः पिष्ययो । कि पूर्वतोः, स्वार्गयदान्तिमत्तर्भानं नृत्रीय स्ववार्षित्रमादारवन्त्र पति प्रतिवार्णयक्षः प्रतिभावयोः । विभिन्न्ययेः सत्तोद्यायत्रवर्षः । द्याप्य प्रभावयम्य
वर्षात्रते । वर्षे प्रतिवार्णयक्षः प्रतिवार्णयक्षः । विभिन्न्ययेः सत्तोद्यायत्रवर्षः । द्याप्य प्रभावयम्य
वर्षेत्र विष्य प्रवार्षः । अवसर्षे, पर्यव द्याप्यम्यस्यक्षेत्रस्य स्ववद्यविष्यक्षः वर्षायस्यविष्यः
पृथेत विष्यप्ति स्वार्णयस्य वर्षाद्विष्यः । स्वयं वर्षायान्त्रसे प्रवार्णवे । ग्वमाद्यनि व्यवस्थयस्य स्वविष्यः
पृथेत विष्यः प्रस्ता वर्षाद्वस्य प्रस्तान्ति । स्व विषयः प्रवाराण्यते । ग्वमाद्यनि व्यवस्थयस्य स्वार्यः

भगवन्नैवं चिरभाविमोक्षमुखस्य ब्रासाच्ये समारमुखे सिद्धे सत्यात्मिन चिद्रूपे भनितर्भाविनिश्चद्ध ब्रान्तरोऽनुरागो अयुक्ता अनुपरन्ता स्याद्भवेत् तत्साच्यस्य मोक्षसुखस्य सुद्रव्यादिशंपत्त्यपेक्षया दूरवित्त्वादवान्तरप्राप्यस्य च स्वर्गादिमुखस्य व्रतैकसाव्यत्वात् । अत्राप्याचार्यः समाधत्ते —तदिष नेति । च केवल व्रतादीनामानर्यवय भवेत् । कि तिह्न, तदप्यात्मभक्तचनुपैपत्तिप्रकाशनमिप त्वया क्रियमाणं न साधु स्यादित्यर्थं । यतः—।। ३ ॥

अर्थ-व्यतोके द्वारा देव-पद प्राप्त करना अच्छा है, किन्तु अव्रतोके द्वारा नरक-पद प्राप्त करना अच्छा नही है। जैसे छाया और घूपमे बैठनेवाओं में अन्तर पाया जाता है, वैसे ही व्रत और अव्रतके आचरण व पालन करनेवालोमें फर्क पाया जाता है।

विश्वार्थ — अपने कार्यके वशसे नगरके भीतर गये हुए तथा वहाँसे वापिस आनेवाले अपने तीसरे साथीकी मार्गमें प्रतीक्षा करनेवाले जिनमेसे एक तो छायामें वैठा हुआ है, और दूसरा घृपमें वैठा हुआ है, दो व्यक्तियोमे जैसे बडा भारी अन्तर है, अर्थात् छायामें वैठनेवाला तीसरे पुरूषके आनेतक सुखसे वैठा रहता है, और घूपमे वैठनेवाला दु.खके साथ समय व्यतीत करता रहता है। उसी तरह जवतक जीवको मुक्तिके कारणभूत अच्छे द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव आदिक प्राप्त होते हैं, तबतक व्रतादिकोंका आचरण करनेवाला स्वर्गीदिक स्थानोमे आनन्दके साथ रहता है। दूसरा व्रतादिकोंको न पालता हुआ असयमी पुरूप नरकादिक स्थानोमे दुःख भोगता रहता है। अतः व्रतादिकोंका परिपालन निर्थंक नहीं, अपि तु सार्थंक है।

दोहा—मित्र राह देखत खड़े, इक छाया इक घूप। व्रतपालनसे देवपद, अव्रत दुर्गति कूप॥३॥

शंका—यहाँपर शिष्य पुनः प्रश्न करता हुआ कहता है—"यदि उपरिलिखित कथनको मान्य किया जायगा, तो चिद्रूप आत्मामे भिन्त भाव (विशुद्ध अतरंग अनुराग) करना अयुक्त ही हो जायगा ? कारण कि आत्मानुरागसे होनेवाला मोक्षरूपी मुख तो योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादिरूप सम्पत्तिकी प्राप्तिकी अपेक्षा रखनेके कारण बहुत दूर हो जायगा और वीचमें ही मिलनेवाला स्वर्गादि-सुख व्रतोके साहाय्यसे मिल जायगा। तव फिर आत्मानुराग करनेसे क्या लाभ ? अर्थात् सुखार्यी साधारण जन आत्मानुरागकी ओर आकर्षित न होते हुए व्रवादिकोकी ओर हो अधिक सुक जायगे।

समाधान—शकाका निराकरण करते हुए आचार्य वोले, "व्रतादिकोका आचरण करना निरर्थक नहीं है।" (अर्थात् सार्थंक है) इतनी ही बात नहीं किन्तु आत्म-भक्तिको अयुक्त वतलाना भी ठीक नहीं है। इसी कथनकी पुष्टि करते हुए आगे क्लोक लिखते हैं:—।। ३॥

यत्र भावः शिवं दत्ते, द्यौः कियद्द्रवर्तिनी । यो नयत्याशु गन्यूर्ति, क्रोशार्घे किं स सीदिति ? ॥ ४ ॥

अन्वय—यत्र भावः शिव दत्ते तत्र द्यौ कियद्दूरवर्तिनी, य गव्यूर्ति आजु नयित सः कि क्रोजार्धे सीदिति ? ।

टोका — यत्रात्मनि विषये प्रणिधाने भाव. कत्तां दत्ते प्रयच्छति । कि तच्छिय मोष्टां, मायकाय भव्यायेति शेष । तस्यात्मविषययस्य शिवदानसमर्थस्य मावस्य द्यौ स्त्रगः कियद् र्वितनी कियद् रे किपरिमाणे व्यवहितदेशे

१. मध्यलम्यस्य । २, अयुनितः ।

वर्तते ? निकट एव तिष्ठतीत्यर्थः । स्वात्मध्यानोपात्तपण्यस्य तदेकफलत्वात । तथा चीक्तं-

"गुरुपदेशमासाद्य व्यायमानः समाहितैः । अनन्तशिन्तरात्मायं भुन्ति मृन्ति च यच्छिति ॥ १९६ ॥ व्यायोतोर्ह्त्सिद्धरूपेण चरमाङ्गस्य मुक्तये । तद्व्यानोपात्तपृष्यस्य स एवान्यस्य भुक्तये" ॥ १९७ ॥ (तत्त्वानुशासम)

अमुमेनार्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयन्ताह्—य इत्यादि । यो बाहीको नयिति, प्रापयिति । किं, स्ववाह्यं भारं । का, गव्यूर्ति क्रोशयुगं । कथम्, आशु बीद्यं । स किं क्रोशार्थे स्वभार नयन् सीदिति खिद्यते ? न खिद्यत इत्यर्थः । महाशक्तावल्पशक्तेः सुपटत्यात् ।

अर्थवमारमभनतेः स्वर्गगतिसाधनत्वेऽपि समर्थिते प्रतिर्पाद्यस्तत्फलजिज्ञासयाँ गुरु पृच्छति—स्वर्गे गताना किं फलमिति ? स्पष्टं गुरुरुत्तरयति—।। ४ ॥

अर्थ--आरमामें लगा हुआ जो परिणाम भव्य प्राणियोको मोक्ष प्रदान करता है, उस मोक्ष देनेमें समर्थ आत्मविरणामके लिये स्वर्ग कित्तना दूर है ? न कुछ । वह तो उसके निकट ही समझो । अर्थात् स्वर्ग तो स्वात्मध्यानसे पैदा किये पुण्यका एक फलमात्र है । ऐसा ही कथन अन्य ग्रन्थोंमें भी पाया जाता है । तत्त्वानुशासनमें कहा है :—'गुरुपदेशमासाद्य॰"

"गुरुके उपदेशको प्राप्त कर सावधान हुए प्राणियों के द्वारा चिन्तवन किया गया यह अनन्त शक्तिवाला आत्मा चितवन करनेवालेको भुक्ति और मुक्ति प्रदान करता है। इस आत्माको अरहंत और सिद्धके रूपमे चितवन किया जाय तो यह चरमशरीरीको मुक्ति प्रदान करता है और यदि चरमशरीरी न हो तो उसे वह आत्म-ध्यानसे उपाजित पुण्यको सहायतासे भुक्ति (स्वर्ग चक्रवर्त्यादिके भोगों) को प्रदान करनेवाला होता है।"

श्लोककी नीचेकी पंक्तिमें उपरिलिखित भावको दृष्टान्त द्वारा समझाते है-

देखों जो भारको ढोनेवाला अपने भारको दो कोसतक आसानी और शीघ्रताके साथ ले जा सकता है, तो क्या वह अपने भारको आधा कोस ले जाते हुए खिन्न होगा? नहीं। भारको ले जाते हुए खिन्न न होगा! बडी शक्तिके रहने या पाये जानेपर अन्य शक्तिका पाया जाना तो सहज (स्वाभाविक) ही है।

दोहा—आत्मभाव यदि मोक्षप्रद, स्वर्ग है कितनी दूर। दोय कोस जो ले चले, आव कोस सुख पूर॥ ४॥

इस प्रकारसे आत्म-मिक्को जब कि स्वर्ग-सुस्रोका कारण बतला दिया गया तब शिष्य पुनः कुत्रहलको निवृत्तिके लिये पूछता है कि "स्वर्गमें जानेवालोको क्या फल मिलता है ?"॥ ४॥

भाचार्यं इसका स्पष्ट रीतिसे उत्तर देते हुए लिखते है—

ह्पीकजमनातङ्कं दीर्घकालोपलालितम् । नाके नाकौकसां सौख्यं, नाके नाकौकसामिव ॥ ५ ॥

अन्वय—नाके नाकोकसां हृषीकजं अनातङ्कं दीर्घकालोपलालित सीख्यं नाके नाकोक-सामिव (भवित)।

१. बाह्य । २. शिष्य. । ३. ज्ञातुमिच्छया ।

टीका—वत्स अस्ति । कि तत्, सीस्थं धर्म । केपा, नाकीकसा देवानां न पुनः स्वर्गेऽपि जातानामे-केन्द्रियाणाम् । वत्र वसता, नाके स्वर्गे । न पुन क्रीडादिवशाद्रमणीयपर्वतादो । किमतीन्द्रियं तत् नेत्याह्—हृपीकजं हृपीकेम्य समीहितानन्तरमृपस्थितं निजं निजं विषयमनुभवद्भधः स्वर्गनादोन्द्रियेम्यः सर्वाङ्गीणां ल्हा-दनाकारतया प्रादुभूत । तथा राज्यादिसुलवत् सातद्धः भविष्यतीत्याशद्धापनोदार्थमाह—अवातद्धः, न विद्यते आतंकः प्रतिपक्षादिकृतश्चित्तकाभो यत्र । तथापि भोगमूमिजमुखवदल्पकाळगोग्यं भविष्यतीत्याशकायामाह—दीर्घकाळोपळालिलतं दीर्घकाळ सागरोपमवरिच्छिनकाळं यावदुपकालितमाज्ञाविद्ययेदेवदेवीस्विचिलितिभिः क्रियमाणोपचारत्या दुत्कर्णं प्रापितम् । तर्गह् वव केपामिव तदित्याह्, नाके नाकीकसामिव स्वर्गे देवाना यथा अनन्योपमित्यर्थं । अत्र शिष्यः प्रत्यैविदिष्ठते—यदि स्वर्गेऽपि सुखमुत्कृष्टं किमपवर्गप्रार्थनयेति । भगवन् यदि स्वर्गेऽपि न केवळमपवर्गे सुखमस्ति । कीदृशम् ? जत्कृष्टं मत्यिदिसुखातिशायि तर्हि कि कार्यं ? कया, अपवर्गस्य मोधस्य प्रार्थनया—अपवर्गो में भूयादित्यभिक्षापेण ॥ ५॥

एवं च संसारसुखे एव निर्वन्धं कुर्वन्तं प्रवोध्यं तत्सुखदुःखस्य आन्तत्वप्रकाशनाय आचार्य प्रवोधयति ।---

अर्थ-स्वर्गमे निवास करनेवाले जीवोंको स्वर्गमें वैसा ही सुख होता है, जैसा कि स्वर्गमें रहनेवालों (देवो) को हुआ करता है. अर्थात् स्वर्गमें रहनेवाले देवोका ऐसा अनुपमेय (उपमा रहित) सुख हुआ करता है कि उस सरीखा अन्य सुख वतलाना कठिन ही है। वह सुख इन्द्रियोन से पैवा होनेवाला आतकसे रहित और दीर्घ कालतक बना रहनेवाला होता है।

विश्रदार्थ – हे बालक ! स्वर्गमें निवास करनेवालोको न कि स्वर्गमें पैदा होनेवाले एकेन्द्रियादि जीवोको ! स्वर्गमें, न कि क्रीडादिकके वशसे रमणोक पर्वताधिकमें ऐसा सुख होता है, जो चाहनेके अनन्तर हो अपने विषयको अनुभव करनेवाली स्पर्शनादिक इन्द्रियोसे सर्वांगीण हर्वके रूपमें उत्पन्न हो जाता है । तथा जो आतक (शत्रु आदिकोके द्वारा किये गये चित्तक्षोम) से भी रहित होता है, अर्थात् वह सुख राज्यादिकके सुखके समान आतकसहित नहीं होता है । वह सुख भोगभूमिमे उत्पन्न हुए सुखकी तरह थोडे कालपर्यन्त भोगनेमें आनेवाला भी नहीं है । वह तो उल्टा, सागरीपम कालतक. आज्ञामें रहनेवाले देव देवियोके द्वारा की गई सेवाओसे समय समय बढा चढा ही पाया जाता है ।

'स्वर्गमे निवास करनेवाले प्राणियोका (देवोंको) सुख स्वर्गवासी देवोके समान ही हुआ करता है।' इस प्रकारसे कहने या वर्णन करनेका प्रयोजन यही है कि वह सुख अनन्योपम है। अर्थात् उसकी उपमा किसी दूसरेको नहीं दी जा सकती है। लोकमे भी जब किसी चोजकी अति हो जाती है, तो उसके द्योतन करनेके लिए ऐसा हो कथन किया जाता है, जैसे "भैया। राम रावणका युद्ध तो राम रावणके युद्ध समान ही था। रामरावणयोर्युद्ध रामरावणयोरिव।'

अर्थात्, इस पक्तिमे युद्ध सम्बन्घी भयंकरताको पराकाष्ठाको जैसा द्योतित किया गया है। ऐसा ही सुखके विषयमे समझना चाहिये॥ ५॥

> दोहा—इन्द्रियजन्य निरोगमय, दीर्घकाल तक भोग्य। स्वर्गवासि देवानिको, सुख उनहीके योग्य॥५॥

शंका—इम समाधानको सुन शिष्यको पुन[,] शंका हुई और वह कहने लगा—"भगवन् ¹

१ सर्वमङ्गं व्योप्नोति । २ आदेशवश्वर्वि । ३ सेवा । ४ पूर्वपक्षं करोति । ५ हठम् । ६ शिष्यम् ।

14

न केवल मोक्षमें, किन्तु यदि स्वर्गमें भी, मनुष्यादिकोसे वढकर उत्कृष्ट मुख पाया जाता है, तो फिर "मुद्दो मोक्षकी प्राप्ति हो जावे" इस प्रकारकी प्रार्थना करनेसे बया लाग ?"

संनार सम्बन्धी मुलमें ही नुसका आवह करनेवाले शिव्यकी 'संसार सम्बन्धी मुख और दुःख भ्रान्त हैं।' यह वात क्तळानेके लिये आचार्य आगे छिखा हुआ रलोक कहते हैं—

वासनामात्रमेवॅनत् सुखं दुःखं च देहिनाम् । तथा ह्युद्वेजयन्त्येते, भोगा रोगा इवापदि ॥ ६ ॥

अन्वय—देहिनां मुर्गं दुःवं च वसनामात्रम् एव । तथाहि, एतं भोगा आपदि रोगा इव उद्देजयन्ति ।

दीयत्— गृतत् अतीयमानमैदियम् गृतं हु.गं चान्ति । कीद्वं वानतामात्रमेय जीवरयोपकारकरथापतारकरवाभावेन परमार्गतो बेहापाशुंधेणीये तरवानवयोगादिव समेप्टमुपकारकरवादिवं पानिष्टमपकारकरवादिति विश्रमाज्ञातः संस्कारो वासना उप्टानिष्टार्थानुभवान्त्वरमृद्भूतः स्वसंवेय आभिमानिकः परिणामः । वानन्व, न न्याभाविकमात्मस्यन्यभित्यग्योगव्यवच्छेश्यो मात्र इति स्वयोगव्यवस्यायक्ष्याक्करः ।
केवामेतदेवंभूतमस्त्रोत्याह् । देहिना देह एवात्मरवेन गृद्धमाणोस्त्रीति वेहिनो विह्ररात्मानस्तेवाम् । एतदेव
समर्पवितुमाह—त्याहोत्यादि । उद्यार्थतम्यनार्थस्यभाविम् मृत्या इन्द्रियायाः । वे द्वन् रोगा द्व वयरादिक्षायमी
स्या । कस्यां सत्याम् ? वावि दुनिवारयीरिमभृतिसंपादिवद्योर्भनस्यलक्षणायां विपित् । तथा चोपतम् — "मृद्धास्त्री
सम्परस्यार्ग किष्य मृतोप्यकाश्य विद्भात्यदो, दूरे येष्ट्रि न हृद्य एप किमभूरत्या न वेहिन क्षणम् । स्वयं चेद्वि
निर्गति गामिति तथोयोगे द्वियः स्त्रो विपन्त्याहर्थयक्षमुकांगरामरूलितालापीद्विक्तां सर्वारम्भास्तन्दुलाःप्रस्थमून्यः ॥" विवन्नवादा, वेणुर्वोणा योवनस्या गुवत्यः । नित रम्या क्षुतियासाह्वितानां सर्वारम्भास्तन्दुलाःप्रस्थमून्यः ॥"

तया । जातने घृतिमता सह वच्या वामिनीविष्टिणा विहतेन । सेहिरे न किरणा हिमरक्षमेदुं, निते मनित मर्वमन्यादि । अदो जायते ऐन्द्रियकं सुर्यं वासनामात्रमेयः नात्मनः स्वामाविकमाकुलत्वस्व-मावम् । कथमन्यया छोके मुखजनप्रदेन प्रतीतानामिष भाषाना दुःग्रहेतुरवम् । एवं दुःगमिष । अत्राह पुनः विष्यः—एते नृगदुःगे चलु वामनामाते, नर्यं न लक्ष्यते इति । लक्ष्यिते वाक्ष्यारंकारे निक्ष्यये वा । कथं कैन प्रकारेण न लक्ष्यते न सवेशेते, लोकरिति दोषः । दार्यं स्वटम् ॥ ६॥

अत्राचार्यः प्रवोधयति—

अर्थ-देहवारियोंको जो सुख और दुःख होता है, वह केवल करपना (वासना या संस्कार) जन्य ही है। देखों ! जिन्हे लोकमें सुख पैदा करनेवाला समझा जाता है, ऐसे कमनीय कामिनी आदिक भोग भी आपित्त (दुनिवार, शत्रु आदिके द्वारा को गई वेचेनी) के समयमें रोगो (ज्वरा-दिक ब्याधियों) को तरह प्राणियोंको आकुलता पैदा करनेवाले होते हैं। यही बात सासारिक प्राणियोंके सुख-दु:खके सम्बन्धमें हैं।

विवादार्थ—ये प्रतीत (मालूम) होनेवाले जितने इद्रियजन्य सुख व दु:ख है, वे सब वासनामात्र ही है। देहादिक पदार्थ न जीवके उपकारक ही है और न अपकारक ही। अतः परमार्थंसे वे (पदार्थ) उपेक्षणीय ही है। किंतु तत्त्वज्ञान न होनेके कारण—'यह मेरे लिये इष्ट

१ त्यजनीये।

है—उपकारक होनेसे' तथा 'यह मेरे लिये अनिष्ट है—अपकारक होनेसे ।' ऐसे विभ्रमसे उत्पन्न हुए सस्कार जिन्हे वासना भी कहते है—इस जीवके हुआ करते हैं । अतः ये सुख दुःख विभ्रमसे उत्पन्न हुए सस्कारमात्र ही है, स्वाभाविक नही । ये सुख दुःख उन्हीको होते है जो देहको हो अत्मा माने रहने हैं । ऐसा ही कथन अन्यत्र भी पाया जाता है—"मुचाग"

अर्थ—इस श्लोकमें दम्पितयुगलक वार्तालापका उल्लेख कर यह वतलाया गया है कि वे विषय जो पहिले अच्छे मालूम होते थे, वे ही मनके दु:खी होनेपर बुरे मालूम होते हैं। यहना इस प्रकार है—पित-पत्नी दोनो परस्परमे सुख मान, लेटे हुए थे कि पित किसी कारणसे चितित हो गया। पत्नी पितसे आलिंगन करनेकी इच्छासे अंगोको चलाने और रागयुक गचनालाप करने लगी। किन्तु पित जो कि चितित था, कहने लगा 'मेरे अंगो को छोड, तू मुझे संताप पैदा करने-वाली है। हट जा। तेरी इन क्रियाओंसे मेरी छातीमें पीड़ा होती है। दूर हो जा। मुझे तेरी चेट्टाओंसे विलकुल हो आनन्द या हप नहीं हो रहा है।" "रम्यं हम्य"

रमणीक महल, चन्दन, चन्द्रमाकी किरणें (चॉदनी), वेणु, वीणा तथा यौवनवती युव-तियां (स्त्रियां) आदि योग्य पदार्थ भूख-प्याससे सताये हुए व्यक्तियोंको अच्छे नही लगते। ठीक भी है, अरे। सारे ठाटवाट सेरमर चाँवलोके रहनेपर ही हो सकते हैं। अर्थात् पेटभर खानेके लिए यदि अन्न मौजूद है, तब तो सभी कुछ अच्छा ही अच्छा लगता है। अन्यथा (यदि भरपेट खानेको न हुआ तो) सुन्दर एवं मनोहर गिने जानेवाले पदार्थ भी बुरे लगते हैं। इसी तरह और भी कहा है —

"एक पक्षो (चिरवा) जो कि अपनी प्यारी चिरैयाके साथ रह रहा था, उसे धूपमें रहते हुए भी सतीप और सुख मालूम देता था। रातके समय जब वह अपनी चिरैयासे विछुड़ गया, तब शीतल किरणवाले चन्द्रमाकी किरणोको भी सहन (बरदाक्त) न कर सका। उसे चिरैयाके वियोगमे चन्द्रमाकी ठंडो किरणे सन्ताप व दुःख देनेवाली ही प्रतीत होने लगी। ठोक ही है, मनके दुःखी होनेपर सभी कुछ असह्य हो जाता है, कुछ भी भला या अच्छा नहीं मालूम होता।"

् इन सबसे मालूम पड़ता है कि इन्द्रियोसे पैदा होनेवाला सुख वासनामात्र ही है। आत्माका स्वाभाविक एवं अनाकुलतारूप सुख वासनामात्र नहीं है, वह तो वास्तविक है। यदि इन्द्रियजन्य सुख वासनामात्र-विश्वमजन्य न होता तो ससारमे जो पदार्थ सुखके पैदा करनेवाले माने गये है वे ही दु:खके कारण कैसे हो जाते ? अत. निष्कर्ष निकला कि देहधारियोका सुख केवल काल्पनिक ही है और इसी प्रकार उनका दु खभी काल्पनिक है। इस

दोहा—विषयी सुख दुःख मानते, है बज्ञान प्रसाद । भोग रोगवत् कष्टमें, तन मन करत विषाद ॥ ६ ॥

इंका-ऐसा सुन शिष्य पुनः कहने लगा कि "यदि ये सुख और दुःख वासनामात्र ही हैं तो वे लोगोको उसी रूपमे क्यो नहीं मालूम पडते हैं ? बाचार्य समझाते हुए बोले---

मोहेन संवृतं ज्ञानं, स्वभावं रूभते न हि । मत्तः पुमान् पदार्थानां यथा मदनकोद्रवैः ॥ ७ ॥

क्षन्वय—हि मोहेन संवृत ज्ञानं तथैव स्वभावं न लभते यथा मदनकोद्रवैः मत्तः पुमान् पदा-र्थानां स्वभावं न लभते । टीका —न हि नैव लभते परिच्छित्ति धातुनामनेकार्थत्वारूलभेक्षांनिष वृत्तिस्तथा च लोको विवत्त यथास्य चित्त लञ्ज्ञसिति । किं तत् कर्तुं, ज्ञानं धर्मधिमणोः कथित्तादात्म्यादर्थेग्रहण्य्यापारपरिणत झात्मा । कं, स्वभावं स्वोऽसाधारणो अन्योऽन्यव्यतिकरे सत्यपि व्यवस्यन्तरेम्यो विविक्षतार्थस्य व्यावृत्तप्रत्ययहेतुर्भावो धर्मः स्वभावस्तम् । केपाम्, पदार्थाना सुखदुःखशरीरादीनाम् किविशिष्टं सत् ज्ञानं, संवृतं प्रच्छादित वस्तूया- यात्मग्रकाशने अभिभृतसामर्थ्यम् । केन, मोहेन मोहनीयकर्मणो विपाकेन । तथा चोवतम्—"मलविद्यमणे- व्यविद्ययंवा नैकप्रकारतः । कम्मविद्यात्मविज्ञसिस्तथा नैकप्रकारतः । (लघीयस्त्रये)

नन्दमूर्तस्यात्मनः कथं मूर्तेन कर्मणाभिभवो युवतः इत्यत्राह—मत्त इत्यादि । यथा नैव लभते । कोऽसौ, पुमान् व्यवहारी पृदयः । कं, पदार्थाना घटपटादीनां स्वभावम् । किविशिष्ट सन्, मत्तः जनितमदः । कैर्मदन-कोद्रवै: । पुनराचार्य एव प्राह्, विरायक इत्यादि । यावत् स्वभावमनासादयन् विसदृशान्यवगच्छतीति । शरीरा-दीनां स्वरूपनलभमानः पृद्यः शरीरादीनि जन्ययामूतानि प्रतिपद्यत इत्यर्थः । अमुमेवार्थं स्फुटयति;—

अर्थ —मोहसे ढका हुआ ज्ञान, वास्तिविक स्वरूपको वैसे ही नही जान पाता है, जैसे कि मद पैदा करनेवाले कोद्रव (कोदो) के खानेसे नहील—वे-खबर हुआ आदमी पदार्थोंको ठीक-ठीक रूपसे नही जान पाता है।

विश्वदार्थ — मोहनीयकर्मके उदयसे ढका हुआ ज्ञान वस्तुओं के ययार्थ (ठीक ठीक) स्वरूप-का प्रकाशन करनेमें दबी हुई सामर्थ्यवाला ज्ञान, सुख, दु ख, शरीर आदिक पदार्थों के स्वभावको नहीं जान पाता है। परस्परमें मेल रहनेपर भी किसी विवक्षित (खास) पदार्थको अन्य पदार्थों-से जुदा जतलानेके लिये कारणीभूत धर्मको (भावको) स्व असाधारण भाव कहते हैं। अर्थात् दो अथवा दोसे अधिक अनेक पदार्थों के बीच मिले रहनेपर भी जिस असाधारण भाव (धर्म) के द्वारा किसी खास पदार्थको अन्य पदार्थों जुदा जान सके, उसी धर्मको उस पदार्थका स्वभाव कहते हैं।

ऐसा हो अन्यत्र भी कहा है-"मलविद्ध०"

"मल सहित मणिका प्रकाश (तेज) जैसे एक प्रकारसे न होकर अनेक प्रकारसे होता है, वैसे हो कर्मसम्बद्ध आत्माका प्रतिभास भी एक रूपसे न होकर अनेक रूपसे होता है।"

यहाँपर किसीका प्रश्न है कि-

अमूर्त आत्माका मूर्तिमान् कर्मोके द्वारा अभिभव (पैदा) कैसे हो सकता है ? उत्तरस्वरूप आचार्य कहते है कि—

"नशिको पैदा करनेवालें कोद्रव-कोदो धान्यको खाकर जिसे नशा पैदा हो गया है, ऐसा पुरुष घट पट आदि पदार्थोंके स्वभावको नही जान सकता, उसी प्रकार कर्मबद्ध आहमा पदार्थोंके स्वभावको नही जान पाता है। अर्थात् आत्मा व उसका ज्ञान गुण यद्यि अमूर्त्त है फिर भी मूर्तिमान् कोद्रवादि धान्योसे मिलकर वह बिगड़ जाता है। उसी प्रकार अमूर्त्त आत्मा मूर्तिमान् कर्मोंके द्वारा अभिमूत हो जाता है और उसके गुण भी दबे जा सकते है।॥७॥

शरीर आदिकोके स्वरूपको न समझता हुआ आत्मा शरीरादिकोको किसी दूसरे रूपमे ही मान वैठता है ।

दोहा—मोहकर्मके उदयसे, वस्तुस्वभाव न पात । मदकारी कोदों भखे, उल्टा जगत रुखात ॥ ७ ॥ इसी अर्थको आगेके श्लोकमें स्पष्टरीत्या विवेचित करते है— वपुर्युहं धनं दाराः, पुत्रा मित्राणि शत्रवः । सर्वथान्यस्वभावानि, मृदः स्वानि अपद्यते ॥ ८ ॥

अन्वय-वपु गृह घनं दारा पुत्रा मित्राणि शत्रवः सर्वथा अन्यस्वभावानि (किन्तु) मूढ (तानि) स्वानि प्रपद्यते।

दीका---प्रपचले । कोसी, मूढ स्वपरिविवेकज्ञानहीन. पुमान् । कानि, वपुगृंहादीनि वस्तुनि । किंवि विविद्यानि, स्वानि स्वरुवातमा स्वानि चारसीयानि स्वानि । एकशेषाश्रयणादेकस्य स्वश्वदस्य लोपः । अयमधों वृद्धतममोहाविष्टः वेहादिकमारमानं प्रपचले । आरमस्वेन । किंविशिष्टानि सन्ति, स्वानि प्रपचल इत्याह । सर्वयान्यस्वभावानि सर्वेण द्रव्यक्षेत्रकालभावलक्षणेन प्रकारेण स्वस्वभावादन्यो भिन्न स्वभावो येषा तानि । किं किंमिरयाह । वपु शरीर तावदचेतनस्वादिस्वभावं प्रसिद्ध- मस्ति । एवं गृह घन दारा भार्योः पुत्राः आरम्पा मित्राणि सुद्धद श्ववदोऽनिन्नाः अत्र हितवांमुह्स्य दृष्टान्त । क्वतेत् वुष्टात्व मध्ये हितानामुकारकाणा दारादोना वर्गो गणस्तमुद्द्श्य विपयीक्वत्य दृष्टान्त स्वहरूपं प्रदर्शते । अस्माभिरिति शेष । तच्चया,---

अर्थ-यद्यपि शरीर, घर, घन, स्त्री, पुत्र, िनत्र, शत्रु आदि सब अन्य स्वभावको लिये हुए पर-अन्य है, परतु मृढ प्राणो मोहनीयकर्मके जालमें फॅसकर इन्हें आत्माके समान मानता है।

विकादार्थ—स्व और परके विवेकज्ञानसे रहित पुरुष क्यीर आदिक पर पदार्थोको आत्मा व आत्माके स्वरूप हो समझता रहता है। अर्थात् दृढतम मोहसे वश प्राणो देहादिकको (जो कि द्रव्य, क्षेत्र, काळ, भाव ळक्षणक्य हरेक प्रकारसे आत्म स्वभावसे भिन्न स्वभाववाळे हैं) ही आत्मा मानता है और दृढतर मोहवाळा प्राणो, उन्हों व वैसे हो शरोरादिकको आत्मा नहीं, अपि तु आत्माके समान मानता रहता है।। ८।।

दोहा—पुत्र मित्र घर तन तिया, घन रियु आदि पदार्थ। बिट्कूल निजसे भिन्न है, सानत मुढ़ निजार्थ॥८॥

जत्थानिका—शरीर आदिक पदार्थं जा कि मोहवान प्राणीके द्वारा उपकारक एव हितू समझे जाते हैं, वे सब कैसे हैं, इसको आगे क्लोकमे उल्लिखित दृष्टात द्वारा दिखाते हैं:—

दिग्देशेम्यः खगा एत्य, संवसन्ति नगे नगे । स्वस्वकार्यवशाद्यान्ति, देशे दिक्षु प्रगे प्रगे ॥ ९ ॥

अन्वय-खगा दिग्देशेभ्यः एत्य नगे नगे सवसन्ति, प्रगे प्रगे स्वस्वकार्यवशात् देशे दिक्षु यान्ति ।

दीका—संवसन्ति मिछित्वा राशि याविश्वासं कुर्वन्ति । के ते, खगा पक्षिण । वव वव, नगे नगे वृक्षे वृक्षे । कि कृत्वा, एत्य आगत्य । केम्यो, विग्वेशेम्य विद्या. पूर्वावयो दश देशस्तत्स्थैकदेशो अङ्गवङ्गादय-स्तेम्योऽत्रविकृतेम्य । तथा यान्ति गच्छन्ति । के ते, खगा । कासु, विक्षु विग्वेशेष्त्रिति प्राप्तेविप्ययनिर्देशो गमनित्यमिनवृत्यर्थस्तेन यो यस्यामेव विद्यि गच्छति यस्य यस्माहेशादायात स तस्मिननेव देशे गच्छति ति नास्ति नियम. । कि तिह्न, यत्र नवापि यथेच्छं गच्छन्तीत्यर्थ । वस्मात, स्वस्वकार्यवद्यात् निजनिजकरणीय-

पारतःश्यात् । कदा कदा, प्रमे प्रमे प्रातः प्रातः । एवं संसारिणो जीवा अपि नरकादिगतिस्थानेभ्य आगत्य कुले स्वायुःकालं यावत् संभूय तिष्ठन्ति तथा निजनिजपारतन्त्र्यात् देवगत्यादिस्थानेभ्वनियमेन स्वायुःकालान्ते गच्छन्तीति प्रतीहि । कथं भद्र तवः दारादिषु हितबुद्ध्या गृहीतेषु सर्वथान्यस्वभावेषु आत्मात्मीयभावः ? यदि खल्वेतदात्मका स्युः तदा त्विय तदवस्थे एव कथमवस्थान्तरं गच्छेयुः । यदि च एते तावकाः स्युस्तिहि कथं वव प्रयोगमन्तरंणीच यत्र क्वापि प्रयान्तीति मोहप्रदावेशमपत्रार्थं यथावत्पत्येति दाष्टान्ते दर्शनीयम् । अहितवर्गेऽपि दृष्टान्तः प्रदर्शते अस्माभिरिति योज्यम् ः—

अर्थ—देखो, भिन्न भिन्न दिशाओं व देशोंसे उड़ उड़कर आते हुए पिक्षगण वृक्षोपर आकर रैनबसेरा करते है और सबेरा होनेपर अपने अपने कार्यके वशसे जुदा जुदा दिशाओं व देशो में उड़ जाते है।

विश्व विश्व ने पूर्व आदिक दिशाओ एवं अग, बंग आदि विभिन्न देशोंसे उड़कर, पक्षिगण वृक्षोपर आ बैठते हैं, रात रहनेतक वहीं बसेरा करते हैं और सबेरा होनेपर अनियत दिशा व देशकी ओर उड जाते है—उनका यह नियम नहीं रहता कि जिस देशसे आये हो उसी ओर जावे । वे तो कहींसे आते है और कहींको चले जाते है—वैसे हो संसारी जीव भी नरकगत्यादिक प्यानोसे आकर कुलमें अपनी आयुकाल पर्यन्त रहते हुए मिल-जुलकर रहते है, और फिर अपने अपने कमों के अनुसार, आयुक्ते अंतमें देवगत्यादि स्थानोमें चले जाते हैं। हे भद्र ! जब यह बात है तब हितकपसे समझे हुए, सर्वया अन्य स्वभाववाले स्त्री आदिकों में तेरी आत्मा व आत्मीय बृद्धि कैसी ? अरे ! यदि ये शरीरादिक पदार्थ तुम्हारे स्वरूप होते तो तुम्हारे तदवस्थ रहते हुए, अवस्थान्तरों को कैसे प्राप्त हो जाते ? यदि ये तुम्हारे स्वरूप नहीं अपि तु तुम्हारे होते तो प्रयोगके विना हो ये जहाँ चाहे कैसे चले जाते ? अतः मोहनीय पिशाचके आवेशको दूर हटा ठीक ठीक देखनेकी चैष्टा कर ॥ ९॥

दोहा—दिशा देशसे आयकर, पक्षी वृक्ष बसन्त । प्रात होत निज कार्यवंश, इन्छित देश उड्न्त ॥ ९ ॥

उत्थानिका—आचार्य आगेके क्लोकमें शत्रुओके प्रति होनेवाले भावोको 'ये हमारे शत्रु है' 'अहितकर्ता है' आदि अज्ञानपूर्ण बतलाते हुए उसे दृष्टान्तद्वारा समझाते हैं, साथ ही ऐसे भावो-को दूर करनेके लिये प्रेरणा भी करते हैं :—

विराधकः कथं हन्त्रे, जनाय परिकुप्यति । त्र्यंङ्गुलं पातयन् पद्भ्यां स्वयं दण्डेन पात्यत ॥ १० ॥

अन्वय-विराधकः कथ हन्त्रे जनाय परिकृत्यति, त्र्यङ्गुल पद्भ्यां पातगन् दण्डेन स्वयं पात्यते ।

टीका--कथमित्यरुची, न श्रद्द्धे कथं परिकृष्यति समन्तात् कुष्यति । कोऽसी, विराधक. अपकारकत्तीं जनः । कस्मै, हरत्रे जनाय प्रत्यपकारकाय छोकाय । "सुखं वा यदि वा दुःखं, येन यश्चकृतं भृवि । अवाष्नोति स तत्तस्मादेष मार्गः सुनिव्चितः ॥"

इत्यभिधानादन्याय्यमेतदिति भावः । अत्र दृष्टान्तमाचध्दे । अड्गुलमित्यादि । पात्यते भूमौ क्षिप्यते ।

१ पराधीनतया । २ अयुक्तं ।

कोऽसौ, यः किञ्चदसमीक्ष्येकारी जनः । केन, दण्डेन हस्तवार्यकाष्टेन । कथं, स्वयं पारयप्रेरणमन्तरेणैय । किं कुर्वन्, पातयन् भूमिं प्रति नामयन् । किं तत्, त्यहगुळं अह्गुलित्रयाकार कचावाकर्पणावयवम् । काम्यां, पद्भचाँ पादाम्या ततोऽहिते प्रीतिरहिते चाप्रीतिः स्वहितैषिणा प्रेक्षावता न करणीया ।

अत्र विनेयः पृच्छति । हिताहितयो रागहेपौ कुर्वन् कि कुरुते इति दारादिषु रागं शत्रुषु च हेपं कुर्वाणः पुरुप किमारमनेहित कार्यं करोति येन तावत् कार्यतयोपदिश्यते इत्यर्थः । क्षत्राचार्यः समाधते,—

क्षर्थ—जिसने पहिले दूसरेको सताया या तकलीफ पहुँचाई है ऐसा पुरुप उस सताये गये और वर्तमानमे अपनेको मारनेवालेके प्रति क्यों गुस्सा करता है ? यह कुछ जँचता नहीं । अरे ! जो व्यङ्गुलको पैरोसे गिरायगा वह दंडेके द्वारा स्वयं गिरा दिया जायगा ।

विज्ञदार्थ —दूसरेका अपकार करनेवाला मनुष्य, बदलेमे अपकार करनेवालेके प्रति क्यो हर तरहते कुषित होता है ? कुछ समझमें नही आता।

भाई! सुनिहिचत रोति या पद्धित यही है कि संसारमें जो किसीको सुख या दु.ख पहुँ-चाता है, वह उसके द्वारा सुख और दु खको प्राप्त किया करता है। जब तुमने किसी दूसरेकों दु:ख पहुँचाया है तो बदलेमें तुम्हें भी उसके द्वारा दु:ख मिलना ही चाहिये। इसमें गुस्सा करनेकी क्या बात है? अर्थात् गुस्सा करना अन्याय है, अयुक्त है। इसमें दृष्टात देते हैं कि जो विना विचारे काम करनेवाला पुरुप है वह तीन अंगुलीके आकार वाले कूडा कचरा आदिके समेटनेके काममें आनेपाले 'अंगुल' नामक यंत्रको पैरोसे जमीनपर गिराता है तो वह विना किसी अन्यकी प्रेरणाके स्वय ही हाथमें पकडे हुए डडेसे गिरा दिया जाता है! इसलिये अहित करनेवाले व्यक्तिके प्रति, अपना हित चाहनेवाले बृद्धिमानोको, अग्रीति, अप्रेम या द्वेष नहीं करना चाहिये॥ १०॥

दोहा--अपराघी जन क्यों करे, हन्ता जनपर क्रोध । दो पग अंगुल महि नमे, आपहि गिरत अवोध ॥ १०॥

यहाँपर जिध्य प्रक्न करता है कि स्त्री आदिकोमे राग और शत्रुओमे द्वेप करनेवाला पुरुष अपना क्या अहित-विगाड करता है? जिससे उनको (राग-द्वेपोको) अकरणोय-न करने लायक बतलाया जाता है? आचार्य समाधान करते है —

रागद्वेषद्वयीदीर्घ नेत्राकर्षणकर्मणा । अज्ञानात्सुचिरं जीवः, संसाराब्धी अमत्यसौ ॥ ११ ॥

अस्वय-असौ जीव अज्ञानात् रागद्वेषद्वयीदीर्घनेत्राकर्पणवर्मणा संसाराव्यी सुचिरं भ्रमति ।

टीका — अगित संसरित । कोऽसी, असी जीवस्चेतन' । वन, ससाराज्यो ससार द्रव्यपरिवर्तनादिरूपो मबोऽदिय समृद्र इव दु खहेतुरवाद् दुस्तरस्वाच्च तस्मिन्। कस्मात्, अज्ञानात् वेहादिष्वात्मविश्रमात्। कियरकालं, सुनिरं अन्दिोर्धकालम् । केन, रागेत्यादि । राग इष्टे वस्तुनि प्रीति द्रेषश्चानिष्टेऽपीतिस्तयोद्वयी । रागद्वेपयो काक्तिव्यक्तिरूपतया युगपत् प्रवृत्तिज्ञापनार्थं द्वयोग्रहणं, जोयदोपाणा च तद्हयप्रतिवद्धस्वयोधनार्थं। तथा चोक्तम् —

"यत्र राग. पदं घत्ते, द्वेपस्तजेति निश्चय । उभावेतौ समालम्ब्य, विक्रमत्यविकं मन. ॥"

अपि च । आत्मिन सित परसंज्ञा स्वपरिविभागात् परिम्रहृद्वेषो । अनयो सप्रतिवद्धाः सर्वे दोपाश्च जायन्ते । सा दीर्घनेत्रायतमन्याकर्पणपाञ्च इव भ्रमणहेतुत्वात्तस्यापकर्पणकर्मजीवस्य रागादिरूपत्या परिणमन

१ अविचार्यकार्यकर्ता । २ पण्डितेन ।

नेत्रस्यापकर्षणत्वाभिमुखानयनं तेन अत्रोपमानभूतो मन्यदण्ड आक्षेप्यस्तेन यथा नेत्राकर्पणव्यापारे मन्याचलः समृद्रे सुचिरं भ्रान्तो लोके प्रसिद्धस्त्वणा स्वपरिववेकानववोधात् यदुद्भूतेन रागादिपरिणामेन कारणकार्योपचा-रात्तक्जिनतकर्मवन्धेन संसारस्यो जीवो अनादिकालं संसारे भ्रान्तो अमित अमिष्यित । अमितीत्यविष्ठिप्ते पर्वता इत्यादिवत् नित्यप्रवृत्ते लटा विधानात् । उक्तं च ।

"जो खलु संसारत्यो, जीवो तत्तो दु होदि परिणामो। परिणामादो कम्मं, कम्मादो हवदि गदि सु गदी ॥१२८॥ गदिमधिगदस्स देहो, देहादो इंदियाणि जायंते । तेहिं दु विसयगहर्ण, तत्तो रागो व दोसो वा ॥ १२९ ॥ जायदि जीवस्सेवं, भावो संसारचक्कवालिम । इदि जिणवरेहिं मणिदो, अणादिणिधणो सणिधणो वा"॥१३०॥ पंचास्तिकाय । २ ॥

क्षय प्रतिपाद्यः पर्यमुँगुड्कः । तस्मिन्नपि यदि सुखी स्यात् को दोप इति भगवन् संसारेपि, न कैवरुं मोक्ष इत्यपिशब्दार्थः । चेज्जीव सुखयुक्तो भवेन् तिह को न किचन् दोषो दुष्टरवं संसारस्य सर्वेषा सुखस्यैव आसुमिष्टत्वात् येन संसारच्छेदाय सन्तो यतेरिन्नत्यत्राह । वत्स !

अर्थ-यह जोव अज्ञानसे रागद्वेषरूपी दो लम्बी डोरियोको खीचतानीसे संसाररूपी समुद्रमे वहत कालतक घूमता रहता है-परिवर्तन करता रहता है।

विश्वादार्थ — द्रव्य, क्षेत्र, काल, भन, भावरूप पचपरावर्तनरूप संसार जिसे दु:सका कारण और दुस्तर होनेसे समुद्रके समान कहा गया है, उसमे अज्ञानसे-शरीरादिकोमें आत्मभ्रांतिसे-अति-दीर्घ कालतक घूमता (चनकर काटता) रहता है। इष्ट वस्तुमे प्रीति होनेको राग और अनिष्ट वस्तुमें अप्रीति होनेको होष कहते है। उनकी श्रक्ति और व्यक्तिरूपसे हमेशा प्रवृत्ति होती रहती है, इसिलये आचार्योने इन दोनोको जोड़ी बतलाई है। बाकीके दोष इस जोड़ीमे ही शामिल है, जैसा कि कहा गया है:—"यत्र रागः पदं धत्ते॰"

"जहाँ राग अपना पांव जमाता है, वहा द्वेष अवस्य होता है या हो जाता है, यह निश्चय है। इन दोनो (राग-द्वेप) के आलम्बनसे मन अधिक चंचल हो उठता है। और जितने दोष है, वे सब राग-द्वेषसे संबद्ध है," जैसा कि कहा गया है—"आत्मिन सित परसजा०"

"निजस्वके होनेपर परका ख्याल हो जाता और जहाँ निज-परका विभाग (भेद) हुआ वहाँ निजमे रागरूप और परमे द्वेपरूप भाव हो ही जाते हैं। बस इन दोनोके होनेसे अन्य समस्त दोष भी पैदा होने लग जाते है। कारण कि वे सब इन दोनोके ही आश्रित है।"

वह राग-देवकी जोडी तो हुई मंथानीके डंडेको घुमानेवाली रस्सोके फांसाके समान और उसका घूमना कहलाया जीवका रागादिरूप परिणमन। सो जैसे लोकमे यह बात् प्रसिद्ध है कि नेतरी-के खीचा-तानीसे जैसे मंथराचल पर्वतको समुद्रमें बहुत कालतक भ्रमण करना पड़ा। उसी तरह स्वपर विवेकक्षान न होनेसे रागादि परिणामोके द्वारा जीवात्मा अथवा कारणमे कार्यका उपचार करनेसे, रानादि परिणामजनित कर्मबंधके द्वारा बँघा हुआ संसारीजीव, अनादिकालसे संसारमे घूम रहा है, घूमा था और घूमता रहेगा। मतलब यह है कि 'रागादि परिणामरूप भावकमेंसि द्रव्यक्मोंका वन्ध होता' ऐसा हमेशासे चला आ गहा है और हमेशा तक चलता रहेगा। सम्भव है कि किसी जीवके यह एक भी जाय। जैसा कि कहा गया है :—"जो खलु संसारत्यो०"

१ वर्तमानात् । २ शिष्यः पुच्छति ।

"जो संसारमें रहनेवाला जीव है, उसका परिणाम (रागद्वेप बादिरूप परिणमन) होता है, उस परिणामसे कर्म वैवते हैं। बैंचे हुए कर्मोंके उदय होनेसे मनुष्यादि गतियोंने गमन होता है, मनुष्यादि गतियोंने गमन होता है, मनुष्यादि गतियों प्राप्त होनेवालेको (बीदारिक बादि) बरीरका जन्म होता है, उसरे होनेसे इंद्रियोको रचना होती है, इन इद्रियोंसे विपयों (रूप रसादि) का ग्रहण होता है, उससे फिर राग खीर हेष होने लग जाते है। इस प्रकार जीवका संसाररूपी चक्रवालमें भवपरिणमन होता रहता है, ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है। जो अनादिकालसे होते हुए अनन्तकालतक होता रहेगा, हाँ, किन्ही भवपजीवोके उसका अन्त भी हो जाता है।"॥ ११॥

दोहा—मथत दूध डोरोनितें, वंड फिरत वहु वार । राग हेंय अज्ञानसे, जीव भ्रमत संसार ॥ ११ ॥

जत्थानिका—यहाँपर शिष्य पूछता है कि स्वामिन् ! माना कि मोक्षमे जीव सुखी रहता है। किन्तु ससारमें भी यदि जीव सुखी रहे तो क्या हानि है?-कारण कि संसारके सभी प्राणी सुखको ही प्राप्त करना चाहते है। जब जीव ससारमें ही सुखी हो जाँय तो फिर ससारमें ऐसी क्या खराबी है? जिससे कि सत पुरुष उसके नाश करनेके लिये प्रयत्न किया करते है? इस विषयमें आचार्य कहते है-हे वतस—

विपद्भवपदावर्ते, परिकेशातियासते । यावत्तावद्भवन्त्यन्याः, प्रसुरा विपदः पुरः ॥ १२ ॥

अन्वय—यावत् भवपदावर्ते पदिका इव विपत् अतिवाह्यते तावत् अन्याः प्रचुराः विपदः पुरः भवन्ति ।

टीका - यावदितवाहाते अतिक्रम्यते । प्रेयंते । कासौ, विषत् सहज्ञारीरमानसागन्तुकानामापदा मध्ये या काष्येका विवक्षिता आपत् । जीवेनेति शेषः । वन, भवपदावर्ते भव. संसारः पदावर्त इव पादचाव्यघटी- यन्त्रमित्र भूयोभूयः परिवर्तमानस्वात् । केव, पदिकेव पादाकान्तदिष्टिका यथा तावद्भवन्ति । का, अन्या अपूर्वा प्रचुरा वह्यो विषदः आपदः पुरो अग्रे जोवस्य यदि । का इव, काछिकस्येति सामर्ध्यदुव्या । अतो जानीहि दुःर्वंकितवन्द्यनविवित्तिनरन्तरत्वात् संसार अवस्यावनाश्यत्वम् ।

पुन. श्रिष्य एवाह । न सर्वे विषद्धन्त; ससंपदोपि दृश्यन्त इति अगवन् समस्ता अपि ससारिणो न विपत्तियुक्ताः सन्ति सश्रीकाणामपि केषाचिद् दृश्यमानत्वादित्यत्राह,—

अर्थ—जबतक संसाररूपी पैरसे चलाये जानेवाले घटीयत्रमें एक पटलो सरीखी एक विपत्ति भुगतकर तय की जाती है कि उसी समय दूसरी दूसरी बहुतसी विपत्तियाँ सामने आ उपस्थित हो जाती है।

विश्वादार्थ — पैरसे चलाये जानेवाले घटीयंत्रेंको पदावर्त कहते है, क्योंकि उसमे बार वार परिवर्तन होता रहता है। सो जैसे उसमे पैरसे दबाई गई लकड़ी या पटलीके व्यतीत हो जानेके बाद दूसरी पटलियाँ आ उपस्थित होती है, उसी तरह संसाररूपी पदावर्तमे एक विपत्तिके बाद दूसरी बहुतसी विपत्तियाँ जीवके सामने आ खड़ी होती है।

९ व्याकस्मिकागत । ३ एक यत्रविश्चेप जो पानी उलीचनेके काम स्नाता है ।

१५

इसिलये समझो कि एकमात्र दुःखोंकी कारणोभूत विपत्तियोंका कभी भी अन्तर न पड़नेके कारण यह संसार अवस्य ही विनाश करने योग्य है। अर्थात् इसका अवस्य नाश करना चाहिए॥ १२॥

दोहा—जबतक एक विषद टले, अन्य विषद बहु आय । परिका जिमि घटियंत्र में, बार बार भरमाय ॥ १२ ॥

फिर शिष्यका कहना है कि, भगवन् ! सभी संसारी तो विपत्तिवाले नही है, बहुतसे सम्पत्ति-वाले भी दोखनेमे आते हैं । इसके विषयमें आचार्य कहते हैं:—

दुरज्येनासुरक्ष्येण, नश्चरेण धनादिना । स्वस्थंमन्यो जनः कोऽपि, ज्वरवानिव सर्पिपा ॥ १३ ॥

अन्वयः--ज्वरवान् सर्पिपा इव कोऽपि जनः दुररुर्येन असुरक्ष्येण घनादिना स्वस्थंमन्यः (भवति)।

टीका— मवित । कोसी, जनो लोकः । किविशिष्टः, कोपि निविवेको न सर्वः । किविशिष्टः भवित्, स्वस्यं सन्यः स्वस्यमात्मानं मन्यमानो अह सुखोति मन्यत इत्यर्थः । केन कृत्वा, धनाविता द्रव्यकामिन्यादीष्ट-वस्तुजातेन । किविशिष्टेन, दुर्ज्येन अपायबहुलत्वात् दुष्यांनावेशाच्च दुःखेन महता कष्टेनाजित इति दुर्ज्येन त्या असुरक्ष्येण वुस्त्राणेन यत्ततो रक्ष्यमाणस्याप्यपायस्यावस्यभावित्वात् । तथा नश्वरेण रक्ष्यमाणस्यापि विनाशसंभवादशाश्वतेन । अत्र दृष्टान्तमाह । ज्वरेत्यादि । इव शक्यो यथार्थे यथा कोऽपि मुखो ज्वरवान् अतिशयेन मतिविनाशात् सामज्वरार्तः सिप्पा घृतेन पानाद्यप्युक्तेन स्वस्थंमन्यो भवित । निरामयमात्मानं मन्यते ततो वुद्धयस्य दुष्पाज्यद्वरुद्धणयहुपुरद्वयादिना दुःखमेन स्यात् । उक्तं च —

''अर्थस्योपार्जने दु.खर्माजतस्य च रक्षणे । आये दु:खं न्यये दु:खं, धिगर्थं दु.खभाजनम् ॥''

''भूयोपि विनेयः पृच्छति।'' एनविधा संपदा कथं न त्यजतीति। अनेन दुरर्जत्वादिप्रकारेण लोकद्वयेऽपि दु.खदां धनादिसंपत्ति कथं मुख्यति न जनः। कथमिति विस्मयगर्भे प्रश्ते। अत्र गुरुरुत्तरमाहः;—

अर्थ-जैसे कोई ज्वरवाला प्राणी घीको खाकर या विषड़ कर अपनेको स्वस्थ मानने लग जाय उसी प्रकार कोई एक मनुष्य मुश्किलसे पैदा किये गये तथा जिसकी रक्षा करना कठिन है और फिर भी नष्ट हो जानेवाले हैं, ऐसे घन आदिकोंसे अपनेको सुखी मानने लग जाता है।

विश्वदार्थं — जैसे कोई एक भोला प्राणी जो सामज्वर (ठड देकर आनेवाले वृखार) से पीड़ित होता है, वह वृद्धिके ठिकाने न रहनेसे — वृद्धिके बिगड़ जानेसे घी को खाकर या उसकी मालिश कर लेनेसे अपने आपको स्वस्व-नीरोग मानने लगता है, उसी तरह कोई कोई (सभी नहीं) धन, दौलत, स्त्री आदिक जिनका कि उपाजित करना कठिन तथा जो रक्षा करते भी नष्ट हो जानेवाले हैं — ऐसे इष्ट वस्तुओं में अपने आपको 'मैं सुखी हूँ' ऐसा मानने लग जाते हैं, इसलिए समझो कि जो मृश्किलोसे पैदा किये जाते तथा जिनको रक्षा बडी कठिनाईसे होती है, तथा जो नष्ट हो जाते, स्थिर नहीं रहते ऐसे घनादिकोसे दु.ख ही होता है, जैसे कि कहा है — "अर्थस्यो-पाजेंने दु.खंल"

'धनके कमानेमें दुःख, रक्षा करनेमें दु ख, उसके जानेमे दु ख, इस तरह हर हालतमे दु.ख-के कारणरूप धनको धिक्कार हो'।

दोहा—कठिन प्राप्त संरक्ष्य ये, नश्वर घन पुत्रादि । इनसे सुखकी कल्पना, जिमि घृतसे ज्वर ज्याधि ॥ १३ ॥

शंका—िफर भी शिष्य पूछता है कि वडे आश्चर्यकी वात है कि जत्र 'मुश्किलोसे कमायी जाती' आदि हेतुओसे बनादिक सम्पत्ति दोनों लोकोंमें दुःख देनेवाली है, तब ऐसी सम्पत्तिको लोग छोड़ बयो नहीं देते ? आचार्य उत्तर देते हैं—

विपत्तिमात्मनो मृदः, परेपामिव नेक्षते । दद्यमानमृगाकीर्णवनान्तरतरुस्यवत् ॥ १४ ॥

अन्वय-दह्ममानमृगाकीर्णनान्तरतरुस्थवत् मूढ परेपामिव आत्मनो विपत्ति नेक्षते ।

टीका —नेदाते न पश्यति । कोऽनी, मूढां घनावासयस्या लुप्तवियेको लोगः । का, विपत्ति चीराविना क्रियमाणा घनापहाराद्यायदा । कम्य, आत्मनः स्पस्य । कैपामिव, परेपामिव । यया इमे विषदा वाक्रम्यन्ते तयाहमप्याक्रन्तव्य इति न विवेचयतीत्यर्थः । क इय, प्रदह्यमानैः दावानलज्वालाविभिर्मस्गीक्रियमाणैर्मृगैर्हरिणा-दिभिराकीर्णस्य संकुलस्य वनस्यान्तरे मध्ये वर्तमान । स तरु यूदामारूढी जनो यथा आत्मनो मृगाणामिव विपत्ति न पश्यति ।

पुनराह शिष्यः कृत एतदिति, भगवन् कस्माद्धेतोरिदं सिन्निहिताया अपि विपदो अदर्शनं जनस्य । गुरुराह । लोमादिति, वसा धनादिगाध्यिःपुरोनितिनोयप्यापदं घनिनो न पस्यिन्त ॥ १४ ॥ यतः—

अर्थ — जिसमें अनेकों हिरण दावानलको ज्वालासे जल रहे है, ऐसे जंगलके मध्यमे वृक्षपर वैठे हुए मनुष्यको तरह यह संसारो प्राणी दूसरोको तरह अपने कपर आनेवाली विपक्तियोका ख्याल नहीं करता है।

विश्वतार्थं—धनादिकमें आसिक होनेके कारण जिसका विवेक नष्ट हो गया है, ऐसा यह मूढ प्राणी चोरादिकके द्वारा को जानेवाली, धनादिक चुराये जाने आदिरूप अपनी आपित्तको नहीं देखता है, अर्थात् वह यह नहीं ख्याल करता कि जैसे दूसरे लोग विपत्तियोंके शिकार होते हैं, उसी तरह में भी विपत्तियोंका शिकार वन सकता हूँ। इस वनमें लगी हुई यह आग इस वृक्षको और मुझे भी जला देगी। जैसे ज्वालानलकी ज्वालाओंसे जहां अनेक मृगगण झुलस रहे हैं—जल रहे हैं, उसी वनके मध्यमें मोजूद वृक्षके ऊपर चढा हुआ आदमी यह जानता है कि ये तमाम मृगगण ही घवरा रहे हैं—लल्टपटा रहे हैं, एवं मरते जा रहे हैं, इन विपत्तियोंका मुझसे कोई संवंध नहीं है, मैं तो सुरक्षित हूँ। विपत्तियोंका सम्बन्ध दूसरोकी सम्पत्तियोंसे हैं, मेरी सम्पत्तियोंसे नहीं है। १४॥

दोहा—परकी विपदा देखता, अपनी देखे नाहि। जलते पशु जा वन विषें, जड़ तरुपर ठहराहि॥ १४॥

फिर मी शिष्यका कहना है कि हे भगवन् ! क्या कारण है कि लोगोको निकट आई हुई भी विपत्तियाँ दिखाई नही देती ? आचार्य जवाब देते हैं—"लोभान्" लोभके कारण, हे क्स ! धनादिककी गृद्धता-आसक्तिसे धनी लोग सामने आई हुई भी विपत्तिको नही देखते हैं, कारण कि-

१ अग्रतः स्थितामपि ।

आयुर्वेद्धिक्षयोत्कर्पहेतुं, कालस्य निर्ममम् । वाञ्छतां धनिनामिष्टं, जीवितात्सुतरां धनम् ॥१५॥

अन्वय---आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्पहेतुं कालस्य निर्गमं वाञ्छतां घनिनां जीविताद् घनं सुतरां इष्टम् ।

टीका-चर्तते । किं तद्धनं । किविशिष्टं, इष्टमिभमतं । कथं, सुतरां अतिशयेन कस्माज्जीविता-रगाणेम्य. । केपा, धीनना । किं कुर्वता, वाञ्छता । कं, निर्गमं अतिशयेन गमनं । कस्य, कालस्य । किविशिष्टं, आयुरित्यादि । आयुःसयस्य वृद्धधुत्कर्षस्य च कालान्तरवद्धनस्य कारणम् । अयमर्थो, धनिना तथा जीवितव्य नेष्टं यथा धनं । कथमन्यथा जीवितक्षयकारणमिष धनवृद्धिहेतुं कालनिर्गमं वाञ्छन्ति । अतो धिम्धनम् एवंविधन्यामोहहेतुत्वात् ॥ १५ ॥

क्षत्राह शिष्यः । कथं धन निन्दां येन पुण्यमुपाज्यंते इति पात्रदानदेवार्चनादिकियायाः पुण्यहेतोर्धनं विना क्षसंभवात् पुण्यसाधनं धनं कथं निन्दां, किं तर्हि प्रशस्यमेवातो यथाकथंचिद्धनपुपाज्यं पात्रादौ च नियुज्य सुखाय पुण्यमुपार्जनीयमित्यत्राह—

अर्थ — कालका व्यतीत होना, आयुके क्षयका कारण है और कालान्तरके माफिक व्याजके बढ़नेका कारण है, ऐसे कालके व्यतीत होनेका जो चाहते हैं, उन्हें समझना चाहिये कि अपने जीवनसे धन ज्यादा इष्ट है।

विश्वदार्थ—मतलव यह है कि घनियोको अपना जीवन उतना इष्ट नही, जितना कि घन । घनी चाहता है कि जितना काल बीत जायगा, उतनी ही व्याजको आमदनी बढ जायगी । वह यह ख्याल नही करता कि जितना काल बीत जायगा उतनी ही मेरी आयु (जीवन) घट जायगी । वह धनवृद्धिके ख्यालमें जीवन (आयु) विनाशकी ओर तिनक भी लक्ष्य नही देता । इसिलये मालूम होता है कि घनियोको जीवन (प्राणों) की अपेक्षा घन ज्यादा अच्छा लगता है । इस प्रकारके व्यामोहका कारण होनेसे घनको धिक्कार है । १९॥

दोहा—आयु क्षय धनवृद्धिको, कारण काल प्रमान। चाहत हैं धनवान घन, प्राणनितें अधिकान ॥१५॥

यहाँपर शिष्यका कहना है कि धन जिससे पुण्यका उपाजन किया जाता है, वह निद्य-निदाके योग्य क्यों है ? पात्रोंको दान देना, देवकी पूजा करना, आदि क्रियायें पुण्यकी कारण है, वे सब धनके विना हो नहीं सकती । इसिल्ये पुण्यका साधनरूप धन निद्य क्यों ? वह तो प्रशंस-नीय ही है । इसिल्ये जैसे वने वैसे धनको कमाकर पात्रादिकोंमें देकर सुखके ल्यि पुण्य संचय करना चाहिये। इस विषयमें आचार्य कहते है—

त्यागाय श्रेयसे विचमविचः संचिनोति यः । स्वश्रीरं स पङ्केन, स्नास्यामीति विलिम्पति ॥१६॥

अन्वय—यः अवित्तः श्रेयसे त्यागाय वित्तं संचिनोति स "स्नास्यामि" इति स्वशरीरं पङ्कोन विलिम्पति ।

टीका—योऽवित्तो निर्धनः सन् धनं संचिनोति सेवाकृष्यादिकर्मणोपार्जयति । कि तहित्तं घनं । कस्मै, त्यागाय पात्रदानदेनपूजाद्यर्थ, त्यागायत्यस्य देवपूजाद्यप्लक्षणार्थत्वात् । कस्मै त्यागः, श्रेयसे अपूर्वपुष्याय इ पूर्वोपात्तपापक्षयाय । यस्य नु चक्रवत्यदिरियायत्तेन धनं मिध्यति म तेन श्रेयोञ्चे पात्रदानादिकमिन करोत्विति भावः । स कि करोतीत्याह्—विलिम्पति विलेषनं करोति । कोऽमी, सः । कि तत्स्यवारीर । नैन, पङ्केन कर्रमेन । कर्ष क्रत्येत्याह् । स्नास्यामीति । स्वयमर्थो, यथा कश्चित्रमंत्राङ्गे स्नानं करिष्यामीति वर्द्धेन विलिम्पन्नसेमीक्षकार्श्वो तथा पापेन धनमुपार्व्य पात्रदानादियुष्येन क्षयिष्यामीति धनार्जनं प्रवर्तमानोऽपि । न च गुद्धवृत्त्या कस्यापि धनार्जनं संगवित । तथा चोक्तम्—

"शुद्ध धेनीविषधंन्ते, सतामपि न संपदः । न हि स्वच्छान्बुभिः पूर्णाः, कदाचिदपि सिन्धवः" ॥ ४५ ॥ --- सारमानुशासनं ।

पुनराह थिष्य भोगोपभोगायेति । भगवन् यथेवं वनार्जनस्य पापप्रायतया दु'लहेतुर्रा वनं निशं तर्हि धनं विना सुपहेतोभोंगोपभोगस्यासंभवात्तरयं घनं स्यादिति प्रवास्यं भविष्यति । भोगो भोजनताम्यूलादिः । जपभोगो वस्तुकामिन्यादि । भोगाध्योपभोगाध्य भोगोपभोगं तस्मै । अत्राह गुरुः । तदिप नेति न केवलं पृष्य-हेतुत्रया घनं प्रशस्यमिति यस्वयोक्तं तदुक्तरीरया न स्यात् । कि तर्हि भोगोपभोगार्थं तत्साधनं प्रशस्यमिति । यस्वया संप्रस्युच्यते तदिष न स्यात् । कृत दित चेत्, यसः ॥ १६ ॥

अर्य —जो निर्धन, पुण्यप्राप्ति होगी उसल्यि दान करनेके लिये धन कमाता या जोड़ता है, वह 'स्नान कर लूंगा' ऐसे स्थालसे अपने अरोरको कोचटमे लपेटता है!

अर्थ—जो निर्धन ऐसा ख्याल करे कि 'पात्रदान, देवपूजा आदि करनेसे नवीन पुण्यकी प्राप्ति और पूर्वोपांजित पापकी हानि होगी, इसिलये पात्रदानादि करनेके लिये चन कमाना चाहिये', नौकरी खेती आदि करके घन कमाना है, समझना चाहिये कि वह 'स्नान कर डालूँगा' ऐसा विचार कर अपने जरीरको कीचडसे लिस करता है। स्पष्ट यह है कि जैसे कोई आदमी अपने निर्मल अंगको 'स्नान कर लूँगा' का ख्याल कर कीचडसे लिस कर डाले, तो वह वेवकूफ ही गिना जायगा। उसी तरह पापके द्वारा पहिले धन कमा लिया जाय, पीछे पात्रदानादिके पुण्यसे उसे नष्ट कर डालूँगा, ऐसे ख्यालसे घनके कमानेमें लगा हुवा व्यक्ति भी समझना चाहिये। सस्कृत-टीकामे यह भी लिखा हुआ है कि चक्रवर्ती आदिकोकी तरह जिसको चिना यरन किये हुए धनकी प्राप्ति हो जाय तो वह उस घनसे कल्याणके लिये पात्रदानादिक करे तो करे।

फिर किसीको भी धनका उपार्जन, शुद्ध वृत्तिसे हो भी नहीं सकता जैसा कि श्रीगुणभद्रा-चार्यने आरमानुशासनमें कहा है—"शुद्धैधैनैविवधँन्वे०"

अर्थ-"सरपुष्तिकी सम्पत्तियाँ, शुद्ध ही शुद्ध धनसे बढती हैं, यह बात नहीं है। देखों, नदियाँ स्वच्छ जलसेही परिपूर्ण नही हुआ करती है। वर्षामे गँदले पानीसे भी भरी रहती है"।१६।

> दोहा—पुण्य हेतु दानादिको, निर्धन घन संचेय । स्नान हेतु निज तन जुघी, कीचड़से लिम्पेय ॥१६॥

उत्थानिका—िफर शिष्य कहता है कि भगवन्। घनके कमानेमें यदि ज्यादातर पाप होता है, और दु.खका कारण होनेसे घन निद्य है, तो घनके विना भोग और उपभोग भी नही हो सकते, इसिल्ये उनके लिये घन होना ही चाहिये, और इस तरह धन प्रश्नंसनीय माना जाना चाहिये। इस विपयमे आचार्य कहते है कि 'यह बात भी नही है' अर्थात् 'पुण्यका कारण होनेसे घन प्रश्नसनीय है,' यह जो तुमने कहा था, सो वैसा ख्याल कर घन कमाना उचित नही, यह पहिले ही बताया जा चुका है। 'भोग और उपभोगके लिये घन साघन है,' यह जो तुम कह रहे हो, सो भी वात नहीं है, यदि कहो क्यों ? तो उसके लिये कहते हैं:—

आरम्मे तापकान्प्राप्तावऽतृप्तिप्रतिपादकान् । अन्ते सुदुस्त्यजान्, कामान् कामं कः सेवते सुधीः ॥१७॥

अन्वय---आरम्भे तापकान् प्राप्ती अतृप्तिप्रतिपादकान् अन्ते सुदुस्त्यजान् कामान् कः सुधीः कामं सेवते ।

टोका-को, न कश्चित् सुघीविद्यान् सेवते इन्द्रियप्रणालिकयानुभवित । कान्, भोगोपभोगान् । स्वतं च--

"तदास्वे सूखसंजेषु, भावेष्वज्ञोऽनुरुष्यते । हितमेवानुरुष्यन्ते, प्रपरीच्य परीक्षकाः ॥"

कथं सूतान्, तापकान् देहेन्द्रियमन.क्लेकहेतुन् । वव, आरम्भे उत्परयुपक्रमे । अन्नादिभोग्यद्रव्य-सपाद-नस्य क्रुण्यादिक्लेशबहुलताया सर्वजनसुप्रसिद्धत्वात् । तिह् भुज्यमानाः कामाः सुखहेतवः संसूतिसेव्यास्ते इत्याह, प्राप्तावित्यादि । प्राप्तौ इन्द्रियेण संबन्धे सति अतृष्तेः सुतृष्णायाः प्रतिपादकान् दायकान् । उवतं च---

"अपि संकृतिपताः कामाः, संभवन्ति यथा यथा । तथा तथा मनुष्याणा, तृष्णा विश्वं विसर्पति ।"

त्तिंह यथेष्टं भुनस्वा तृष्तेषु तेषु तृष्णा खंतापः साम्यतीति सेन्यास्ते इत्याह । अन्ते सुदुस्त्यजान् भुक्ति-प्रान्ते त्यनतुमशन्यकान् । सुभुनतेष्वपि तेषु मनोध्यतिपङ्गस्य दुनिवारस्वात् । उनतं च—

"दहनस्तृणकाष्ठसचयैरिप, तृप्येदुदिघनंदीशतैः। न तु कामसुखैः पुमानहो, वलवत्ता सलु कापि कर्मणः।। अपि च—किमपीदं विषमयं, विषमतिविषमं पुमानयं येन। प्रसभमनुभूय मनोभवे भवे नैद चेत-यते॥''॥४॥—अनगारधर्मामृते पष्ठोऽध्यायः।

ननु तत्त्वविदोपि भोगानभूवतवन्तो न श्रूयन्त इति कामान् कः सेवते सुधीरित्युपदेशः कथं श्रव्धीयत इत्याह । कामिमिति । अत्यर्थं । इदमत्र तात्पर्थं चारित्रमोहोदयात् भोगान् त्यवतुमशवनुवन्नपि तत्त्वज्ञो हैय-रूपतया कामान्परयन्ने व सेवते । मन्दीभवन्मोहोदयस्तु ज्ञानवैराग्यभावनया करणप्रामं संयम्य सहसा स्वका-र्यागोत्सहंत एव । तथा चीवतम् ।

इदं फलमियं क्रिया करणमेवदेप क्रमो व्ययोऽयमनुपङ्गज फलमिदं दशेयं मम । अयं सुहृदयं द्विपन् प्रयितदेशकालाविमाविति प्रतिवितर्कयन् प्रयत्तते बुधो नेतरः ।— झानाणैने पृ० ७६, — सागारधर्मा-मृते पृ० १०।

. किंच यदर्थमेतदेवंविषमिति । भद्र यत्कायलक्षणं वस्तुसंतापाद्युपेतं कर्तुं प्रार्थ्यते तद्वस्यमाणलक्षण-मिरयर्थं । स एवंविष इति पाठः तद्यथा—

अर्थ-आरम्भमें सन्तापके कारण और प्राप्त होने पर अतृप्तिके करनेवाले तथा अन्तमें जो बड़ी मुक्तिकोंसे भी छोडे नहीं जा सकते, ऐसे भोगोपभोगोको कौन विद्वान्—समझदार-ज्यादती व आसक्तिके साथ सेवन करेगा ?

विज्ञदार्थ — भोगोपभोग कमाये जानेके समय, इंद्रिय और मनको क्लेश पहुँचानेका कारण होते हैं। यह सभी जन जानते हैं कि गेहूँ, चना, जौ आदि अज्ञादिक भोग्य द्रव्योके पैदा करनेके लिये खेती करनेमें एडीसे चोटोतक पसीना बहाना आदि दुःसह बलेश हुआ करते है। कदाचित् यह कहो कि भोगे जा रहे भोगोपभोग तो सुखके कारण होते हैं ! इसके छिये यह कहना है कि इन्द्रियोके द्वारा सम्बन्ध होनेपर वे अतृष्ति यानी वढी हुई तृष्णाके कारण होते हैं, जैसा कि कहा गया है—"अपि संकल्पिताः कामाः"

"ज्यो-ज्यों संकल्पित किये हुए भोगोपभोग प्राप्त होते जाते हैं, त्यों-त्यों मनुष्पोकी तृष्णा बढती हुई सारे लोकमें फैलती जाती है। मनुष्य चाहता है, कि अमुक मिले। उसके मिल जानेपर आगे वढ़ता है, कि अमुक और मिल जानेपर आगे वढ़ता है, कि अमुक और मिल जाय। उसके भी मिल जानेपर मनुष्पकी तृष्णा विश्वके समस्त ही पदार्थोंको चाहने लग जाती है कि वे सब ही मुझे मिल जाय। परतु यदि यथेष्ट भोगो-पभोगोंको भोगकर तृप्त हो जाय तब तो तृष्णारूप सन्ताप ठण्डा पड़ जायगा! इसिलये वे सेवन करने योग्य है। आचार्य कहते है कि वे भोग लेनेपर अन्तमे छोड़े नहीं जा सकते, अर्थात् उनके खूब भोग लेनेपर भी मनकी आसिक नहीं हटती," जैसा कि कहा भी है—

"दहनस्तृणकाष्ठसंचयैरपि०"

"यद्यपि अरिन, घास, लकड़ी आदिके ढेरसे तृप्त हो जाय। समुद्र, सेकड़ो निवयोसे तृप्त हो जाय, परंतु वह पुरुष इच्छित सुखोंसे कभी भी तृप्त नही होता। अहो ! कमोंको कोई ऐसी ही सामर्थ्य या जबदंस्ती है।" और भी कहा है—"किमपीद विषयमयं°"

"अहो ! यह विषमयी विप कैसा गजबका विप है कि जिसे जबर्दस्वी खाकर यह मनुष्य, भव भवमें नहीं चेत पाता है।"

इस तरह आरम्भ, मध्य और अन्तमें क्लेश-तृष्णा एवं आसक्तिके कारणभूत इन भोगोप-भोगोंको कौन बुद्धिमान् इंद्रियरूपी निलयोसे अनुभवन करेगा ? कीई भी नहीं।

यहाँपर शिष्य शंका करता है कि तत्त्वज्ञानियोंने भोगोको न भोगा हो यह वात सुननेमें नहीं आती है। अर्थात् वड़े बड़े तत्त्वज्ञानियोंने भी भोगोको भोगा है, यही प्रसिद्ध है। तब 'भोगों- को कौन वृद्धि मान्य निवा जाय? इस वातपर कैसे श्रद्धान किया जाय? इस वातपर कैसे श्रद्धान किया जाय? आचार्य जवाब देते हैं—िक हमने उपर्युक्त कथनके साथ "काम अर्थ्यं " क्षांसिकिक साथ र्जविपूर्वंक यह भी विशेषण लगाया है। तारपर्य यह है कि चारित्रमोहके उदयसे भोगोंको छोडनेके लिये असमर्थ होते हुए भी तत्त्वज्ञानी पुरुष भोगोंको त्याज्य-छोडने योग्य समझते हुए ही सेवन करते हैं। और जिसका मोहोदय मंद पड़े गया है, वह ज्ञान-वैराग्यको भावनासे हुए ही सेवन करते हैं। बौर जिसका मोहोदय मंद पड़े गया है, वह ज्ञान-वैराग्यको भावनासे इन्द्रियोंको रोककर इन्द्रियोंको वशमें कर शीघ्र ही अपने (आत्म) कार्य करनेके लिये कियव्ध- त्यार हो जाता है—जैसा कि कहा गया है—"इदं फलमिय क्रियां के

"यह फल है, यह किया है, यह करण है, यह क्रम-सिलसिला है, यह खर्च है, यह आनुप-गिक (क्षपरी) फल है, यह मेरी अवस्था है, यह मित्र है, यह शत्र है, यह देश है, यह काल है, इन सब बातोंपर स्थाल देते हुए बुद्धिमान् पुरुप प्रयत्न किया करता है। मूर्छ ऐसा नहीं करता।" ॥१७॥

दोहा—भोगार्जंन दुःखद महा, भोगत तृष्णा बाढ़। अत त्यजत गुरु कष्ट हो, को बुघ भोगत गाढ़॥ १७॥

उत्थानिका—आचार्य फिर और भी कहते है कि जिस (काय) के लिये सब कुछ (भोगो-पभोगादि) किया जाता है वह (काय) तो महा अपवित्र है, जैसा कि आगे वताया जाता है—

भवन्ति प्राप्य यत्सङ्गमशुचीनि शुचीन्यपि । स कायः संततापायस्तदर्थं प्रार्थना वृथा ॥ १८ ॥

अन्वय--- प्रत्सङ्गं प्राप्य शुचीन्यपि अशुचीनि भवन्ति स कायः संततापायः तदर्थं प्रार्थना वृथा ।

टोका--वर्तते । कोऽसौ, सः कायः कारीरं । कि विशिष्टः, संततापायः नित्यक्षवाञ्चपतापः । स क इत्याह । यत्स येन कायेन सह संवन्धं प्राप्य छव्वा जूचीन्यिप पवित्राप्यिप भोजनवस्त्रादिवस्तृत्यश्चीनि भवन्ति यत्रश्चैनं ततस्तवर्थं तं संततापायं कार्यं शुचिवस्तुभिष्पकर्तुं प्रार्थना आकाङ्क्षा वृथा व्यथि केनचिदुपायेन निवारितेऽपि एकस्मिन्नपाये क्षणे यरापरापायोपनिपातसम्भवात् ।

पुनरप्याह शिष्यः—र्जाह धनाविनाप्यारभोपकारो भविष्यतीति । भगवन् संततापायतया कायस्य धना-दिना यद्युपकारो न स्यात्तीह् धनादिनापि न केवलपनशनावितपश्चरणेनेत्यपि शब्दार्थः । आत्मनो जीवनस्योप-कारोऽनुग्रहो भविष्यतीत्यर्थः । गुरुराह तन्नेति । यत्त्रया धनाविना आत्मोपकारभवनं संभाव्यंते तन्नास्ति ॥ १८ ॥ यतः—

अर्थ — जिसके सम्बंधको पाकर-जिसके साथ भिड़कर पिवत्र भी पदार्थ अपिवत्र हो जाते हैं, वह शरीर हमेशा अपायो, उपद्रव्यों, झंझटों, विघ्नों, एवं विनाशो कर सिंहत है, अतः उसको भोगोपभोगोंको चाहना व्यर्थ है !

विश्व विश्व क्षे चित्र क्षारीरके साथ संबन्ध करके पित्र एवं रमणीक भोजन वस्त्र आदिक पदार्थ अपित्र धिनावने हो जाते है, ऐसा वह क्षरीर हमेशा भूख-प्यास आदि संतापोंकर सिंहत है। जब वह ऐसा है तब उसको पित्र अच्छे-अच्छे पदार्थों से भला बनानेके लिये आकाक्षा करना व्यर्थ है, कारण कि किसी उपायसे यदि उसका एकाध अपाय दूर भी किया जाय तो क्षण-क्षणमे दूसरे-दूसरे अपाय आ खड़े हो सकते है।।१८॥

दोहा—शुचि पदार्य भी संग ते, महा अशुचि हो जॉय। विष्न करण नित काय हित, भोगेच्छा विफलाय॥ १८॥

उत्थानिका—फिर भी शिष्यका कहना है कि भगवन कायके हमेशा अपायवाले होनेसे यदि धनादिकके द्वारा कायका उपकार नहीं हो सकता, तो आत्माका उपकार तो केवल उपवास आदि तपश्चर्यासे ही नहीं बल्कि धनादि पदार्थोंसे भी हो जायगा।

आचार्य उत्तर देते हुए बोले, ऐसी बात नहीं है। कारण कि-

यज्जीवस्योपकाराय, तदेहस्यापकारकम् । यदेहस्योपकाराय, तज्जीवस्यापकारकम् ॥ १९ ॥

अन्वय---यत् जीवस्य उपकाराय तद् देहस्य अपकारकं (भवति), (तथा) यद् देहस्य उपकाराय तत् जीवस्य अपकारकं (भवति)।

दीका—यदनभगदि तपोऽनुष्ठानं जीवस्य पूर्वापूर्वपायक्षपणिनवारणाम्यामुपकाराय स्यात्तहेहस्याप-कारकं ग्लान्यादिनिमित्तत्वात् ाः यत्पुनर्घनादिकं देहस्य भोजनाष्ट्रपयोगेन क्षुषाष्ट्रपतापक्षयत्वादुपकाराय स्यात्त-ज्जीवस्योपार्जनादौ पापजनकत्वेन दुर्गतिः दुःखिनिमित्तत्वादपकारकं स्यादतो जानीहि घनादिना नोपकार-गन्धोप्यस्ति घर्मस्यैव तदुषकारत्वात् । अत्राह शिष्यः । तिहं कायस्योपकारिश्चन्त्यते इति भगवन् यद्येवं तिहं "वारीरमाध सलु धर्मसाधनम्" इत्यिभयानात्तस्यापीयनिरासाय यत्नः क्रियते । न च कायस्यापायनिरासो दुष्कर इति वाच्यम् । ध्यानेन तस्यापि सुकरत्यात् ॥ १९ ॥ तथा चोक्तम्—

"यदा त्रिकं फलं किचित्फलमामुनिकं च यत् । एतस्य द्वितयस्यापि, व्यानमेवाग्रकारणम् ॥" २१७॥ ---तस्वानुशासनं

साणस्स ण दुल्लहं किंपीति च-अत्र गुरु प्रतिपेधमाह तन्तेति । ध्यानेन कायस्योपकारो न चिन्त्य इत्यर्थः।

अर्थ—जो जीव (आत्मा) का उपकार करनेवाले होते है, वे शरीरका अपकार (वृश) करनेवाले होते है। जो चीजें शरीरका हित या उपकार करनेवाली होती है, वही चीजें आत्माका अहित करनेवाली होती है।

विश्ववार्थ—देखो जो अनशनादि तपका अनुष्ठान करना, जीवके पुराने व नवीन पापोको नाश करनेवाला होनेके कारण, जीवके लिये उपकारक है, उसकी भलाई करनेवाला है, वही आचरण या अनुष्ठान शरीरमें ग्लानि शिथिलतादि भावोको कर देता है, अतः उसके लिये अपकारक है, उसे कष्ट व हानि पहुँचानेवाला है। और जो घनादिक है, वे भोजनादिकके उपयोग द्वारा श्रुवादिक पोड़ाओको दूर करनेमे सहायक होते हैं। अतः वे शरीरके उपकारक हैं। किन्तु उसी घनका अर्जनादिक पापपूर्वक होता है। व पापपूर्वक होनेसे दुर्गतिके दु खोकी प्राप्तिके लिये कारणीभूत है। अत वह जीवका अहित या बुरा करनेवाला है। इसलिये यह समझ रक्खो कि घनादिकके द्वारा जीवका लेशमात्र भी उपकार नहीं हो सकता। उसका उपकारक तो धर्म ही है। उसीका अनुष्ठान करना चाहिये।

दोहा—आतम हित जो करत है, सो तनको उपकार। जो तनका हित करत है, सो जियको अपकार॥ १९॥

क्षयवा कायका हित सोचा जाता है, अर्थात् कायके द्वारा होनेवाले उपकारका विचार किया जाता है। देखिये कहा जाता है कि "शरीरमार्ध खलु धर्मसाधनम्" शरीर धर्म-सेवनका मुख्य साधन-महारा है। इतना ही नहीं, उसमें यदि रोगादिक हो जाते है, तो उनके दूर करनेके लिये प्रयत्न भी किये जाते है। कायके रोगादिक अपायोंका दूर किया जाना मुक्किल भी नहीं है, कारण कि ध्यानके द्वारा वह (रोगादिकका दूर किया जाना) आसानीसे कर दिया जाता है, जैसा कि तत्त्वानुशासनमें कहा है—"यत्रादिकं फलं किचित्"॥ १९॥

जो इस लोक सम्बन्धी फल है, या जो कुछ परलोक सम्बन्धी फल है, उन दोनो ही फलोंका प्रधान कारण ध्यान ही है। मतलब यह है कि "झाणस्स ण दुल्लह कि पीति च" ध्यानके लिये कोई भी व कुछ भी दुर्लभ नही है, ध्यानसे सब कुछ मिल सकता है। इस विषयमे आचार्य निषेध करते हैं, कि ध्यानके द्वारा कायका उपकार नही चितवन करना चाहिये—

इतश्चिन्तामणिर्दिच्य इतः पिण्याकखण्डकम् । ध्यानेन चेदुमे लभ्ये काद्रियन्तां विवेकिनः ॥२०॥ अन्वय—इतो दिव्यश्चिन्तामणि इतश्च पिण्याकखण्डकम् चेत् ध्यानेन उभे लभ्ये, विवेकिनः वय आद्रियन्ताम् ।

टीका — अस्ति । कोऽसो, चिन्तामणिः चिन्तितार्थप्रदो रत्निविश्वेषः । किविश्विष्ठे , दिव्यो देवेनाधिष्ठितः । वन्न, इत अस्मिन्नेकस्मिन् पक्षे । इतश्चान्यस्मिन् पक्षे पिण्याकखण्डकं कुस्सितमल्प वा खळखण्डकमस्ति । एते च उभे हे अपि यदि ज्यानेन लम्पेते । अवश्यं लम्पेते तर्तिं कथय वन ह्योगंच्ये कतरस्मिन्नेकस्मिन् विवेकिनो लोभच्छेदविचारचतुरा आदियन्ताम् आदर कुर्वन्तु । तदैहिकफ्रजाभिलाणं त्यवस्वा आमुत्रिकफल्सिद्धचर्यमेवात्मा ज्यातव्यः । उक्तं च —

''यद्धचाने रोद्रमात्ते वा, यदैहिकफलार्थिनाम् । तस्मादेतत्परित्यज्य, धर्म्या शुक्लमुपास्यताम्'' ।।२२०॥ –तत्त्वानुशासन

अर्थंवमुद्दोधितश्रद्धानो त्रिनेयः पृच्छति, स आत्मा कीदृश इति यो युष्माभिव्यतिव्यतयोपदिष्टः पुमान् स कि —स्वरूप इत्यर्थः । गुरुराह्—॥ २० ॥

अर्थ — इसी ध्यानसे दिव्य चितामणि मिल सकता है, इसीसे खलीके टुकड़े भी मिल सकते हैं। जब कि ध्यानके द्वारा दोनों मिल सकते हैं, तब विवेकी लोग किस ओर आदश्बुद्धि करेंगे ?

विज्ञवार्थ—एक तरफ तो देवाधिष्ठत चिन्तित अर्थको देनेवाला चिन्तामणि और दूसरी ओर वुरा व छोटासा खलीका टुकडा, ये दोनो भी यदि ध्यानके द्वारा अवश्य मिल जाते हैं, तो कहो, दोनोंमेसे किसकी ओर विवेकी लोभके नाज करनेके विचार करनेमें चतुर—पुरुष आदर करेगे? इसलिये इसलोक सम्बन्धी फल कायकी नीरोगता आदिकी अभिलापाको छोडकर परलोक सम्बन्धी फलको सिद्धि-प्राप्तिके लिये ही आत्माका ध्यान करना चाहिये। कहा भी है कि, ''यद् ध्यान रौद्र-मार्त वाल''।। २०॥

"वह सब रौद्रध्यान या आर्त्तंध्यान है, जो इसलोक सम्बन्धी फलके चाहनेवालेको होता है। इसलिये रौद्र व आर्त्तंध्यानको छोड़कर धर्म्यध्यान व शुक्लध्यानकी उपासना करनी चाहिये।"

> दोहा—इत चितामणि है महत्, उत खल टूक असार। ध्यान उभय यदि देत बुध, किसको मानत सार ॥ २०॥

अव वह शिष्य जिसे समझाये जानेसे श्रद्धान उत्पन्न हो रहा है, पूछता है कि जिसे आपने ध्यान करने योग्य रूपसे बतलाया है वह कैसा है ? उस आत्माका क्या स्वरूप है ? आचार्य कहते हैं—

स्वसंवेदनसुन्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः । अत्यन्तसौक्यवानात्मा, लोकालोकविलोकनः ॥ २१ ॥

अन्वय—आत्मा, लोकालोकविलोकनः अत्यन्तसौख्यवान् तनुमात्रः निरत्ययः स्वसंवेदन-सुव्यक्तः (अस्ति) ।

दीका — अस्ति । कौऽसी, आत्मा । कोद्या , लोकालोकविलोकन लोको जीवाद्याकीर्णमाकाशं ततो ऽन्यदलोक तो विशेषेण अश्रीपविशेषनिष्ठतेया लोकते पश्यति जानाति । एतेन "ज्ञानसून्यं चेतन्यमात्रमारमा"

१ परिपूर्णतया ।

इति सांख्यमतं वृद्वधादिगुणीज्झतः पुमानिति यौगमतं च प्रत्युवतम् । प्रतिध्वस्तश्च नैरात्म्यवादो बौद्धानाम् । पुन. कोदृशः, अश्यन्तसोख्यवान् अनन्तसुखस्वभावः । एतेन साख्ययौगतन्त्रं प्रत्याहतम् । पुनरिव कोदृशस्तनु-मात्रः स्वोपात्तशरीरपरिमाणः । एतेन व्यापकं वटकणिकामात्रं चात्मानं वृदन्तौ प्रत्याख्यातौ । पुनरिव कीदृशः, निरत्ययः द्रव्यरूपतया नित्यः । एतेन गर्मादिमरणपर्यन्तं जीवं प्रतिजानानश्चाविको निराकृतः । नन् प्रमाण-सिद्ध वस्तुन्येवं गुणवादः श्रेयान्न चात्मनस्तया प्रमाणसिद्धत्त्यमस्तीत्यारेकायामाह्र---स्वसंवेदनसुव्यक्त इति ।

"वैद्यस्य वेदकस्यं च, यस्त्वस्य स्वेन योगिनः । तस्त्वसंवेदनं प्राहुरात्मनोऽनुभव दृशम् ॥ १६१ ॥

—तत्त्वानुशासनम् ।

इत्येवं रुक्षणस्वसंवेदनप्रत्यक्षेणे सकरुप्रमाणघुर्वेणे सुष्ठु उनते गुणैः संपूर्णतमा व्यक्त. विशयतयानु-भूतो योगिभिः स्वेकदेशेन ।

अत्राह शिष्यः यशेवमात्मास्ति तस्योपास्तिः कयमिति स्पष्टम् आत्मसेवोपायप्रश्नोऽयम् । गुरुराह— ॥ २१ ॥

अर्थ-- आरमा लोक और अलोकको देखने जाननेवाला, अत्यन्त अनन्त सुख स्वभाववाला, शरीरप्रमाण, नित्य, स्वसंवेदनसे तथा कहे हुए गुणोंसे योगिजनों द्वारा अच्छी तरह अनुभवमे आया हुआ है।

विद्यार्थ — जोवादिक द्रव्योसे चिरे हुए आकाशको लोक और उससे अन्य सिर्फ आकाशको अलोक कहते हैं। उन दोनोंको विशेषरूपसे उनके समस्त विशेषोंमे रहते हुए जो जानने देखनेवाला है, वह आत्मा है। ऐसा कहनेसे "ज्ञानशून्यचेतन्यमात्रमात्मा" ज्ञानसे शून्य सिर्फ जैतन्यमात्र ही आत्मा है, ऐसा सांख्यदर्शन तथा "वृद्धचादिगुणोज्झितः पुमान्" वृद्धि सुख दुःखादि गुणोसे रहित पुरुष है, ऐसा योगदर्शन खडित हुआ समझना चाहिये। और बौद्धोका 'नैरात्म्यवाद' भी खंडित हो गया। फिर बतलाया गया है कि 'वह आत्मा सौख्यवान् अनंत सुखस्वभाववाला है'। ऐसा कहनेसे सांख्य और योगदर्शन खंडित हो गया। फिर कहा गया कि वह "तनुमात्र" 'अपने द्वारा ग्रहण किये गये शरीर—पिरमाणवाला है'। ऐसा कहनेसे जो लोग कहते हैं कि 'आत्मा व्यापक है' अथवा 'आत्मा वटकणिका मात्र है' उनका खंडन हो गया। फिर वह आत्मा "निरत्यय." 'द्रव्यक्त्यसे हैं' ऐसा कहनेसे, जो चार्वाक् यह कहता था कि "गर्भसे लगाकर मरणपर्यन्त ही जोब रहता है," उसका खण्डन हो गया।

यहाँपर किसीकी यह शंका है कि प्रमाणसिद्ध वस्तुका ही गुण-गान करना उचित है। परन्तु क्षारमामे प्रमाणसिद्धता ही नही है—वह किसी प्रमाणसे सिद्ध नही है। तब ऊपर कहे हुए विशेषणोसे किसका और कैसा गुणवाद? ऐसी शंका होनेपर आचार्य कहते है कि वह आत्मा 'स्वसवेदन —सुब्यक्त है,' स्वसंवेदन नामक प्रमाणके द्वारा अच्छी तरह प्रगट है। "वेद्यत्वं वेदकत्वं च०"

"जो योगीको खुदका वेदात्व व खुदके द्वारा वेदकत्व होता है, वस, वही स्वसंवेदन कह-लाता है। अर्थात् उसीको आत्माका अनुभव व दर्शन कहते है। अर्थात् जहाँ थात्मा ही ज्ञेय और आत्मा ही जायक होता है, चैतन्यको उस परिणितको स्वसंवेदन प्रमाण कहते है। उसीको आत्मा-नुभव व आत्मदर्शन भी कहते है। इस प्रकारके स्वरूपवाले स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष (जो कि सव प्रमाणीमे मुख्य या अग्रणी प्रमाण है) से तथा कहे हुए गुणोसे सम्पूर्णतया प्रकट वह आत्मा योगि-जनोको एकदेश विशदरूपसे अनुभवमे आता है।"॥ २१॥

१ अभावात्मको मोक्ष: । २ ब्रुवन् । ३ प्रमाणेन । ४ मुख्येन ।

दोहा—निज अनुभवसे प्रगट है, नित्य शरीर-प्रमान । लोकालोक निहारता, आतम अति सुखवान ॥ २१ ॥

यहाँपर शिष्य कहता है, कि यदि इस तरहका आत्मा है तो उसकी उपासना कैसे की जानी चाहिये ? इसमें आत्मध्यान या आत्मभावना करनेके उपायोंको पूछा गया है । आचार्य कहते है—

संयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतसः । आत्मानमात्मवान् घ्यायेदात्मनैवात्मनि स्थितम् ॥ २२ ॥

अन्वय—करणग्रामं संयम्य चेतसः एकाग्रत्वेन आत्मवान् आत्मिन स्थितं आत्मानं आत्मना एव ध्यायेत् ।

टीका--ध्यायेत् भावयेत् । कोऽसी, आत्मवान् गुन्तेन्द्रियमना अध्वस्तस्वायत्तवृत्तिर्वा । कं, आत्मनं यथोक्तस्वभाव पृष्पम् । केन, आत्मनंव स्वसवेदनरूपेण स्वेनैव तत्काप्ती करणान्तराभावात् । उक्तं च--

"स्वपरक्षप्तिरूपत्वात्, न तस्य कारणान्तरम् । ततस्विन्ता परित्यज्य, स्वसंवित्त्यैव वैद्यताम्" ॥१६२॥ —तत्त्वानुशासनम् ।

षत्र तिष्णतिमत्याह्, आत्मनि स्थितं वस्तुतः सर्वभावानां स्वरूपमात्राधारत्वात् । कि कृत्वा ? संयम्य रूपादिन्यो व्यावृत्त्य । कि, करणग्रामं चक्षुरादीन्द्रियगणम् । केनोपायेन, एकाग्रत्वेन एकं विवक्षितमात्मानं तद् वृत्यं पर्यायो आश्रं प्राधान्येनालम्बनं विषयो यस्य अथवा एकं पूर्वापरपर्याधानुस्यूतं अग्रमात्मग्राह्य यस्य तदेकाग्रं तद्मावेन । कस्य, चेतसो मनसः । अयमर्थो यत्र वक्षिदात्मन्येव वा श्रुतज्ञानावष्टम्भात् आलम्बितेन मनसा इन्द्रियाणि निरुद्धय स्वात्मानं च भावियत्वा तर्वकाग्रतामासाद्य विन्ता त्यक्ता स्वयंवेदनेनैवात्मान-मनुभवेत् । उन्तं च—

"गहियं तं सुअणाणा, पच्छा संवेयणेण भाविज्जा । जो ण हु सुयमवरुंबह, सो सुज्झह अप्पसन्भावो ॥" --अनगारधर्मामृते तृतीयोऽघ्यायः पृ० १७० ॥

तथाच "प्राच्याव्य विषयेभ्योऽहं, मां मयैव मिय स्थितम् । बीघात्मानं प्रपन्नोऽस्मि परमानन्दनिवृत्तम्" ---समाधिशतकम् ।

अथाह शिष्यः आत्मोपासनया किमिति भगवन्नात्ससेवनया कि प्रयोजनं स्यात् फलप्रतिपैत्तिपूर्वकत्वा-रप्रेसावत्प्रवृत्तेरिति पृष्टः सन्नाचष्टे—॥ २२॥

अर्थ---मनकी एकाग्रतासे इन्द्रियोंको वशमें कर ध्वस्त-नष्ट कर दी है स्वच्छन्द वृत्ति जिसने ऐसा पुरुष अपनेमें ही स्थित आत्माको अपने ही द्वारा घ्यावे ।

विशादार्थ — जिसने इन्द्रिय और मनको रोक िल्या है अथवा जिसने इन्द्रिय और मनको उच्छू खल एव स्वैराचारूप प्रवृत्तिको घ्वस्त कर दिया है, ऐसा आत्मा, जिसका स्वरूप पहिले (तं० २१ के रलोकमें) बता आये है, आत्माको आत्मासे ही यानी स्वसंवेदनरूप प्रत्यक्ष ज्ञानसे

१. अविच्छिन्नं प्रवर्तमानं १ २. फल ज्ञान ।

ही ध्यावे, कारण कि रवर्ग आत्माम हो उसकी जीत (जान) होती है । उस कीर्में बीर्र करणान्तर नहीं हाते । जैसा कि तत्त्वानुजागनमं क्रम है—' स्वाम्बसित्पव्यान्॰"

"वह आस्मा स्वपर-प्रतिभागस्य हा । यह रवयं ही स्वयं में आनता है, बी प्रकार कालता है। उसी उसी भिन्न अन्य प्रश्मांका आवश्यक्ता नहीं है। उसी वेद विकास ही उने जाती, जो प्रि गृदमें ही हियत है। उसी विकास ही उने जाती, जो प्रि गृदमें ही हियत है। वारण प्रि प्रमार सभी पदार्थ स्वस्पेम हो रहा करते हैं। इसी छिये उचित है कि मनको एक्स्स कर वव आदि सभी पदार्थ स्वस्पेम हो रहा करते हैं। इसी छिये उचित है कि मनको एक्स्स कर वव आदि इन्हियों की अपने अपने विपयों (स्व आदिकों) से व्यावृत्ति करें।" यहांपर संस्कृत होता पिंडत आसाधर जोने 'एकाम्र' शहद हो अर्थ प्रदानत किये हैं। एक किये विविद्य संस्कृत विकास कोई स्व आसाध, अथवा कोई एक हत्य, अथवा पर्याय, वही है अस किये प्रधानतासे आलम्दनमूत विकास की सिका ऐसे मनको कहें। 'एकाम्र' अथवा एक किया प्रधान करी में अथिन्छिन हपसे प्रकार हुन्य-आस्मा वही है, अस आतमग्राह्म जिनका ऐसे मनको एकाम कहेंगे।

साराश यह है कि जहा कहीं अथवा आत्मामें ही श्रुतज्ञानके महारेसे भावनायुक हुए महि द्वारा इन्द्रियोंको रोक कर स्वास्माकी भावना कर उसीमें एकाग्रताको प्रान्त कर चिताको छोड़कर स्वसंवेदनके ही द्वारा आत्माका अनुभव करे। जैसा कि कहा भी ह—"गहिय ते सुअजाणार्र"

. अर्थ—''उस (आत्मा) को श्रुतज्ञानके द्वारा जानकर पीछे संवेदन (स्वसंवेदन) में लुः भव करे। जो श्रुतज्ञानका आलम्बन नहीं छेता वह आत्मस्वभावके विषयमें गडवड़ा जाता है। इसी तरह यह भी भावना करे कि जैसा कि पूज्यापादस्वामीके समाविशतकमें कहा है—''प्राच्याव विषयेभ्योऽहं o'

"मै इन्द्रियोके विषयोसे अपनेको हटाकर अपनेमें स्थित ज्ञानस्वरूप एवं परमानवासी आपको अपने ही द्वारा प्राप्त हुआ हूँ।"।। २२॥

दोहा-सनको कर एकाग्र, सब इंद्रियविषय सिटाय।

े शातमज्ञानी आंत्ममे, निजंकों निजसे व्याय ॥ २२'॥

यहाँवर शिष्यका कहना है कि भगवन् । आत्मासे अथवा आत्माकी उपासना करनेसे क्या 'तलब समेगा---त्रमा फल मिलेगा ? अयोकि विचारवानोंकी प्रवृत्ति तो फलज्ञानपूर्वक हुआ करती , इस प्रकार पूछे जानेपर आचार्य जवाब देते है---

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं, ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः ।

ददाति यत्तु यस्यास्ति, सुप्रसिद्धमिद वचा ॥ २३ ॥

्रा अन्वय—अञ्चानोपास्तिरज्ञानं, ज्ञानिसमाश्रयः ज्ञानं देदाति 'यत्तु तस्य अस्ति तदेव द्वाति' १ सुप्रसिद्ध वचः । । त्रा समान्या सम्भागान्य सम्भागान्य अस्ति तदेव द्वाति'

े दोका—स्वाति । कासी, अंज्ञानस्य देहादेग्वेश्वेतितः स्वितिवर्गुवदिवर्ग उपास्ति सेवा । कि रे अज्ञानः । अमसंदेहेलसर्ग । तथा वदाति । कासी, ज्ञानिन स्वभावस्यात्मनी ज्ञानस्यत्रभूत्रदेवां समार्थव् । अन्त्या भ्रासेवनं । कि रे ज्ञाने स्वायाविवर्गिष्म । जन्त्य । अन्त्या । अ

"ज्ञानभेत्र फल जाने, ननु रलाध्यमनव्यरम् । अहो मोहस्य[ः] माहात्स्यमन्यदंष्यन[्] मृत्यते"। १७९[॥]

को अत्र दृष्टास्त इत्याह यदित्यादि । ददातीत्यत्रापि योज्यं 'तुरवधारणे । तेनायमर्थः संपद्यते । यद्येव यस्य स्वाधीनं विद्यते स सेव्यमानं तदेव ददातीत्येवद्वावयं छोके सुप्रतीतमतो भद्र ज्ञानिनमुपास्य समुल्छंभित-स्वपरिववेकज्योतिरजसमात्मानमात्मानि सेव्यक्ष्य । अत्राप्याह शिष्यः⊸ज्ञानिनोघ्यात्मस्वस्यस्य किं भवतीति निष्यन्नयोग्यपेक्षया स्वात्मध्यानफळप्रव्योऽयम् । गुक्राह—॥ २३ ॥

अर्थ — अज्ञान किंग्रे ज्ञानसे रिहत शरीरादिककी सेवा अज्ञानको देती है, और ज्ञान पुरुषों-की सेवा ज्ञानको देती है। यह बात प्रसिद्ध है, कि जिसके पास जो कुछ होता है, वह उसी को देता है, दूसरी चीज जो उसके पास है नहीं, वह दूसरेको कहाँसे देगा?

विश्व हार्थ — अज्ञान शब्दके दो अर्थ हैं, एक तो ज्ञान रहित शरीरादिक और दूसरे मिथ्या-ज्ञान (मोह-भ्रांति-संदेह) वाले मूढ़-भ्रांत तथा संदिग्ध गुरु आदिक। सो इनको उपासना या सेवा अज्ञान तथा मोह-भ्रम व संदेह लक्षणारमक मिथ्याज्ञानको देती हैं। और ज्ञानी कहिये, ज्ञान-स्वभाव आत्मा तथा आत्मज्ञानसम्पन्न गुरुओंको तत्परताके साथ सेवा, स्वार्थावबोधरूप ज्ञानको देती है। जैसा कि श्रीगृणभद्रावायंने आत्मानुशासनमें कहा है— "ज्ञानमेव फलं ज्ञाने॰"

"ज्ञान होनेका फल, प्रशंसनीय एवं अविनाशी ज्ञानका होना ही है, यह निश्चयसे जानो । अहो ! यह मोहका हो माहात्म्य है, जो इसमें ज्ञानको छोड़ कुछ और ही फल ढूँढ़ा जाता है । ज्ञानात्मासे ज्ञानकी ही प्राप्ति होना न्याय है । इसिलिये हे भद्र ! ज्ञानीकी उपासना करके प्रगट हुई है स्व-पर विवेकरूपी ज्योति जिसको ऐसा आत्मा, आत्माके द्वारा आत्मामें ही सेवनीय है, अनन्यशरण होकर भावना करनेके योग्य है ।" ॥ २३ ॥

दोहा—अज्ञभक्ति अज्ञानको, ज्ञानभक्ति दे ज्ञान। छोकोक्ती जो जो घरे, करे सो ताको दान॥ २३॥

यहाँ फिर भी शिष्य कहता है कि अध्यात्मलीन ज्ञानीको क्या फल मिलता है ? इसमें स्वात्मिन्छ योगीको अपेक्षासे स्वात्मध्यानका फल पूछा गया है । आचार्य कहते है—

परीषहाद्यविज्ञानादास्त्रवस्य निरोधिनी । जायतेऽध्यात्मयोगेन, कर्मणामाशु निर्जरा ॥ २४ ॥

अन्वय-अध्यात्मयोगेन परीषहाद्यविज्ञानात् आस्रवस्य निरोधिनी कर्मणां निर्जरा आशु जायते।

टीका—जायते भवति । कासौ, निर्जरा एकदेशेन संक्षयो विश्लेष इत्यर्थः । केषा, कर्मणा सिद्धयोग्य-पेक्षयाञ्चभाना च नुभानां साध्ययोभ्यपेक्षया त्वसद्देशादीनाम् । कथमानु सद्यः । केम, अध्यात्मयोगेन अध्यात्म-ग्यात्मन. प्रणिश्चानेन, कि केवला, नेत्याह-निरोधिनी प्रतिषेषयुक्ता । कस्यास्रवस्थापमनस्य कर्मणामित्यत्रापि योज्यम् । कुत इत्याह्, परीपहाणा क्षुधादिदुःस्वभेदानामादिशव्दादेवादिकृतोपसर्गवाधानां चाविज्ञानादसंवेदनात् । तथा चोक्तम्—

"यस्य पुष्यं च पापं च, निष्पालं गलति स्वयम् । स योगी तस्य निर्वाणं, न यस्य पुनरास्रवः" ॥२४६॥ ----आरमानुषासनम्।

"तया हाचरमाङ्गस्य, न्यानमभ्यस्यतः सदा । निर्जरा संवरश्चास्य सकलाशुभकर्मणाम्" ॥२२५॥ — तत्त्वानुवासनम्। ही ध्यावे, कारण कि स्वयं आत्मामे ही उसकी ज्ञप्ति (ज्ञान) होती है। उस ज्ञप्तिमें और कोई करणान्तर नहीं होते। जैसा कि तत्त्रानुशासनमे कहा है—''स्वपरज्ञपिरूपत्वात्०''

"वह आत्मा स्वपर-प्रतिभासस्वरूप है। वह स्वयं ही स्वयं को जानता है, और परको भी जानता है। उसमे उससे भिन्न अन्य करणोको आवश्यकता नहीं हैं। इसलिये जिन्ताको छोड़कर स्वसंवित्ति-स्वसंवेदनके द्वारा ही उसे जानो, जो कि खुदमे ही स्थित है। कारण कि परमायसे सभी पदार्थ स्वरूपमे ही रहा करते हैं। इसके लिये उचित है कि मनको एकाग्र कर चक्षु आदिक इन्द्रियोंकी अपने अपने विषयों (रूप आदिकों) से व्यावृत्ति करें।" यहांपर संस्कृत-टोकाकार पंडित आशाधर जीने 'एकाग्र' शब्दके दो अर्थ प्रदिश्चित किये हैं। एके कहिये विवक्षित कोई एक आत्मा, अथवा कोई एक द्वय, अथवा पूर्वाय, वही है अग्र कहिये प्रधानतासे आलम्बनभूत विषय जिसका ऐसे मनको कहेंगे 'एकाग्र' अथवा एक कहिये पूर्वापर पर्वायोमे अविच्छिन्न रूपसे प्रवर्तमान द्वय-आत्मा वही है, अग्र-आत्मग्नाह्म जिसका ऐसे मनको एकाग्र कहेंगे।

साराज्ञ यह है कि जहां कहीं अथवा आत्मामें ही श्रुतज्ञानके सहारेसे भावनायुक्त हुए मनके द्वारा इन्द्रियोको रोक कर स्वात्माकी भावना कर जिसीमें एकाग्रंताको प्राप्त कर चिन्ताको छोड़कर स्वसंवेदनके ही द्वारा आत्माका अनुभव करे। जैसा कि कहा भी है—"गहिय तं सुअणाणाठ"

अर्थ—''उस (आत्मा) को श्रुतज्ञानके द्वारा जानकर पीछे संवेदन (स्वसंवेदन) में अनुभ्य करे। जो श्रुतज्ञानका आलम्बन नहीं लेता वह आत्मस्वभावके विषयमे गडबढ़ा जाता है। इसी तरह यह भी भावना करे कि जैसा कि पूज्यापादस्वामीके समाधिशतकमें कहा है—''प्राच्याव्य विषयेभ्योऽहं ल''

ं भी इन्द्रियोके विषयोसे अपनेकी हटाकर अपनेमें स्थित ज्ञानस्वरूप एवं परमानन्दमयी अपने ही द्वारा प्राप्त हुआ हूँ। । २२ ॥ १ - - -

दोहा—मनको कर एकाग्र, सब इंद्रियविषय मिटाय।

यहाँपर शिष्यका कहना है कि भगवन्। आत्मास अधेवा आत्माकी उपासना करनेसे क्यों मतलब सधेगा—क्या फर्क मिलेगा? क्योंकि विचारवानीकी प्रवृत्ति तो फलबानपूर्वक हुआ करती है. इस प्रकार पुळे जानेपर आचार्य जवाब देते हैं—

्र अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः । १८०० । ददाति यचु यस्यास्ति, सुप्रसिद्धमिद् वेचा ॥ २३ ॥ ४० ।

ं अन्वय—अज्ञानोपास्तिः ज्ञान्, ज्ञानिसमार्थयः ज्ञानं ददाति ''यस् तस्य अस्ति तदेव ददाति'' इदं सप्रसिद्ध वस्त । अस्ति स्मानिक विकास स्वापिति स्वापिति स्वापिति स्वापिति स्वापिति स्वापिति स्वापिति स्वापिति

िं हो हो का व्यवस्थात । कासी, अज्ञानस्य देहाँदेर्मूढम्मान्ति सिंदिन्त्र्मुवाँदेवी ज्यास्ति सेवा । कि ? अज्ञानं, मोहभ्रमसंदेहेलक्षण ित्या देदाति । कासी, ज्ञांतिन स्वमावस्यात्मनी ज्ञानसेपन्नेपुवाँदेवी समार्थय । अनन्य-परंया सेवनं । कि ? ज्ञाने स्वायाववोधम् । जनते च, निर्माति स्वमावस्यात्मनी ज्ञानसेपन्नेपन्नेपन्नेपन्नेपन्नेपन्न

"ज्ञानमेव फल जाने, ननु स्लाध्यमनस्वरम् ।: बहो मोहस्य[ः] माहात्म्यमन्यदप्पन्न मृंग्यते[?]र।।१७५॥ —आत्मानुशासनम् । को बन्न दृष्टान्त इत्याह् यदित्यादि । ददातीत्यनापि योज्यं 'तुरवधारणे । तेनायमर्थः संपधते । यद्येव यस्य स्वाधीनं विद्यते स सेन्यमानं तदेव ददातीत्येतद्वावयं लोके सुप्रतीतमतो भद्र ज्ञानिनमुपास्य समुल्लंभित-स्वपरविदेकज्योतिरजसमात्मानमात्मानं सेन्यश्च । अनाप्याह् शिष्यः—ज्ञानिनोध्यात्मस्वस्थस्य कि भवतीति निष्पन्नयोग्यपेक्षया स्वात्मञ्यानफलप्रकोऽयम् । गुरुराह्न—॥ २३ ॥

अर्थ-अज्ञान किहये ज्ञानसे रिहत शरीरादिककी सेवा अज्ञानको देती है, और ज्ञान पुरुषों-की सेवा ज्ञानको देती है। यह बात प्रसिद्ध है, कि जिसके पास जो कुछ होता है, वह उसी को देता है, दूसरो चीज जो उसके पास है नहीं, वह दूसरेको कहाँसे देगा ?

विश्वदार्थ—अज्ञान शब्दके दो अर्थ है, एक तो ज्ञान रहित शरीरादिक और दूसरे मिथ्या-ज्ञान (मोह-फ्रांति-संदेह) वाले मूड-फ्रांत तथा संदिग्ध गुरु आदिक । सो इनकी उपासना या सेवा अज्ञान तथा मोह-फ्रम व संदेह लक्षणात्मक मिथ्याज्ञानको देती है। और ज्ञानी कहिये, ज्ञान-स्वभाव आत्मा तथा आत्मज्ञानसम्पन्न गुरुओंकी तत्परताके साथ सेवा, स्वार्थाववोधरूप ज्ञानको देती है। जैसा कि श्रीगुणभद्राचार्यने आत्मानुशासनमें कहा है—"ज्ञानमेव फलं ज्ञाने॰"

"ज्ञान होनेका फल, प्रशंसनीय एवं अविनाशी ज्ञानका होना ही है, यह निश्चयसे जानो। अहो! यह मोहका हो माहात्म्य है, जो इसमें ज्ञानको छोड़ कुछ और ही फल ढूँड़ा जाता है। ज्ञानात्मासे ज्ञानकी ही प्राप्ति होना न्याय है। इसिलये हे भद्र! ज्ञानीकी उपासना करके प्रगट हुई है स्व-पर विवेकरूपी ज्योति जिसको ऐसा आत्मा, आत्माके द्वारा आत्मामें ही सेवनीय है, अनन्यशरण होकर भावना करनेके योग्य है।"॥ २३॥

दोहा—अजभिक्त अज्ञानको, ज्ञानभक्ति दे ज्ञान। छोकोक्ती जो जो घरे. करे सो ताको दान।। २३॥

यहाँ फिर भी शिष्य कहता है कि अध्यात्मलीन ज्ञानीको क्या फल मिलता है ? इसमें स्वात्मनिष्ठ योगीकी अपेक्षासे स्वात्मध्यानका फल पूछा गया है । आचार्य कहते हैं—

परीपहाद्यविज्ञानादास्त्रवस्य निरोधिनी । जायतेऽध्यात्मयोगेन, कर्मणामाज्ञु निर्जरा ॥ २४ ॥

अन्वय—अध्यात्मयोगेन परीषहाद्यविज्ञानात् आस्रवस्य निरोधिनी कर्मणां निर्जरा आज्ञु जायते ।

टीका — जायते भवति । कासी, निर्णरा एकदेशेन संक्षयो विश्लेष इत्यर्थः । केषा, कर्मणा सिद्धयोग्य-पैक्षयाऽशुभाना च शुभानां साध्ययोग्यपेक्षया त्वसद्देशादीनाम् । कथमाशु सद्यः । केन, अध्यात्मयोगेन अध्यात्म-ग्यात्मनः प्रणिधानेन, किं केवला, नेत्याह-निरोधिनी प्रतिषेषयुक्ता । कस्यास्रवस्यागमनस्य कर्मणामित्यत्रापि योज्यम् । कुत इत्याह, परीपहाणा स्नुधाविदुःखभेदानामादिशब्दादेवादिकृतोपसर्गवाधानां चाविज्ञानादसंवेदनात् । तथा चोक्तम्—

"यस्य पुण्यं च पापं च, निष्फलं गलति स्वयम् । स योगी तस्य निर्वाणं, न यस्य पुनरास्रवः" ॥२४६॥ —आत्मानवासनम् ।

"तथा ह्यचरमाङ्गस्य, त्वानमम्यस्यतः सदा । 'निर्जरा संवरष्चास्य सकलाशुभकर्मणाम्'' ॥२२५॥ —तत्त्वानुशासनम् । "आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताल्हादनिवृतः । तपसा दुःष्कृतं घोरं मुञ्जानोऽपि न विद्यते" ।।३४॥ —समाधियतकम ।

एतच्य व्यवहारायाषुच्यते । कृत इत्यासञ्जाया पुनस्त्वार्य प्वाह—सा सक् कर्मणी भवति तस्य संवाध-स्तवा कपमिति । वत्स आकर्णय सकु यस्मात्सा एकदेखेन विक्लेपलक्षणा निर्जरा कर्मणः चित्सामान्यानृविधायिपुद्गलपिणामरूपस्य द्रव्यकर्मणः संविध्यत्ती संभवति द्रव्ययोरेत संगोगपूर्वविभागसंभवात् । तस्य च द्रव्यकर्मणस्तवा योगिनः स्वरूपमाशावस्थानकाले संवन्यः प्रत्यासत्तिरास्मा सह । कथं केन संयोगादिप्रकारेण
संभवति ? सुरुमेक्षिकया समोक्षस्य न कथमपि संभवतीत्ययः । यदा खल्वास्मैव ध्यानं ध्येयं च स्थातदा
सर्वारमनाध्यास्मनः परद्रव्याद् व्यावृत्य स्वरूपमाशावस्थितदात्कथं द्रव्यान्तरेण संवन्यः स्यातस्य द्विष्टत्वात् ।
न चैतत्संसारिणो न संभवतीति वाच्यं । संसारतीरप्राप्तस्य योगिनो मुक्तात्मवत् पञ्चहृत्यस्यरोज्यारम्यान्तर्यानस्यानस्यानस्य कक्षणोत्कृष्टशुक्ललेश्यासंस्कारावेशवत्रात्वानम्मात्रकर्मयारावन्यस्यरुपात् । तथा चीकं प्रसागमे—

"सीलेसि संपत्तो, णिरुद्धणिरसेसवासवो जीवो। कम्मरयविष्यमुक्को, ययकोगी केवली होदि" ॥ ६५ ॥—गोम्मटसारः जीवकाडः। श्रूयता चास्यैवार्णस्य संग्रहरुकोकः॥ २४॥

अर्थ--आत्मामें आत्माके चितवनरूप ध्यानसे परीषहादिकका अनुभव न होनेसे कर्मोंके आगमनको रोकनेवाली कर्म-निर्जरा जीव्र होती है।

विज्ञवार्य-अध्यात्मयोगसे आत्मामें आत्माका ही ध्यान करनेसे कमींकी निर्जरा (एक-देशसे कमींका क्षय हो जाना, कमोंका सम्बंध छूट जाना) हो जाती है। उसमे भी जो सिद्धयोगी हैं, उनके तो अशुभ तथा शुभ बोनों ही प्रकारोक कमोंकी निर्जरा हो जाती है। और जो साध्य-योगी हैं, उनके असातावेदनीय आदि अशुभ कमोंकी निर्जरा होती है। कोरी निर्जरा होती हो सो बात नहीं है। अपि तु भूख-प्यास आदि दु खके भेदी (परीषहो) की तथा देवादिकोंके द्वारा किये गये उपसर्गोंकी बाधाको अनुभवमें न जानेसे कमोंकी आगमन (आखव) को रोक देनेवाली निर्जरा भी होती है। जैसा कि कहा भी है:--"यस्य पुण्यं च पायं च॰"

"जिसके पुण्य और पापकर्म, विना फल दिये स्वयमेव (अपने आप) गल जाते हैं —िखर जाते हैं, वही योगी है। उसको निर्वाण हो जाता है। उसके फिर नवीन कर्मोंका आगमन नहीं होता। इस रुडोक द्वारा पुण्य-पापरूप दोनों ही प्रकारके कर्मोंकी निर्जरा होना बतलाया है। और भी तत्त्वानुशासनमें कहा है—"तथा ह्यचरमांगस्य०"

चरमशरीरीके ध्यानका फल कह दैनेके बाद आचार्य अचरमशरीरीके ध्यानका फल बत-लाते हुए कहते हैं—िक जो सदा ही ध्यानका अभ्यास करनेवाला है, परन्तु जो अचरमशरीरी है, (तद्भवमोक्षगामी नही है) ऐसे ध्याताको सम्पूर्ण अशुभ कर्मोंकी निर्जरा व संवर होता है। अर्थात् वह प्राचीन एवं नवीन समस्त अशुभ कर्मोंका संवर तथा निर्जरा करता है। इस श्लोक हारा पापरूप कर्मोंकी हो निर्जरा व उनका संवर होना बतलाया गया है। और भी पूज्यपादस्वामी ने समाधिशतकर्मे है—"आत्मदेहान्तरज्ञान॰"

"आत्मा व शरीरके विवेक (भेद) ज्ञानसे पैदा हुए आनन्दसे परिपूर्ण (युक्त) योगा, तपस्याके द्वारा भयंकर उपसर्गों व घोर परीषहोको भोगते हुए भी खेद-खिन्न नहीं होते हैं।

यह सब व्यवहारनयसे कहा जाता है कि बन्धवाले कर्मोकी निर्जरा होती है, परमार्थसे

नहीं। कदाचित् तुम कहो कि ऐसा क्यों ? आचार्य कहते हैं कि वत्स ! सुनो, क्यों कि एकदेश में सम्बन्ध छूटजाना, इसीको निर्जरा कहते है। वह निर्जरा कर्मको (चित्सामान्यके साथ अन्वय-व्यितिक रखनेवाले पुद्मलोके परिणामरूप द्रव्यकर्मको) हो सकती है। क्यों कि संयोगपूर्वक विभाग दो द्रव्यों में हो बन सकता है। अब जरा वारीक दृष्टिसे विचार करो कि उस समय जब कि योगी पुरुष स्वरूपमात्रमें अवस्थान कर रहा है, उस समय द्रव्यकर्मका आत्माके साथ संयोगादि सम्बन्धों मेसे कौन-सा सम्बन्ध हो सकता है? मतलब यह है कि किसी तरहका सम्बन्ध नहीं बन सकता। जिस समय आत्मा ही ध्यान और ध्येय हो जाता है, उस समय हर तरहसे आत्मा परद्रव्योसे ब्यावृत होकर केवलस्वरूपमें ही स्थित हो जाता है। तब उसका दूसरे द्रव्यसे सम्बन्ध कैसा? क्यों कि सम्बन्ध तो दोमें रहा करता है, एकमें नहीं होता है।

यह भी नहीं कहना कि इस तरहकी अवस्था संसारीजीवमें नहीं पाई जाती। कारण कि संसारक्पी समुद्र-तटके निकटवर्ती अयोगीजनोंका मुक्तात्माओकी तरह पंच ह्रस्व अक्षर (अ इ उ ऋ कू) के बोलनेमें जितना काल लगता है, उतने कालतक वैसा (निवन्ध-बन्ध रहित) रहना सम्भव है।

शीघ्र हो जिनके समस्त कर्मोंका नाश होनेवाला है, ऐसे जीवों (चौदहवें गुणस्थानवालें जीवों) में भी उत्क्रष्ट शुक्लेक्याके संस्कारके वशसे उतनी देर (पंच हस्व अक्षर वोलनेमें जितना समय लगता है, उतने समय) तक कर्मपरतन्त्रताका व्यवहार होता है जैसा कि परमागममें कहा गया है—"सीलेंसि संपत्तोo"

"जो शीलोंके ईशस्त (स्वामित्व) को प्राप्त हो गया है, जिसके समस्त आस्रव रक गये है, तथा जो कर्मरूपी बूलीसे रहित हो गया है, वह गतयोग-अयोगकेवली होता है"॥ २४॥

> दोहा—परिषहादि अनुभव विना, आतस-ध्यान प्रताप। शोघ्र ससंवर निर्जरा, होत कर्मकी आप॥ २४॥

उपरिलिखित अर्थको बतलानेवाला और भी क्लोक सुनो-

कटस्य कर्नाहमिति, संबन्धः स्याद् द्वयोर्द्वयोः । ध्यानं ध्येयं यदारमैव, संबन्धः कीदृशस्तदा ॥ २५ ॥

अन्वय—अहं कटस्य कर्ता इति द्वयोर्द्वयोः संबन्धः स्यात्, यदा आस्मैव घ्यानं ध्येयं तदा कीदृशः सबन्ध ।

टीका—स्वाद् भवेत् । कोशौ, संबन्धः द्रष्यादिना प्रत्यासत्तिः । कयोर्द्वयोः कथंचिद् भिन्नयोः पदार्थयोः इति अनेन लोकप्रसिद्धेन प्रकारेण कथमिति यथाहमस्मि । कीदृशः, कर्त्ता निर्माता । कस्य, कटस्य वंशदलाना जलादिप्रतिवन्धाद्यर्थस्य परिणामस्य । एवं संबन्धस्य द्विष्ठतां प्रदश्यं प्रकृतेर्व्यतिरेकमाह । व्यानमित्यादि व्यायते येन व्यायति वा यस्तद्वचानं व्यातिक्रियां प्रति करणं कत्ती वा । उक्तं च—

''घ्यायते येन तद्धवानं, यो घ्यायति स एव वा । यत्र वा घ्यायते यद्वा, घ्यातिर्वा घ्यानमिष्यते ?''।।६७॥ —तत्त्वानुशासनम् ।

ध्यायत इति घ्येयं वा ध्यातिकियया घ्याप्यं । यदा यस्मिन्नात्मनः परमात्मना सहैकीकरणकाले आत्मैव

चिन्मात्रमेव स्यात्तवा कीवृषाः संयोगादिप्रकारः संवत्घो द्रव्यकर्मणा सहात्मनः स्यात् येन जायतेऽध्यात्मयोगेन कर्मणामाशु निर्जरित परमार्थतः कथ्यते । अत्राह शिष्यः—तिहं कथं अप्रतिपक्षश्च मोक्ष इति भगवन् यद्यात्म-कर्मयन्यस्ते, द्रव्ययोरच्यात्मयोगेन विवलेष क्रियतः । तिहं कथं केनोपायप्रकारेण त्ययोर्वन्यः परस्परप्रदेशान्-प्रवेशलक्षणः संवलेषः स्यात् । तत्पूर्यकत्वाद्विश्लेपस्य कथं च तत्प्रतिपक्षो वन्यविरोधी मोक्षः सकलकर्मविदलेष-लक्षणो जीवस्य स्यात्तस्यैवानन्तसुखहेतुत्वेन योगिभिः प्रार्थनीयत्वात् । गुष्रसह—॥ २५॥

अर्थ-"मै चटाईका बनानेवाला हूँ" इस तरह जुदा-जुदा दो पदार्थों में सम्बन्ध हुआ करता है। जहाँ आत्मा हो घ्यान, घ्याता (घ्यान करनेवाला) और घ्येय हो जाता है, वहाँ सम्बंध कैसा?

विश्वदार्थ — लोकप्रसिद्ध तरीका तो यही है, कि किसी तरह भिन्न (जुदा जुदा) दो पदार्थोंमें संबन्ध हुआ करता है। जैसे वासको खपिच्चयोसे जलादिकके सर्वधसे बननेवाली चटाईका
में कर्ता हूँ — बनानेवाला हूँ। यहाँ बनानेवाला 'मैं' जुदा हूँ और वननेवाली 'चटाई' जुदी है।
तभी उनमें 'कर्तृकमें' नामका सम्बंध हुआ करता है। इस प्रकार सम्बंध द्विष्ठ (दो मे रहनेवाला)
हुआ करता है। इसको बतलाकर, प्रकृतमें वह बात (भिन्नता) विलकुल भी नहीं है इसको
दिखलाते है।

"ध्यायते येन, ध्यायित वा यस्तद् ध्यान, ध्यातिक्रियां प्रति करणं कर्ता व"—जिसके द्वारा ध्यान किया जाय अर्थात् जो ध्यान करनेमे करण हो—साधन हो उसे ध्यान कहते हैं। तथा जो ध्याता है—ध्यानका कर्ता है, उसे भी ध्यान कहते हैं, जैसा कि कहा भी है—"ध्यायते येन तद् ध्यानंठ"

"जो ध्येज् चिन्तायाम्" घातुका ब्याप्य हो अर्थात् जो ध्याया जावे, उसे ध्येय कहते हैं। परंतु जब आत्माका परमात्माके साथ एकीकरण होनेके समय, आत्मा ही चिन्माय हो जाता है, तब संयोगादिक प्रकारोमेसे द्रव्यकमोंके साथ आत्माका कौनसे प्रकारका सम्बन्ध होगा? जिससे कि "अध्यात्मयोगसे कमोंकी शोध्र निर्जरा हो जाती है" यह बात परमार्थसे कही जावे। भावार्थ यह है कि आत्मासे कमोंका सम्बन्ध छूट जाना निर्जरा कहलाती है। परंतु जब उत्कृष्ट अहैत ध्यानावस्थामें किसी भी प्रकार कर्मका सम्बन्ध नही, तब छूटना किसका? इसल्ये सिद्धयोगी कहों या गतयोगी अथवा अयोगकेवली कहो, उनमे कमोंकी निर्जरा होती है, यह कहना व्यवहारन्यसे ही है, परमार्थसे नही।"।। २५॥

दोहा—'कटका मै कर्तार हूँ" यह द्विष्ठ सम्बन्ध। आप हि ध्याता ध्येय जहुँ, कैसे भिन्न सम्बन्ध॥ २५॥

यहाँपर शिष्यका कहना है कि भगवन् ! यदि बात्मद्रव्य और कर्मेद्रव्यका अध्यात्मयोगके बलसे बन्ध न होना बतलाया जाता है, तो फिर किस प्रकारसे उन दोनोमें (आत्मा और कर्मरूप पुद्गल द्रव्योंमें) परस्पर एकके प्रदेशोमें दूसरेके प्रदेशोका मिलजाना रूप वच होगा ? क्योंकि बन्धाभाव तो बंधपूर्वक ही होगा । और बंधका प्रतिपक्षो, सम्पूर्ण कर्मोंकी विमुक्तावस्था रूप मोक्ष भी जीवको कैसे बन सकेगा ? जो कि अविच्छित्र अविनाशी सुखका कारण होनेसे योगियोंके द्वारा प्रार्थनीय हुआ करता है ? आचार्य कहते है—

वध्यते मुच्यते जीवः, सममो निर्ममः क्रमात् । तस्मात्सर्वप्रयत्नेन, निर्ममत्वं विचिन्तयेत् ॥ २६ ॥

अन्वय—सममः निर्ममः जीवः क्रमात् बघ्यते मुच्यते तस्मात् सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिन्तयेत्।

टीका—ममेत्यव्ययं ममेदिमित्यिभिनिवेशार्थमव्ययानामनेकार्थत्वात् तेन सममो ममेदिमित्यभिनिवेशाविष्टो अहमस्येत्यभिनिवेशाविष्टश्चोपलक्षणत्वात् जीवः कर्ममिर्वघ्यते । तथा चीकम्—

"त कर्मबहुलं जगन्नचलनात्मकं कर्म्म वा त नैककरणानिवान चिदिचिद्विचो वन्वकृत् । यदैनग्रमुपयोगभूः समुपयाति रागादिभिः, स एव किल केवलं भवति चन्बहेतुर्नृणाम्" ॥२॥—नाटकसमयसारकलशाः बन्धो-ऽधिकारः ।—अनगारधममिते पच्छोऽज्यायः पृ० २०५

यदेक्यमुपयोगभूसमुपरी अतिरागादिभिः स एव किल केवलं भवति वन्वहेतुर्नृणाम् । तथा स एव जीवो निर्ममस्तद्विपरीतस्तैर्मृच्यत इति यथासंस्थेन योजनार्थं क्रमादित्युपात्ताम् । उक्तं च—

"अर्किचनोऽहमित्यास्व, त्रैलोबयाधिपतिर्भवेः । योगियम्यं तव प्रोक्तं, रहस्यं परमात्मनः" ॥ ११० ॥ —आत्मानुशासनम् ।

क्षयवा "रानी बस्ताति कर्माणि, बीतरानी विमुख्यति । जीवो जिनोपदेशोऽयं, संक्षेपाद्वन्धमोक्षयोः"।।
—ज्ञानार्णवः पु० २४२

यस्मादेवं तस्मात्सर्वेप्रयत्नेन व्रताधवधानेन मनोवाक्कायप्रणिधानेन वा निर्ममत्वं विचिन्तयेत्। मत्तः कायादयो भिन्नास्तम्योऽहमपि तत्त्वतः। नाहमेपां किमप्यस्मि ममाप्येते न किचनः॥ इत्यादि श्रुतज्ञानभावनया मुमुक्षुविषेपेण भावयेत् । उक्तं च—

"निवृत्ति भावयेद्यावित्वर्वृति तदमावतः। न वृत्तिर्व निवृत्तिश्च, तदेव पदमव्यये"। २३६॥ — नात्मानुशासनम्।

अयाह शिष्यः—कथं नु तदिति निर्ममत्त्रविचिन्तनोपायत्रश्नोऽयम् अथ गुरुस्तःप्रक्रियां मम विज्ञस्य का स्पृहेति यावदुपदिशति—।। २६ ॥

वर्थ--- "ममतावाला जीव वँघता है और ममता रहित जीव मुक्त होता है। इसलिये हर तरह पूरी कोशिशके साथ निर्ममताका ही ख्याल रक्खे।"

विश्रदार्थं—अञ्ययोके अनेक अर्थ होते हैं, इसिल्ये, "मम" इस अञ्ययका अर्थ 'अभिनिवेश' हैं, इसिल्ये 'समम' किंद्ये 'मेरा यह हैं' इस प्रकारके अभिनिवेशवाला जीव भी कर्मोसे वैंघता है। उपलक्षणसे यह भी अर्थ लगा लेना कि 'मैं इसका हूँ' ऐसे अभिनिवेशवाला जीव भी वैंघता है, जैसा कि अमृताचार्यने समयसारकलशमें कहा है—

"न कर्मबहुलं जगन्न०"

अर्थ---न तो कर्मस्कंघोसे भरा हुआ यह जगत् बंघका कारण है, और न हलनचलनादिरूप किया ही, न इन्द्रियों करण हैं, और न चेतन अचेतन पदार्थोंका विनाश करना हो वन्यका कारण है। किन्तु जो उपयोगरूपी जमीन रागादिकोंके साथ एकताको प्राप्त होती है, सिर्फ वही अर्थात् जीवोंका रागादिक सहित उपयोग ही वन्यका कारण है। यदि वही जीव निर्मम रागादि रहित-उपयोगवाला हो जाय, तो कर्मीसे छूट जाता है। कहा भी है कि---"अिकंचनोऽहु०"

मै अकिचन हूँ, मेरा कुछ भी नहीं, बस ऐसे होकर बैठे रहो और तीन लोकके स्वामी हो जाओ। यह तुम्हे बड़े योगियोके द्वारा जाने जा सकने लायक परमात्माका रहस्य बतला दिया है।

भीर भी कहा है—"रागी वघ्नाति कर्माणि" रागी जीव कर्मोको बाँघता है। रागादिसे रिहत हुआ जीव मुक्त हो जाता है। बस यही संक्षेपमें वंघ मोक्ष विषयक जिनेन्द्रका उपदेश है। जब कि ऐसा है, तब हरएक प्रयत्नसे ब्रतादिकोमे चित्त लगाकर अथवा मन, वचन, कायकी सावधानतासे निर्ममताका ही ख्याल रखना चाहिये "मत्तः कायादयो भिन्नास्०"

"शरीरादिक, मुझसे भिन्न है, मैं भो परमायंसे इनसे भिन्न हूँ, न मै इनका कुछ हूँ, न मेरे ही ये कुछ हैं।" इत्यादिक श्रुतज्ञानकी भावनासे मुमुक्षुको भावना करनी चाहिये। आत्मानुशासनमें गुणभद्रस्वामीने कहा है।—"निवृद्ति भावयेत्०"

जबतक मुक्ति नही हुई तबतक परद्रव्योंसे हटनेकी भावना करे। जब उसका अभाव हो जायगा, तब प्रवृत्ति हो न रहेगी। वस बहो अधिनाशी पद जानो॥ २६॥

दोहा—मोही वाँधत कर्मको, निर्मोही छुट जाय। यातें गाढ़ प्रयत्नसे, निर्ममता उपजाय॥२६॥

यहाँपर शिष्य कहता है कि इसमे निर्ममता कैसे होवे ? इसमें निर्ममताके जितवन करनेके जपायोका सवाल किया गया है। अब आचार्य उसकी प्रक्रियाको "एकोऽहं निर्ममः०" से प्रारंभ कर "मम विज्ञस्य का स्पृहा०" तकके इलोकों द्वारा वतलाते हैं।

एकोऽहं निर्मसः शुद्धो, ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः । बाह्याः संयोगजा भावा, मचः सर्वेऽपि सर्वथा ॥ २७ ॥

अन्वय-अह एकः निर्मभः शुद्धः ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः संयोगजाः सर्वेऽपि भावा मत्तः सर्वेथा बाह्यः।

दीका—इन्याधिकनयादेकः पूर्वापरपर्यायानुस्यूती निर्ममी ममेदमहमस्येत्यमिनिवेशणूत्य सुद्धः सुद्धनया-देशाद् द्रव्यभावकर्मिनर्मुक्ती ज्ञानी स्वपरप्रकाशस्वभावी योगीन्द्रगोचरोऽनन्तपर्यायविशिष्टतया केविलमी शुद्धो-प्योगमात्रमयत्वेन श्रुतकेविलना च संवैद्योहमात्मात्मि ये तु संयोगाद् द्रव्यकर्मस्वन्याद्याता मया सह संवन्यं प्राप्ता भावा देहादयस्ते सर्वेऽपि मत्तो मत्तकाशात्मवंथा सर्वेण इन्यादित्रकारेण वाह्या भिन्नाः सन्ति पुनर्भावक एव विम्यति संयोगातिकमिति देहादिभिः संवन्धाद्दिना कि फर्ल स्यादित्यर्थः। तत्र स्वयमेव समामत्ते—॥२७॥

क्षर्य-मै एक, ममता रहित, बुद्ध, ज्ञानी, योगीन्द्रोके द्वारा जानने लायक हूँ। सयोगजन्य जितने भी देहादिक पदार्थ है, वे मुझसे सर्वया बाहिरी-भिन्न हैं।

विश्वदार्थ—मै द्रव्याधिकनयसे एक हूँ, पूर्वापर पर्यायोमें अन्वित हूँ। निर्मम हूँ-भिरा यह 'मै इसका' ऐसे अभिनिवेशसे रहित हूँ। शुद्ध हूँ, श्रुद्धनयकी अपेक्षासे, द्रव्यकर्म भावकर्मसे रहित हूँ, क्षेत्रकार्योके हारा तो अनन्त पर्याय सहित रूपसे और श्रुवकेविलयोके हारा शृद्धीपयोग-मात्ररूपसे जातमेमें आसकने लायक हूँ, ऐसा मै आत्मा हूँ, और जो स्थोगसे-द्रव्यकर्मोके सम्बन्धसे प्राप्त हुए देहादिक पर्याय है, वे सभी मुझसे हर तरहसे (द्रव्यसे गुणसे पर्यायसे) विल्कुल जुदे है।। २७।।

दोहा—मै इक निर्मम शुद्ध हूँ, ज्ञानी योगीगम्य । कर्मोदयसे भाव सब, मोतेँ पूर्ण अगम्य ॥ २७ ॥

फिर भावना करनेवाला सोचता है कि देहादिकके सम्बन्धसे प्राणियोको क्या होता है? क्या फल मिलता है ? उसी समय वह स्वय ही समाधान भी करता है कि—

दुःखसंदोहभागित्वं, संयोगादिह देहिनाम् । त्यजाम्येनं ततः सर्वं, यनोत्राकायकर्मभिः ॥ २८ ॥

अन्वय—इह संयोगात् देहिनां दुःखसंदोहभागित्वं ततः एनं सर्वमनोवाक्कायकर्मभिः त्यजामि ।

दीका-दुः लाना संदोहः समूहस्तद्भागित्वं देहिनामिह संसारे संयोगाहेहादिसंवन्धाद्भवेत् । यतश्चैवं तत एनं संयोगं सर्वं निःशेवं त्यजामि । कै क्रियमाणं, मनोवायकायकर्मभिर्मनोवर्यणाद्यालम्बनैरात्मप्रदेश-पिरस्पन्दैसनैरेव त्यजामि । अयमभित्रायो मनोवायकायान्प्रतिपरिस्पन्दमानानात्मप्रदेशान् भावतो निरुन्धामि । तद्भेदाभियासमूलत्वात्मुलदुः लैकफलनिर्वृत्तिसंसुरयोः । तथा चोक्तम्—

"स्वबुद्ध्या यत्तु गृह्धीयास्कायवाक्षेतसा त्रयम् । संसारस्तावदेतेषा, तदाम्यासेन निर्वृतिः" ॥ ६२ ॥ —समाधिशतकम्

पुनः स एवं विभृत्ति—पुद्गलेन किल संयोगस्तदपेक्षा मरणादयस्तद्वयथा. कथं परिह्नियन्त इति । पुद्गलेन देहात्मना मूर्त्तद्रव्येण सह किल आगमे श्रूयमाणो जीवस्य संवन्धोऽस्ति तदपेक्षाश्च पुद्गल-संयोगिनिमित्ते मरणादयो मृत्युरोगादय संभवन्ति । तद्यया मरणादयः संभवन्ति । मरणादिसंबन्धिन्यो वाधाः । कथं, केन भावनाप्रकारेण मया परिह्नियन्ते । तदिभभव. कथं निवार्यत इत्यर्थः । स्वयमेव समाधत्ते;—।।२८॥

अर्थ—इस संसारमे देहादिकके सम्बन्धसे प्राणियोंको दुख-समूह भोगना पड़ता है—अनन्त करोश भोगने पडते हैं, इसिलये इस समस्त सम्बन्धको जो कि मन, वचन, कायको क्रियासे हुआ करते हैं, मनसे, वचनसे, कायसे छोड़ता हूँ। अभिप्राय यह है कि मन, वचन, कायका आलम्बन लेकर चंचल होनेवाले आत्माके प्रदेशोको भावोसे रोकता हूँ। 'आत्मा, मन वचन कायसे भिन्न हैं,' इस प्रकारके अभ्याससे सुखल्य एक फलवाले मोक्षकी प्राप्ति होती है और मन, वचन, कायसे आत्मा अभिन्न हैं, इस प्रकारके अभ्याससे दुःखल्य एक फलवाले संसारकी प्राप्ति होती है, जैसा कि पूल्यपादस्वामोने समाधिशतकों कहा है—"स्वनुद्धचा यत्तु गृह्णीयात्०"

"जबतक शरीर, वाणी और मन इन तीनोको ये 'स्व हैं—अपने है' इस रूपमे ग्रहण करता रहता है। तबतक संसार होता है और जब इनसे भेद-बुद्धि करनेका अभ्यास हो जाता है, तब मुक्ति हो जाती है।"।। २८।।

> होहा—प्राणी जा संयोगतें, दुःख समूह लहात । याते मन वच काय युत, हुँ तो सर्व तजात ॥ २८॥

फिर भावना करनेवाला सोचता है कि पुद्गल-चरीरादिकरूपी मूर्तद्रव्यके साथ जैसा कि

आगममें मुना जाता है, जीवका सम्बन्ध है । उस सम्बन्धके कारण हो जीवका मरण व रोगादिक होते है, तथा मरणादि सम्बन्धी वाधाएँ भो होती है । तव इन्हे कैसे व किस भावनासे हटाया जावे ? वह भावना करनेवाला स्वयं हो समाधान कर लेता है कि—

न में मृत्युः कुतो भीतिर्न में न्याधिः कुतो न्यथा । नाहं वालो न बुद्धोऽह, न युवैतानि पुद्गले ॥ २९ ॥

अन्वय-मे मृत्युर्न कुतः भीतिः, मे व्याधिनं व्यथा कुतः, अहं न वालः, नाहं वृद्धः, न युवा, एतानि पुद्गले ।

दीका—न में एकोऽहिमस्यादिना निश्चितात्मस्वरूपस्य मृत्युः प्राणत्यागो नास्ति । विच्छिक्तलक्षणभावप्राणाना कदाचिद्यि त्यागाभावात् । यत्रश्च में मरण नास्ति तत. कुतः कस्मास्मरणकारणात्कृष्णसर्पर्देशीतिर्भयं
मम स्यान कुतिश्चिद्यि विभेगीत्यर्थः । तथा व्याधिवितादिदोपवैपम्य मम नास्ति मूर्लकम्बित्वाद्वातादीनाम् ।
यत्रश्चैवं ततः कस्मान् ज्वरादिविकारात् मम व्यया स्यात्त्या वालाध्यक्ष्यो नाह्मस्मि ततः कथ वालाद्यवस्याप्रभवै: वु खैरिभमूयेय अहमिति सामर्थ्याद्य द्रष्टव्यम् । तिहं वय मृत्युप्रभूतीनि स्युरित्याह—एतानि मृत्युव्याधियालादीनि पृद्गले मूर्त्ते देहादावेव संभवित । मूर्त्वधर्मत्वादान्तं मिय तेपा वितरामसंभवात् । भूयोऽपि
भावक एव स्वयमाशङ्कते तहाँतान्यासाद्य मुक्तानि पश्चात्तापकारोणि भविष्यन्तिति यशुक्तनीत्या सयादयो मे
न भवेयुक्तिहि एतानि देहादिवस्तृन्याखाद्य जन्मप्रभृत्यात्मारभीयभावेन प्रतिपद्य मुक्तानीदानी भेदभावनावष्टभाग्मया त्यवतानि । विराम्यस्ताभैदसस्कारवचात्पश्चात्तापकराणि किमितीमानि मयारमोयानि त्यवतानीत्यनुवायकरीणि मम भविष्यन्ति । अत्र स्वयमेव प्रतिपेवममृत्यायिति वल्नित यत्नि। २९ ॥

अर्थ — मेरी मृत्यु नही, तब डर किसका ? मुझे व्याधि नही, तब पीड़ा कैसे ? न मैं बालक हूँ, न बूढ़ा हूँ, न जवान हूँ । ये सब बातें (दशाएँ) पुद्गलमे ही पाई जाती हैं ।

विद्यार्थं—"एको हं निर्मम. शुद्धः" इत्यादिरूपसे जिसका स्वस्वरूप निश्चित हो गया है, ऐसा जो में हूँ, उसका प्राणत्यागरूप मरण नही हो सकता, कारण कि चित्रशक्तिरूप भाव-प्राणोका कभी भी विछोह नही हो सकता। जब कि मेरा मरण नही, तब मरणके कारणभूत कालं नाग आदिकोसे मुझे भय क्यों? अर्थात् में किसीसे भी नहीं डरता हूँ। इसी प्रकार वात, पित्त, कफ आदिकी विपमताको व्याधि कहते है, और वह मुझे है नहीं, कारण कि वात आदिक मूर्तपदार्थंसे हो सम्बन्ध रखनेवाले हैं। जब ऐसा है, तब ज्वर आदि विकारोसे मुझे व्यथा—तकलेफ कैसी? उसी तरह मैं बाल, वृद्ध आदि अवस्थावाला भी नहीं हूँ। तब बाल, वृद्ध आदि अवस्थावाले पैदा होनेवाले हु खो-क्लेशोसे मैं कैसे दु खी हो सकता हूँ? अच्छा यदि मृत्यु क्यांस्ट आत्मामे नहीं होते, तो किसमे होते हैं? इसका जवाब यह है कि 'एतानि पुद्मले' ये मृत्यु-व्याधि और बाल-वृद्ध आदि दशाएँ पुद्मल-मूर्त शरीर आदिकामे ही हो सकती है। कारण कि ये सब मूर्तिमान् पदार्थों वर्म है। मैं तो अमूर्त हूँ, मुझमें वे कदािप नहीं हो सकती है। कारण कि ये सब मूर्तिमान् पदार्थों वर्म है। मैं तो अमूर्त हूँ, मुझमें वे कदािप नहीं हो सकती है।

दोहा—मरण रोग मोमै नहीं, तातें सदा निशंक। बाल तरुण नींह वृद्ध हूँ, ये सब पुद्गल अंक॥ २९॥

१. करोति ।

फिर भी भावना करनेवाला खुद शंका करता है, कि यदि कही हुई नीतिके अनुसार मुझे भय आदि न होवे न सही, परन्तु जो जन्मसे लगाकर अपनाई गई थी और मले ही जिन्हें मैने भेद-भावनाके बलसे छोड़ दिया है, ऐसी देहादिक वस्तुएँ, चिरकालके अभ्यस्त-अभेद संस्कारके वशसे परचात्ताप करनेवाली हो सकती है कि 'अपनी इन चीजोंको मैने क्यों छोड दिया ?'

भावक-भावना करनेवाला स्वयं ही प्रतिबोध हो सोचता है कि नहीं, ऐसा नहीं हो सकता है, कारण कि---

मुक्तोिज्झिता ग्रहुमोंहान्सया सर्वेऽपि पुद्गलाः। उच्छिष्टेष्विय तेष्वद्य, मम विज्ञस्य का स्पृहा॥३०॥

अन्वय—मोहात् सर्वेऽपि पुर्गलाः मया मुहुर्मुक्तोिज्ञताः उच्छिष्टेष्विव तेपु अद्य विज्ञस्य मम का स्पृहा ।

द्योका — मोहादिवद्यावेवावशादनादिकालं कर्मादिमावेवोपादाय वर्वे पुद्गला मया संसारिणा जीवेन वार वार पूर्वमनुभूता. पश्चाच्च नीरसीकृत्य त्यक्ताः यतस्वैवं तत उच्छिष्ठिविव भोजनगम्धमात्यादिपु स्वयं भुक्तवा त्यक्तेषु यथा लोकस्य तथा मे संप्रति विज्ञस्य तत्त्वज्ञानपरिणतस्य तेषु फेलीकल्पेषु पुद्गलेषु का स्पृहा ? न कदाचिदिप । वत्स ! त्वया मोक्षाधिना निर्ममत्वं विचिन्तियत्वयम् । अत्राह शिष्यः । अथ कथं ते निवध्यन्त इति । अथीत प्रकृते केन प्रकारेण पुद्गला जोवेन नियतमुपादीयन्ते इत्यर्थः । गुरुराहः—।। ३०।।

अर्थ—मोहसे मैने सभी पुद्गलोको बार-वार भोगा, और छोड़ा। भोग भोगकर छोड़ दिया। अब जूठनके लिए (मानिन्द) उन पदार्थीमें मेरी क्या चाहना हो सकती है? अर्थात् उन भोगोंके प्रति मेरी चाहना—इच्छा हो नहीं हैं।

विश्वार्थ — अविद्या के , आवेशके वशसे अनादिकालसे ही मुझ संसारीजीवने कर्म आदिक रूपमें समस्त पुद्गलोंको बार-बार पहले भोगा और पीछे उन्हें नीरस (कर्मस्वादि रहित) करके छोड दिया। जब ऐसा है, तब स्वयं भोगकर छोड़ दिये गये जूठन—उि छष्ठ भोजन, गन्ध, मालादिकोंमें जैसे लोगो को फिर भोगनेकी स्पृहा नहीं होती, उसी तरह इस समय तत्त्वज्ञानसे विशिष्ट हुए मेरी उन छिनकी हुई रेट (नाक) सरीखे पुद्गलों क्या अभिलापा हो सकती है रिनहीं, नहीं; हरिगज नहीं। भैया! जब कि तुम मोक्षार्थी हो तब तुम्हें निर्ममत्वकी ही भावना करनी चाहिये।। ३०।।

दोहा—सब पुद्गलको मोहसे, भोग भोगकर त्याग। मै ज्ञानी करता नहीं, उस उच्छिप्टमें राग॥३०॥

यहाँपर शिष्य कहता है कि वे पुर्गल क्यों वैंच जाते हैं ? अर्थात् जीवके द्वारा पुर्गल क्यों और किस प्रकारसे हमेशा जन्धको प्राप्त होते रहते है ?

१. फेलाभुक्तसमृज्ञ्ञितम् । अ । भूक्तवा हयुक्तमित्वर्थः ।

आचार्य उत्तर देते हुए कहते है-

कर्म कर्महितावन्धि, जीवो जीवहितस्पृहः। स्वस्त्रप्रभावभृयस्त्वे, स्वार्थं को वा न वाञ्छति ॥३१॥

अन्वय-कर्म, कर्महितावन्धि, जीवः जीवहितस्पृहः स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे स्वार्थं को वा न वाञ्छति ।

टीका—"कत्थिव बलियो जोवो, कत्थिव कम्माइ हुंति बलियाइ । जीवस्स य कम्मस्स य, पुव्व-विरुद्धाइ वहराइ ॥" इत्यिभधानात्पूर्वोपाजित बलवत्कर्म कर्मण. स्वस्मैव हितमावव्नाति जीवस्यौदयिकादि-भावमुद्भाव्य नवनवक्रमिधायकत्वेन स्वसतानं पुष्णातीत्यर्थः । तथा चौक्तम्—

"जीवक्कतं परिणाम, निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरस्ये । स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन" ॥ १२ ॥ —-पुरुपार्थसिद्धग्रुपायः

"परिणममानस्य चितश्चिदारमकै स्वयमपि स्वकैभवि । भवति हि निमित्तमात्रं, पीद्गलिकं कर्म तस्यापि"॥१३॥ —पुरुषार्थसिद्यचुपायः

तया जीव. कालादिलब्ब्या वलवानात्मा जीवस्य स्वस्यैव हितमनन्तसुखहेतुःखेनोपकारकं मोक्षमा-काङ्क्षति । अत्र दृष्टान्तमाह—स्वस्वेत्यादि निजनिजमाहात्स्यवहुतरत्वे सति स्वार्थे स्वस्योपकारकं वस्तु को न बाञ्छति सर्वोप्पभिलपतीत्यर्थं. । तती विद्धि कर्मादिण्टो जीवः कर्म सचिनोतीति । यतश्चैवं तत –॥३१॥

अर्थ — कर्म कर्मका हित चाहते है । जीव जीवका हित चाहता है । सो ठीक ही है, अपने-अपने प्रभावके बढनेपर कौन अपने स्वार्थको नही चाहता। अर्थात् सब अपना प्रभाव बढाते ही रहते हैं ।

विज्ञवार्थ—कभी जीव बलवान् होता तो कभी कर्म बलवान् हो जाते है। इस तरह जीव और कर्मोका पहलेसे (अनादिसे) हो बैर चला बा रहा है। ऐसा कहनेसे मतलब यह निकला कि पूर्वोनाजित बलवान् द्रव्यकर्म, अपना यानी द्रव्यकर्मका हित करता है अर्थात् द्रव्यकर्म, जीवमे औदियक बादि भावोको पैदा कर नये द्रव्यकर्मोको ग्रहणकर अपनी सतानको पुष्ट किया करता है, जैसा कि अमृतचन्द्राचार्थने पुरुषार्थसिद्धवृपायमे कहा है— "जीवकृतं परिणाम॰", "परिणममानस्य॰"

जीवके द्वारा किये गये परिणाम जो कि निमित्तमात्र है, प्राप्त करके जीवसे विभिन्न पुद्गल, खुद व खुद कर्मल्प परिणम जाते है । और अपने चेतनात्मक परिणामोसे स्वयं ही परिणमनेवाले जीवके लिये वह पौद्गलिककर्म सिर्फ निमित्त बन जाता है । तथा कालादि लिब्धसे बलवान् हुआ जीव अपने हितको अनन्त सुखका कारण होनेसे उपकार करनेवाले स्वास्मोपलिब्धल्प मोक्षको चाहता है । यहाँपर एक स्वभावोक्ति कही जाती है कि "अपने-अपने माहास्प्यके प्रभावके वढनेपर स्वार्थको—अपनी अपनी उपकारक वस्तुको कीन नही चाहता ? सभी चाहते है ॥ ३१ ॥

दोहा—कर्म कर्मिहतकार है, जीव जीवहितकार। निज प्रभाव वल देखकर, को न स्वार्थ करतार॥ ३१॥ इसिल्ये समझो कि कर्मोसे बँधा हुआ प्राणी कर्मोका संचय किया करता है। जबिक ऐसा है तब —

परोपकृतिग्रुत्सृज्य, स्वीपकारपरो भव । उपकुर्वन्परस्याज्ञो, दृश्यभानस्य लोकवत् ॥ ३२ ॥

अन्वय-परोपकृति उत्सृज्य स्वोपकारपरो भव दृश्यमानस्य परस्य उपकुर्वन् अज्ञः लोकवत् ।

टीका — परस्य कर्मणो देहादेवां अविद्यावशात् क्रियमाणमुपकारं विद्याम्यासेन त्यवस्वातमानुम्रहप्रधानो भव त्वम्। कि कुर्वन्सन्, उपकुर्वन्। कस्य, परस्य सर्वथा स्वस्माद्वाह्यस्य दृश्यमानस्येग्द्रियैरनुमूयमानस्य देहादेः । क्रिदिशिष्टो यतस्यं अक्तस्तत्वानिभक्तः किवल्लोकवत् । यथा लोकः परं परत्वेनालानंस्तस्योपकुर्वन्नपि तं तत्वेन ज्ञात्वा तदुपकारं त्यवस्या स्वोपकारपरो भवत्येवं त्वमपि भवत्यर्थः । अयाह शिष्यः । कथं तयोविशेष इति केनोपायेन स्वपर्योगोंदो विज्ञायेत । तद्धि ज्ञानुश्च कि स्यादित्यर्थं । गुरुराह—॥ ३२ ॥

अर्थ-परके उपकार करनेको छोड़कर अपने उपकार करनेमें तत्वर हो जाओ। इद्वियोके द्वारा दिखाई देते हुए शरीरादिकोका उपकार करते हुए तुम अज्ञ (वास्तविक वस्तुस्थितिको न जाननेवाले) हो रहे हो। तुम्हे चाहिये कि दुनियाँकी तरह तुम भी अपनी भलाई करनेमे लगो।

विश्रदार्थ—पर किंद्ये कर्म अथवा शरीरादिक, इनका अविद्या—अज्ञान अथवा मोहके विश्रसे जो उपकार किया जा रहा है, उसे विद्या सम्पग्जान अथवा वीतरागताके अभ्याससे छोड़कर प्रधानतासे अपने (आत्माके) उपकार करनेमें तत्पर हो जाओ। तुम सर्वथा अपने (आत्मा) से बाह्य इन्द्रियोके द्वारा अनुभवमें आनेवाले इन शरीरादिकोंकी रक्षा करना आदि रूप उपकार करनेमें लगे हुए हो। इसिल्ये मालूम पड़ता है कि तुम अज्ञ (वस्तुओंके वास्तविक स्वरूपसे अजान) हो। जैसे दुनियाके लोग जबतक दूसरेको दूसरे रूपमे नहीं जानते, तबतक उनका उपकार करते हैं। परन्तु ज्यों ही वे अपनेको अपना और दूसरेको दूसरा जानते हैं, उनका (दूसरोका) उपकार करना छोड़कर अपना उपकार करनेमें लग जाते हैं। इसी प्रकार तुम भी तत्वज्ञानी वनकर अपनेको स्वाधीन शुद्ध बनाने रूप आत्मोपकार करनेमें तत्पर हो जाओ।। ३२।।

दोहा--प्रगट अन्य देहादिका, सूढ़ करत उपकार। सज्जनवत् या भूल को, तज कर निज उपकार॥ ३२॥

यहाँपर शिष्य कहता है कि किस उपायसे अपने और परमें विशेषता (भेद) जानी जाती है, और उसके जाननेवालेको क्या होगा ? किस फलकी प्राप्ति होगी ? आचार्य कहते है—

> गुरूपदेशादभ्यासात्संविचेः स्वपरान्तरम् । जानाति यः स जानाति, मोक्षसौख्यं निरन्तरम् ॥ ३३ ॥

अन्वय—य' गुरूपदेशात् अभ्यासात् संवित्तेः स्वपरान्तरं जानाति स मोक्षसौख्यं निरन्तरं जानाति । दीका —यो जानाति । कि तत्स्ववरान्तर अत्मवरयोभेंदं यः स्वात्मान परस्माद्भिन्नं पश्यतीत्यर्थः । कृतः संवित्तेर्लक्षणतः स्वळक्ष्यानुभवात् । एपोपि कृतः, अभ्यासात् अभ्यासभावनातः । एपोप्पि गृहपदेशात् धर्माचार्यस्यात्मनश्च सुदृढस्वपरिविषेकज्ञानोत्पादकवाक्यात् सः तथान्यापोढस्वात्मानुभविता मोक्षसौक्यं निरन्तर-पविच्छिन्नमनुभवित । कर्मविविक्तानुमान्यविनाभावित्वात्तस्य । तथा चोक्तं तत्त्वानुशासने,—

"तदेवानुभवंश्चायभेकाग्रं परमृच्छित । तथात्मधीनमानन्दमेति वाचामगोचरम्" — तत्त्वानुशासनम् ।
॥ १७० ॥

सय शिष्यः पृच्छति--कस्तत्र गुरुरिति तत्र मोक्षसुखानुभवविषये । गुरुराह--।। ३३ ॥

अर्थ—जो गुरुके उपदेशसे अभ्यास करते हुए अपने ज्ञान (स्वसवेदन) से अपने और परके अन्तरको (भेदको) जानता है। वह मोक्षसम्बन्धी सुखका अनुभव करता रहता है।

विज्ञदार्थ —गुरु कहिये वर्माचार्य अयवा गुरु किह्ये स्वयं आत्मा, उसके उपदेशसे सुदृढ स्वपर विवेक ज्ञानके पैदा करनेवाले वाक्योके और उसके अनुसार अभ्यास करना चाहिये। वार-वार अभ्यास करनेसे सिवित्त —अपने लक्ष्यका अनुभव होने लगता है। उस संवित्त (स्वसंवेदन) के द्वारा जो स्वात्माको परसे भिन्न जानता देखता है, भिन्न आत्माका अनुभव करनेवाला मोक्ष-सुखको निरन्तर—हमेशा विच्छेद रहित अनुभव करने लग जाता है। क्योंकि वह मोक्ष-सुखका अनुभव, कर्मोसे भिन्न आत्माका अनुभव करनेवालोको होता है, अन्योको नही। जैसा कि तस्वानुशासनमें कहा है—"तदेवानुभंवश्चाय०,"

उस आत्माका अनुभव करते हुए यह आत्मा, उत्ऋष्ट एकाग्रताको प्राप्त कर लेता है, और इस तरह मन तथा वाणीके अगोचर अथवा वचनोसे भी न कहे जा सकनेवाले स्वाधीन आनन्दको प्राप्त कर लेता है।। ३३॥

दोहा--गुरु उपदेश अभ्याससे, निज अनुभवसे भेद। निज-परको जो अनुभवे, छहै स्वसुख वेखेद॥ ३३॥

आगे शिष्य पूछता है कि मोक्ष-सुखके अनुभवके विषयमें कीन गुरु होता है ? आचार्य कहते हैं—

स्वित्मम् सद्भिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वतः । स्वयं हितप्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मनः ॥ ३४ ॥

अन्वय—स्वय स्वस्मिन् सदिभिलापित्वात् अभीष्टज्ञापकत्वतः हितप्रयोक्तृत्वात् आत्मनः आत्मा एव गुरुः अस्ति ।

टीका—य खलु शिष्य. सदा अभीदणं कल्याणमिमलपित तेन जिज्ञास्य तदुपायं त जापयति । तत्र चाप्रवर्त्तमानं त प्रवर्त्तयिति स किङ गुरु. प्रसिद्धः । एयं च सत्यात्मन आत्मैन गुरु. स्यात् । कुत इत्याह— स्वयमात्मा स्विस्मन्मोक्षसुखाभिलापिण्यात्मित सत् प्रशस्त मोक्षसुखयभीदणमिमलपित । मोक्षसुखं मे संपद्यति-मित्याकादुक्षतीत्येव भयात् । तथाभोष्टस्यात्मना जिज्ञास्यमानस्य मोक्षसुखोपायस्यात्मविषये ज्ञापकत्वादेप मोक्षसुखोपायो मया सेव्य इति बोधकत्वात् । तथाहि तं मोक्षसुखोपाये स्वयं स्वस्य प्रयोधतृत्वात् । अस्मिन्सु-दुर्लभे मोक्षसुखोपाये दुरात्मन्नात्मन्स्वयमचापि न प्रवृत्त इति । तत्रावर्त्तमानस्यात्मनः प्रवर्त्तकत्वात् । बथ शिष्यः साक्षेपमाह । एवं नान्योपास्ति प्राप्नोतीति भगवन्नुकनीत्या परस्परगुरुत्वे निश्चिते सति धर्माचार्याद्दिस्वनं प्राप्नोति मृमुक्षुः । मृमुक्षुणा धर्माचार्यादिः सेव्यो न भवतीति भावः । न चैवमेतिविति वाच्यमपिसद्धान्त-प्रसङ्काविति वदन्तं प्रत्याह्—। ३४ ॥

अर्थ — जो सत्का कल्याणका वांछक होता है, चाहे हुए हितके उपायोको जतलाता है, तथा हितका प्रवत्तंक होता है, वह गुरु कहलाता है। जब आत्मा स्वयं हो अपनेमें सत्की—कल्याणको यानी मोक्ष-सुखको अभिलाषा करता है, अपने द्वारा चाहे हुए मोक्ष-सुखके उपायोंको जतलानेवाला है, तथा मोक्ष-सुखके उपायों अपने आपको प्रवत्तंन करानेवाला है. इसलिये अपना (आत्माका) गुरु आप (आत्मा) ही है।

विश्व हार्थ — यह आत्मा स्वय ही जब मोक्ष सुखाभिलाषी होता है, तब सत्की यानी मोक्ष-सुखको हमेशा अभिलापा करता रहता है कि मुझे मोक्ष-सुख प्राप्त हो जावे। इसी तरह जब स्वयं आत्मा मोक्ष-सुखके उपायोको जानना चाहता है, तब यह स्वय मोक्षके सुखके उपायोको जतलाने-वाला बन जाता है कि यह मोक्ष-सुखके उपाय मुझे करना चाहिये। इसी तरह अपने आपको मोक्ष-उपायमे लगानेवाला भी वह स्वयं हो जाता है, कि इस सुदुर्लभ मोक्ष सुखोपायमे हे दुरात्मन् आत्मा! तुम आजतक अर्थात् अभीतक भी प्रवृत्त नहीं हुए। इस प्रकार अभीतक न प्रवर्तनेवाले आत्माका प्रवर्तक भो हुआ करता है। इसल्ये स्वय ही आत्मा अपने कल्याणका चाहनेवाला, अपनेको सुखोपाय बतलानेवाला और सुखोपायमे प्रवृत्ति करनेवाला होनेसे अपना गुरु है।। ३४॥

दोहा—आपिह निज हित चाहता, आपिह ज्ञाता होय। आपिह निज हित प्रेरता, निज गुरु आपिह होय॥ ३४॥

यहाँपर जिष्य आक्षेप सिहत कहता है कि इस तरह तो अब अन्य दूसरोको क्यो सेवा करनी होगी ? वस जब आपसमे खुदका खुद ही गुरु वन गया, तब धर्माचार्यादिकोंकी सेवा मुमुक्षुओंको नहीं करनी होगी। ऐसा भी नहीं कहना चाहिये, कि हाँ ऐसा तो है ही, कारण कि वैसा माननेसे अपसिद्धान्त हो जायगा। ऐसे बोलनेवाले शिष्यके प्रति आचार्य जवाब देते है—

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति, विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति । निमित्तमात्रमन्यस्तु, गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥ ३५ ॥

अन्वय-अज्ञः विज्ञत्वं न**्आयाति विज्ञ अज्ञत्वं न** ऋच्छति गतेर्घमीस्तिकायवत् अन्यस्तु निमित्तमात्रम् ।

टीका—सद्र ! अज्ञस्तत्त्वज्ञानोत्पत्त्ययोग्योऽभन्यादिर्विज्ञत्वं वत्त्वज्ञत्वं वर्माचार्यादुपदेशसहस्रेणापि न गन्छति । तथा चोक्तम्—

"स्वाभाविकं हि निष्पत्ती, क्रियागुणमपेक्ष्यते । न व्यापारशतेनापि-शकवत्पाठ्यते वकः" ॥

तया विज्ञस्तत्त्वज्ञानपरिगतो अज्ञत्वं तत्त्रज्ञानात्परिभ्रंश्चमुपायसहस्रेणापि_न गच्छति । तथा चोक्तम्---"वच्चे पत्तत्पपि भयद्वृतविक्वलोक्षमुक्ताम्बनि प्रचामिनो न चलन्ति योगात् ।

—पद्मनित्पञ्चविशतिका, पृ० ३३.

बोधप्रदीपहतमोहमहान्धकाराः, सम्यन्द्रशः किसुत श्रेषपरीपहेषु"।।६३॥

नन्त्रेचं बाह्यविमित्तसेषः प्राप्नोतीत्यत्राह । अन्यः पूनर्गृहविषक्षादिः प्रकृतार्थसमुत्यादभंदायोगिमित्तमात्रं स्यात्तत्र योग्य 'ताया एव साक्षात्सायकत्वात् । कस्याः को यथेत्यत्राह, गतिरित्यादि । अयमयों प्याय युगपद्भा-विगति-परिणामोन्मुखाना भावाना स्वकीया गतिकावितरेव गतेः साक्षाण्जनिका तद्दैकत्ये तस्याः सहकारिकारण-मात्रं स्यादेवं प्रकृतेऽपि अतो व्यवहारादेव गुवदिः खुश्रूपा प्रतिपत्तव्या । अयाह खिष्यः—अन्यासः कवमिति । अस्यासप्रयोगोपायप्रक्तोऽपम् । अस्यासः कथ्यत इति ववचित्पाठः । तत्राभ्यासः स्यात् भूयोगूयः प्रवृत्तिलक्षण-त्रेन सुप्रसिद्धत्वातस्य स्थानिकयादिक्पेणोपदेशः क्रियतः । एवं सवित्तरक्षयतः इत्युत्तरवातिकाया अपि व्यावपानमेत्तरवाठपेक्षया इत्यव्यम् । तथा च गुरोरवैते वावये व्यावयेये । शिव्यवीवार्थं गुरुराह—।।३५॥

अर्थ-तत्वज्ञानकी उत्पत्तिके अयोग्य अभव्य आदिक जीव, तत्त्वज्ञानको धर्माचार्यादिकोके हजारो उपदेशोंसे भी नही प्राप्त कर सकते हैं। जैसा कि कहा गया है "स्वामाविक हि निष्पत्ती०"

"कोई भी प्रयस्त कार्यंकी उत्पत्ति करनेके लिये स्वाभाविक गुणकी अपेक्षा किया करता है। सैकडों व्यापारोसे भी वगुला तोतेकी तरह नही पढ़ाया जा सकता है।"

इसी तरह तत्त्वज्ञानी जीव, तत्त्वज्ञानसे छूटकर हजारों उपायोंके द्वारा भी अज्ञत्वको प्राप्त नहीं कर सकता। जैसा कि कहा गया है—"बच्चे पतत्यपिठ"

"जिसके कारण भयसे घवराई हुई सारी दुनियाँ मार्गको छोड़कर इधर-उधर भटकने लग जाय, ऐसे बज्जिक गिरनेपर भी अनुल शाजिसम्पन्न योगिगण योगसे (ध्यानसे) चलायमान नहीं होते। तब ज्ञानरूपी प्रदीपसे जिन्होने मोहरूपी महान् अन्यकारको नष्ट कर दिया है, ऐसे सम्यन्दृष्टि जीव नया गेप परीबहोके आनेपर चलायमान हो जायेगे? नहीं, वे कभी भी चलायमान नहीं हो सकते है।"

यहाँ शंका यह होतो है कि यों तो बाह्य निमित्तोंका निराकरण ही हो जायेगा? इसके विवयमे जवाब यह है कि अन्य जो गुरु आदिक तथा शत्रु आदिक है, वे प्रकृत कार्यके उत्पादनमें तथा विश्वसनमें सिर्फ निमित्तमात्र है। वास्तवमें किसी कार्यके होने व विगडनेमें उसकी योग्यता ही साक्षात् शाधक होती है। जैसे एक साथ गतिरूप परिणामके लिये उन्मुख हुए पदार्थोमें गतिकी साक्षात् पैदा करनेवालों उन पदार्थोकों ही गमन करनेकी शक्ति है। क्योंकि यदि पदार्थोमें गमन करनेकी शिक्त है। क्योंकि यदि पदार्थोमें गमन करनेकी शिक्त होने तो उनमें किसीके द्वारा भी गति नहीं की जा सकती। चर्मीस्तिकाय तो गति करानेमें सहायकरूप द्वय्विशेष है। इसलिये वह गतिके लिये सहकारी कारणमात्र हुआ करता है। यही वात प्रकृतमें भी जाननी चाहिये। इसलिये व्यवहारसे हो गुरु आदिकोंको सेवा शुश्रूषा आदि की जानी चाहिये।। ३५॥

१ सामध्यस्य ।

दोहा—मूर्ख न ज्ञानी हो सके, ज्ञानी मूर्ख न होय। निमित्त मात्र पर जान, जिमि गित धर्मतें होय॥३५॥

अब शिष्य कहता है कि 'अभ्यास कैसे किया जाता है ?' इसमें अभ्यास करनेके उपायोंको पूछा गया है। सो अभ्यास और उसके उपायोंको कहते है। बार-बार प्रवृत्ति करनेको अभ्यास कहते है। यह बात तो भलीभौति प्रसिद्ध ही है। उसके लिये रथान कैसा होना चाहिए ? कैसे नियमादि रखने चाहिए ? इत्यादि रूपसे उसका उपदेश किया जाता है। इसी प्रकार साथमें संवित्तिका भी वर्णन करते हैं।

अभवचित्रविक्षेप, एकान्ते तत्त्वसंस्थितः । अभ्यस्येदभियोगेन, योगी तत्त्वं निजान्मनः ॥३६॥

अन्वय-अभविचन्तिवक्षेपः तत्त्वसंस्थितः योगी निजात्मनः तत्त्वं एकान्ते अभियोगेन अभ्यस्येत्।

टीका — अम्यस्ये द्वावयेरकोऽसी, योगी संयमी। किं, तत्त्वं याधारम्यं। कस्य, तिजात्मतः। केन, अभियोगेन आलस्यिनद्राविनरासेन। वन, एकान्ते योग्यशून्यगृहादो। किंविशिष्टः सन्, अभवश्रजायमानिश्चतस्य मनसो विक्षेपो रागादिसंक्षीभो यस्य सोऽयमित्यंभूतः सन्। किंभूतो भूत्वा, तथाभूत इत्याह। तत्त्वसंस्थितस्तत्त्वे हेये उपादेये च गुरूपदेशाशिश्चरूठधोः यदि वा तत्त्वेन साध्ये वस्तुनि सम्यक् स्थितो यथोक्तःकायोरसर्गादिना व्यवस्थितः। अथाह शिष्यः संवित्तिरिति। अभ्यासः कथिमत्यनुवत्यंते नायमर्थः संयम्यते।
भगवन्नुक्तरूक्षणा संवित्तः प्रवर्तमाना केनोपायेन योगिनो विज्ञायते कथं च प्रतिक्षणं प्रकर्पमापद्यते। अत्राचार्यो
विक्तः। उच्यत इति । घीमञ्चाकणंय वर्ष्यंते तिल्लञ्जं तावन्मयेत्यर्थः।। ३६।।

अर्थ-जिसके चित्तमें क्षोभ नहीं है, जो आत्मा-स्वरूपमे स्थित है, ऐसा योगी सावधानीपूर्वक एकान्त स्थानमे अपने आत्माके स्वरूपका अभ्यास करे।

विश्वरार्थ—नहीं हो रहे हैं चित्तमें विक्षेप—रागादि विकल्प जिसको ऐसा तथा हेय-उपादेय तत्त्वोमें गुक्के उपदेशसे जिसको बुद्धि निश्चल हो गई है, अथवा परमार्थरूपसे साध्यभूत वस्तुमें भलें प्रकारसे—यानी जैसे कहें गये हैं, वैसे कायोत्सर्गादिकोसे व्यवस्थित हो गया है, ऐसा योगी अपनी आत्माके ठीक-ठीक स्वरूपका एकान्त स्थानमें—योगीके लिये योग्य ऐसे शून्य गृहोमें, पर्वतीकी गृहा-कंदरादिकोमें, आलस्य-निद्धा आदिको दूर करते हुए अभ्यास करें ॥ ३६॥

दोहा—क्षोभ रहित एकान्तमें, तत्त्वज्ञान चित घाय। सावधान हो संयमी, निज स्वरूपको भाय॥३६॥

यहाँपर शिष्य पूछता है, कि भगवन् ! जिसका लक्षण कहा गया है ऐसी 'संवित्ति हो रही है।' यह बात योगीको किस तरहसे मालूम हो सकती है ? और उसकी हरएक क्षणमे उन्निति हो रही है, यह भी कैसे जाना जा सकता है ? आचार्य कहते है कि हे घीमन् ? सुनो मैं उसके चिह्नका वर्णन करता हूँ—

यथा यथा समायाति, संवित्तौ तन्त्रमुत्तमम् । तथा तथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि ॥३७॥

अन्वय—यथा यथा सवित्तौ उत्तम तत्त्व समायाति तथा तथा सुलभा अपि विषया न रोचन्ते।

टोका---येन येन प्रकारेण संवित्ती विशुद्धात्मस्वरूपं सामुख्येनागच्छति योगिनः तथा तथानायासलस्या अपि रम्येन्द्रियार्था भोग्यवृद्धि नोत्पादयन्ति । महासुखळव्यावऽल्यमुखकारणाना छोकेऽप्यनादरणोयस्वदर्शनात् । तथा चोक्तम---

''गमसुलक्षीलितमनसामशनमि हेपमैति किमु कामा । स्थलमि दहित झपाणा किमङ्ग पुनरङ्गमङ्गाराः ।१।''

अतो विषयारुचिरेव योगिन. स्वात्मसंवित्तर्गीमका तदभावे तदभावात् प्रकृष्यमाणाया च विषयारुचौ वारमसंवित्तिः प्रकृष्यते । तद्यया —११ ३७ ॥

अर्थ-ज्यो ज्यो संवित्ति (स्वानुभव) मे उत्तम तत्त्वरूपका अनुभवन होता है, त्यो त्यो उस योगीको आसानीसे प्राप्त होनेवाले भी विषय अच्छे नहीं लगते ।

विज्ञादार्थ—जिस जिस प्रकारसे योगोको संवित्ति में (स्वानुभवरूप सवेदनमें) गुद्ध वारमाका स्वरूप झलकता जाता है, सम्मुख आता है, तैंचे-तैंसे विना प्रयाससे, सहजमें ही प्राप्त होनेवालें स्रमणीक इन्द्रिय विषय भी योग्य वृद्धिको पैदा नहीं कर पाते हैं, दुनियाम भी देखा गया है कि महान् सुखकी प्राप्ति होजानेपर अल्प सुखके पैदा करनेवाले कारणोके प्रति कोई आदर या प्राह्यभाव नहीं रहता है। ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है—"भमसुखबीलितमनसा॰"

"जिनका मन शाति-सुबसे सम्पन्न है, ऐसे महापुरुपोको भोजनसे भी द्वेप हो जाता है, सर्थात् उन्हें भोजन भी अच्छा नहीं लगता। फिर और विषय-भोगोकी क्या चर्चा? अर्थात् जिन्हें भोजन भी अच्छा नहीं लगता, उन्हें अन्य विषय-भोग क्यो अच्छे लग सकते हैं? अर्थात् उन्हें अन्य विषय-भोग रुचिकर प्रतीत नहीं हो सकते। हे बत्स! देखो, जब मछलोके अंगोको जमीन ही जला देनेमें समर्थ है, तब अग्निके अगारोंका तो कहना ही बया? वे तो जला ही देगे। इसिलये विषयोकी अरुचि ही योगो की स्वात्म-सवित्तको प्रकट कर देनेवाली है।"

स्वारम-संवित्तिके अभाव होनेपर विपयोसे अरुचि नहीं होतो और विपयोके प्रति अरुचि बढनेपर स्वारम-संवित्ति भी वढ जाती है ॥३७॥

> दोहा--जस जस जातम तत्त्वमें, अनुभव जाता जाय ॥ तस तस विषय सुलस्य भी, ताको नहीं सुहाय ॥३७॥

उपरिलिखित भावको और भी स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं-

यथा यथा न रोचन्ते, विषयाः सुरुमा अपि । तथा तथा समायाति, संवित्ती तत्त्वसुत्तमम् ॥३८॥ अन्वय—यथा यथा मुलभा अपि विषयाः न रोचन्ते तथा तथा उत्तमं तत्त्वं सिवत्ती समायाति।

अनापि पूर्वबद्दचाख्यानम् । तथा चोक्तम्-

"विरमे किमपरेणाकार्यकोलाहलेन, स्वयमि निभृतः सन्पश्य पण्मासमेकम् । हृदयसरिस पुसः पुद्गलाद्भित्रधाम्नो, नतु किमनुपलन्धिमीति कि चोपलन्धिः" ॥ २ ॥ —नाटकसमयसारकल्याः जीवाजीवाधिकारः ।

प्रकृष्यमाणाया च स्वात्मसंवित्तौ यानि चिह्नानि स्युस्तान्याकर्णय । यथा—॥ ३८ ॥

क्यं—ज्यो-ज्यो सहजमें भी प्राप्त होनेवाले इन्द्रिय विषय-भोग रुचिकर प्रतीत नहीं होते हैं, त्यो-त्यों स्वात्म-संवेदनमें निजात्मानुभवकी परिणति वृद्धिको प्राप्त होती रहती है।

विश्वदार्थ—विषय-भोगोके प्रति अरुचि भाव ज्यों-ज्यों वृद्धिको प्राप्त होते हैं त्यों-त्यो योगी-के स्वात्म-सवेदनमे निजात्मानुभवको परिणित वृद्धिको प्राप्त होती रहती है। कहा भी है— "विरम किमपरेणा॰"

आचार्य शिष्यको उपदेश देते हैं, हे वरस । ठहर, व्यर्थके ही अन्य कोलाहलोंसे क्या लाम ? निश्चिन्त हो छह मास तक एकान्त में, अपने आपका अवलोकन तो कर । देख, हृदयरूपी सरोवर-में पुद्गलसे भिन्न तेजवाली आत्माकी उपलब्धि (प्राप्ति) होती हे, या अनुपलब्धि (अप्राप्ति) ॥३८॥

दोहा—जस जस विषय सुलभ्य भी, ताको नहीं सुहाय। तस तस आतम तस्वमें, अनुभव बढ़ता जाय॥३८॥

हे वत्स ! स्वात्मसिवित्तिके बढनेपर क्या क्या वाते होती है, किस रूपमे परिणित होने लगती है, आदि बातोंको सुन—

निशासयति निश्शेपमिन्द्रजालोपमं जगत्। स्पृह्यस्यात्मलाभायः, गस्वान्यत्रानुतप्यते॥३९॥

अन्वय—योगी निव्होवं जगत् इन्द्रजालोपमं निवासयित, आत्मलाभाय स्पृहयित अन्यत्र गत्वा अनुतप्यते ।

१ 'विरम किमपरेणा॰'का कितना सुन्दर भावपूर्ण सवैया स्व कविवर वनारसीदासजीने समयसार-भाटकमे कहा है—

[&]quot;भैया जगवासी तू उदासी व्हैंकै जगतसाँ, एक छ. महीना उपरेस मेरी मानु रे। और संकलप विकलपके विकार तजि, बैठकै एकंत सन एक ठोर आनु रे।। तेरो घट-सर तामै तूही है कमल ताकौ, तूही मधुकर व्है सुवास पहिचानु रे। प्रापित न व्हैंहै कछु ऐसी तू विचारतु है, सही व्हैंहै प्रापित सरूप यौ ही जानु रे।। ३॥ (अजीवहार)

टीका—योगीत्यन्तवीपकत्वात्सर्वत्र योज्यः । स्वादमसंवित्तिरसिको व्याता चराचरं बहिर्वस्तुजातम-वश्योपेक्षणीयत्या हानोपादानवृद्धिविषयत्वादिन्द्रजािळकोपदिश्वितसपृद्धारादिषदार्थसदृश्चं पश्यित । तथात्मलामाय स्पृह्मवि चिदानन्वस्वरूपमात्मानं संवेदियिषुमिन्छिति । तथा अन्यत्र स्वातमन्यवितिरक्ते यत्र वशिष वस्तुनि पूर्व-संस्कारादिवशात्मनोवावकार्यमत्वा व्यापृत्य अनुतप्यते स्वयमेव आ कर्षं मयेदमनात्मीनमनृष्टितिनित पृक्षात्तापं करोति । तथा—।। ३९ ॥

अर्थं—योगी समस्त संसारको इन्द्रजालके समान समझता है। आस्प्रस्वरूपकी प्राप्तिके लिये अभिलाषा करता है। तथा यदि किसी अन्य विपयमे उलझ जाता, या लग जाता है तो परवात्ताप करता है।

विश्वार्थः -- इलोक नं. ४२ में कहे गये "योगी योगपरायणः" शब्दको अन्त्यदीपक होनेसे सभी "निशामयित स्पृहयित" आदि क्रियापदोके साथ लगाना चाहिये। स्वात्म-सवेदन करनेमें जिसे आनन्द आता है, ऐसा योगी इस चर, अचर, स्थावर, जगमरूप समस्त बाहरी वस्तु- समूहको त्याग और ग्रह्णविषयक बुद्धिका अविषय होनेसे अवश्य उपेक्षणीय रूप इन्द्रजालियाके द्वारा विखलाये हुए सर्पहार आदि पदार्थोंके समूहके समान देखता है। तथा चिदानन्द-स्वरूप आत्माके अनुभवकी इच्छा करता है और अपनी आत्माको छोड़कर अन्य किसी भी वस्तुमें पहले संस्कार आदि कारणीसे यदि मनसे, वचनसे, या कायसे, प्रवृत्ति कर बैठता है, तो वहाँसे हटकर खुद हो पदचात्ताप करता है, कि ओह! यह मैंने कैसे आत्माका अहित कर डाला ॥३९॥

वोहा—इन्द्रजाल सम देख जग, निज अनुभव रुचि लात । अन्य विषयमें जात यवि, तो मनमें पळतात ॥३९॥

आत्मानुभवीके और भी चिह्नोंको दिखाते हैं-

इच्छत्येकान्तसंवासं, निर्जनं जनितादरः। निजकार्यवशास्किश्चिदुक्त्वा विस्मरति द्रुतम् ॥४०॥

अन्वय—(योगी) निर्जन जनितादरः एकान्तसवासं इच्छति निजकार्यवशात् किञ्चिदुनत्वा द्वतं विस्मरति ।

टीका—एकान्ते स्वभावतो निर्जने गिरिगहनादौ संवासं गुर्वादिभिः सहावस्थानसभिलपति । किवि-थिष्ट. सन्, जनितादरो जनसनोरञ्जनखसरकारि-सन्त्रादि-प्रयोगवात्तीनिवृत्ती कृतप्रयत्तः । कस्मै निर्जनं जना-भावाय स्वार्थवशाल्लाभालाभादिप्रक्रनार्थं लोकमुपसर्प्यन्तं निर्पेच्यमित्यर्थः। व्यानाद्धि लोकचमरकारिण. प्रत्यया. स्यु: । तथा चोमतम्—

''गुरूपदेशमासाद्य, समभ्यस्यन्ननारतम् । घारणासौधनान्यानप्रत्यवानपि पश्यति'' ॥

तया स्वस्वावस्थकरणीयभोजनादिपारतन्त्र्यात्किचिद्यस्यसमग्रं श्रावकादिकं प्रति अहो इति अहो इद-मिति अहो इदं कुर्वित्रत्यादि भाषित्वा तत्क्षण एव विस्मरित । भगवन् किमादिश्यत इति श्रावकादो पृच्छिति सित न किमप्यृत्तर ददाति । तथा—

अर्थ—निर्जनताको चाहनेवाला योगी एकान्तवासको इच्छा करता है और निज कार्यके वशसे कुछ कहे भी तो उसे जल्दी ही भुला देता है।

विश्वदार्थ — लोगोके मनोरंजन करनेवाले चमत्कारी मन्त्र-तन्त्र आदिके प्रयोग करनेकी वार्ताएँ न हुआ करें, इसके लिये अर्थात् अपने मतलबसे लाभ-अलाभ आदिकके प्रश्न पूछनेके लिये आनेवाले लोगोंको मना करनेके लिये किया है प्रयत्न जिसने ऐसा योगी स्वभावसे ही जनशून्य—पहाड़ोंकी गुहा-कन्दरा आदिकों में गुरुओके साथ रहना चाहता है। ध्यान करनेसे लोकचमत्कारी बहुतसे विश्वास व अतिशय हो जाया करते हैं, जैसा कि कहा गया है—"गुरूपदेशमासाद्या अर्थे

"गुरसे उपदेश पाकर हमेशा अच्छी तरह अभ्यास करते रहनेवाला, घारणाओमें श्रेष्ठता प्राप्त हो जानेसे ध्यानके अतिश्योको भी देखने लग जाता है।" अपने शरीरके लिये अवश्य करने योग्य जो भोजनादिक, उसके वशसे कुछ थोड़ासा श्रावकादिकोंसे "अही, देखो, इस प्रकार ऐसा करना, अहो, और ऐसा, यह इत्यादि" कहकर उसी क्षण भूल जाता है। भगवन् ! क्या कह रहें हा ? ऐसा श्रावकादिकोंके द्वारा पूछे जानेपर योगी कुछ भी जवाब नही देता। तथा—।।४०॥

दोहा—निर्जनता आदर करत, एकांत सवास विचार। निज कारजवश कुछ कहे, भूल जात उस बार॥४०॥

ब्रुवन्निप हि न ब्र्ते, गच्छन्निप न गच्छिति। स्थिरीकृतात्मतन्वस्तु, पश्यन्निप न पश्यति॥४१॥

सन्वय—स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु ब्रुवन् अपि न ब्रूते गच्छन् अपि न गच्छित पश्यन् अपि न पश्यिति ।

दोका—स्यरीकृतात्मतत्त्वो दृढप्रतीतिगोचरीकृतस्यस्यरूपो योगी संस्कारवद्यात्परोपरोधेन श्रुवन्निप धर्मादिकं भापमाणोऽपि न केवलं योगेन तिष्ठति द्यापिशब्दार्थः । न दूवे हि न भाषत एव । तत्राभिमुख्या-भावात् । उनतं च—

"आत्मज्ञानात्परं कार्यं, न बुढी धारयेच्चिरम् । कुर्यादर्थवज्ञात्किचिद्वावकायाम्यामतत्परः" ॥५०॥
——समाधिज्ञतकम्,

तथा भोजनार्थं व्रजन्निप न व्रजत्यिष । तथा सिद्धप्रतिमादिकमवलोक्यन्निप नावलोकयत्येव । तुरेवार्थः । तथा-॥४१॥

क्षर्थं—जिसने आत्म-स्वरूपके विषयमे स्थिरता प्राप्त कर की है, ऐसा योगी वोलते हुए भी नहीं बोलता, चलते हुए भी नहीं चलता और देखते हुए भी नहीं देखता है।

विश्वदार्थ — जिसने अपनेको दृढ प्रतीतिका विषय बना लिया है, ऐसा योगी संस्कारोके वशसे या दूसरोके सकोचसे धर्मादिकका व्याख्यान करते हुए भी नही बोल रहा है, ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि उनको बोलनेकी ओर झुकाव या ख्याल नही होता है। जैसा कि कहा है — "आत्म-ज्ञानात्परंकार्यं ०"

"आत्म-ज्ञानके सिवा दूसरे कार्यंको अपने प्रयोगमे चिरकाल-तक ज्यादा-देरतक न ठहरने देवे । किसी प्रयोजनके वश यदि कुछ करना पड़े, तो उसे अतत्पर होकर-अनासक होकर वाणी व शरीरके हारा करे। इसी प्रकार भोजनके लिये जाते हुए भी नहीं जा रहा है, तथा सिद्ध प्रति-मादिकोको देखते हुए भी नहीं देख रहा है, यही समझना चाहिये। फिर—॥४१॥

> दोहा—देखत भी नींह देखते, बोलत बोलत नाींह । दृढ़ प्रतीत जातममयो, चालत चालत नाींह ॥४१॥ ४

किमिदं कीदृशं कस्य, कस्मात्क्वेत्यविशोपयन् । स्वदेहमपि नावैति योगी योगपरायणः ॥४२॥

अन्वय—योगपरायण योगी किम् इदं, कोदृश, कस्य, कस्मात्, वव इति अविशेषयन् स्वदेहम् अपि न अवैति।

टीका—इदमब्यात्ममनुभूयमानं तत्त्वं कि किरूपं कोदृशं केन सदृशं कस्य स्वामिकं कस्मात्तस्य सकाशास्त्रच कस्मिन्नस्तीत्यविक्षेययन् अविकल्पयन्सन् योगपरायणः समरसीभावमापन्नो योगी स्वदेहमपि न चेतपित का कथा हिताहितदेहातिरिक्तवस्तुचेतनाया. । तथा चोक्तम्—

तदा च परमैकाम्याद्वहिरवेषु सस्विप । अन्यन्न किचनाभाति, स्वमेवारमिन परयतः" ॥ १७२ ॥
——तत्त्वानुकासनम्.

लवाह शिष्य.-कथमेतदिति । भगवन् विस्मयो मे कथमेतदवस्यान्तरं संभवति । गुहराह्-घोमन्नि-बोध ॥ ४२ ॥

अर्थ-- ज्यानमें लगा हुआ योगी यह क्या है ? कैसा है ? किसका है ? क्यों है ? कहाँ है ? इत्यादिक विकल्पोंको न करते हुए अपने शरीरको भी नहीं जानता।

विश्रदार्थं—यह अनुभवमे आ रहा अन्तस्तस्त किस स्वरूपवाला है ? किसके सदृश है ? इसका स्वामी कौन है ? किससे होता है ? कहाँपर रहता है ? इत्पादिक विकल्पोको न करता हुआ किन्तु समरसीभावको प्राप्त हुआ योगी जो अपने शरीरतकका भी ख्याल नही रखता, उसकी चिन्ता व परवाह नही करता, तव हितकारी या अहितकारी शरीरसे भिन्न वस्तुओकी चिन्ता करनेकी बात ही क्या ? जैसा कि कहा गया है—"तदा च परमैका॰"

यहाँपर शिष्य कहता है कि भगवन् । मुझे आश्चर्य होता है कि ऐसी विलक्षण विभिन्न विशाका होजाना कैसे सम्भव है ?

उस समय आत्मामे आत्माको ही देखनेवाले योगीको बाहरी पदार्थोके रहते हुए भी परम एकाग्रता होनेके कारण अन्य कुछ नहीं मालूम पड़ता है।। ४२।।

> दोहा--क्या कैसा किसका किसमें, कहाँ यह आतम राम। तज विकल्प निज देह न जाने, योगी निज विश्रास ॥ ४२ ॥

आचार्य कहते हैं, घीमन् ! सुनो, समझो--

यो यत्र निवसन्त्रास्ते, स तत्र कुरुते रतिम् । यो यत्र रमते तस्मादन्यत्र स न गच्छति ॥ ४३ ॥ अन्वय-यो यत्र निवसन् आस्ते स तत्र र्रात कुरुते यो यत्र रमते स तस्मान्न गच्छति ।

दीका—यो जनो यत्र नगरादी स्वार्थे सिद्धचङ्गत्वेन वद्धनिर्वन्घवास्तव्यो भवन् तिष्ठति स तिसम्रज्ञन्यस्मान्निवृत्तवित्तत्त्वान्निवृत्तित्वं लभते । यत्र यश्च तथा निर्वाति स ततोऽन्यत्र न यातीति प्रसिद्धं प्रतीतम् ! अतः प्रतीहि योगिनोऽघ्यात्मं निवसतोऽजनुभूतापूर्वानन्दानुभवादन्यत्र वृत्त्यभावः स्यादिति । अन्यत्राप्रवर्त्तमानश्चेदृक् स्यात्—॥ ४३ ॥

अर्थ-जो जहाँ निवास करने लग जाता है, वह वहाँ रमने लग जाता है और जो जहाँ लग जाता है, वह वहाँसे फिर हटता नहीं है।

विश्वरार्थ — को मनुष्य, जिस नगरादिक में स्वार्थंकी सिद्धिका कारण होनेसे बन्धुजनींके आग्रहसे निवासी बनकर रहने लग जाता है, वह उसमे अन्य तरफसे चित्त हटाकर आनन्दका अनुभव करने लग जाता है और जो जहाँ आनन्दका अनुभव करता रहता है, वह वहाँसे दूसरी जगह नहीं जाता, यह सभी जानते है। इसलिये समझो कि आत्मामे अध्यात्ममें रहनेवाले योगी अननुभूत (जिसका पहिले कभी अनुभव नहीं हुआ।) और अपूर्व आनन्दका अनुभव होते रहनेसे उसकी अध्यात्मके सिवाय दूसरी जगह प्रवृत्ति नहीं होती।। ४३।।

दोहा—जो जामें बसता रहे, सो तामे रुचि पाय। जो जामें रम जात है, सो ता तज नींह जाय॥ ४३॥

जब दूसरी जगह प्रवृत्ति नहीं करता तब क्या होता है ? उसे आगेके रुलोकमे आचार्य कहते है—

अगच्छंस्तद्विशेपाणामनभिज्ञरच जायते । अज्ञाततद्विशेपस्तु, वध्यते न विग्रुच्यते ॥ ४४ ॥

अन्वय-अगच्छन् तद्विशेषाणा अनिभज्ञश्च जायते अज्ञाततद्विशेषस्तु न बध्यते, विमुच्यते ।

दोका—स्वारमतत्त्वनिष्टोऽन्यत्र अगच्छन्तप्रवर्तमानस्तस्य स्वारमनाऽन्यस्य वेहादविशेषाणा सीन्दर्याः सीन्दर्योदिधर्माणामनभिज्ञ आभिमुख्येनाप्रतिपत्ता च भवति । अज्ञाततद्विशेषः पुनस्तवाजायमानरागद्वेपस्वा-त्कर्मभिनं वृद्यते । कि तिह् । विशेषेण ब्रवाद्यनुष्ठातृस्योऽतिरेकेण तैर्मुच्यते । कि च ॥ ४४ ॥

अर्थ-अध्यात्मसे दूसरी जगह प्रवृत्ति न करता हुआ योगी, शरीरादिककी मुन्दरता असुन्दरता आदि धर्मोकी ओर विचार नहीं करता और जब उनके विशेषोकी नहीं जानता, तब वह बंधको प्राप्त नहीं होता, किन्तु विशेष रूपसे छूट जाता है।

विश्वदार्थ—स्वारमतत्त्वमे स्थिर हुआ योगो जब अध्यात्मसे भिन्न दूसरी जगह प्रवृत्ति नही करता, तब उस स्वात्मासे भिन्न शरीरादिके सौन्दर्य-असौन्दर्य आदि विशेषोसे अनिभन्न हो जात है और जब उनकी विशेषताओंपर स्थाल नही करता, तब उनमें राग-हेल पैदा न होनेके कारण कर्मोसे वँधता नही है, किन्तु व्रतादिकका आचरण करनेवालोंकी अपेक्षा भी कर्मोसे ज्यादा छूटत है।। ४४।।

दोहा—वस्तु विशेष विकल्पको, नींह करता मतिमान । स्वात्मनिम्रतासे छुटत, नींह वँवता गुणवान ॥ ४४ ॥

और भी कहते है-

परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखम् । अत एव महात्मानस्तिनिमित्तं कृतोद्यमाः ॥ ४५ ॥

अन्वय-परः परः ततो दु.खं, आत्मा आत्मा एव ततः सुखम् अतएव महात्मानः तन्निमत्तं कृतोद्यमाः ।

टीका—परो देहादिर्थः पर एव कथंविदिष तस्यात्मीकर्त्तुमक्षवयत्वात् । यतश्चैवं ततस्तस्मादात्मन्या-रोध्यमाणो दु खमेन स्यात्तद्दारत्वाद् दु खिनिमत्ताना प्रवृतेः । तथा वात्मा वात्मैव स्यात् । तस्य कदाचिदिषे देहादिरूपत्वानुपादानात् । यतश्चैवं ततस्तस्मात्मुख स्याद्दुःखिनिमित्ताना तस्याविपयत्वात् । यतश्चैवम् अत एव महात्मानस्तीर्यंकरादयस्तित्मित्तमात्मार्यं कृतोद्यमा विनिहिततपोनुष्ठानाभियोगा संजाताः । अय परद्रव्यानुरागे दोषं दर्शयति—।। ४५ ॥

अर्थ-दूसरा दूसरा ही है, इसिलये उससे दु:ल होता है, और आत्मा आत्मा ही है, इसिलये ससे सुख होता है। इसिलये महात्माओने आत्माके लिये ही उद्यम किया है।

विद्यादार्थ—पर देहादिक अर्थ, पर ही है। किसी तरहसे भी उन्हे आत्मा या आत्माके सदृश नहीं बनाया जा सकता। जब कि ऐसा है तब उनसे (आत्मा या आत्माके मान छेनेसे) दु ख ही होगा। कारण कि दु खके कारणोकी प्रवृत्ति उन्होंके द्वारा हुआ करती है। तथा आत्मा आत्मा ही है, वह कभी देहादिक एप नहीं वन सकता। जब कि ऐसा है, तब उससे सुख ही होगा। कारण कि दु.खके कारणोको वह अपनाता ही नहीं है। इसीलिये तीर्थंकर आदिक बड़े-बड़े पुस्पोने आत्माके स्वरूपमें स्थिर होनेके लिये अनेक प्रकारके तपोंके अनुष्ठान करनेमें निद्रा, आलस्यादि रहित अप्रमत्त हो उद्यम किया। ४५।।

दोहा—पर पर तातें दुःख हो, निज निज ही सुखदाय। महापुरुव उद्यम किया, निज हितार्थ मन लाय।। ४५॥

परद्रव्योमे अनुराग करनेसे होनेवाले दोपको दिखाते हैं-

अविद्वान् पुद्गलद्रन्यं, योऽभिनन्दति तस्य तत् । न जातु जन्तोः सामीप्यं, चतुर्गतिषु मुखति ॥ ४६ ॥

अन्वय—यः अविद्वान् पुद्गलद्रव्यं अभिनन्दति तस्य जन्तोः तत् चतुर्गतिषु सामीप्य जातु न मुञ्चति ।

टीका-पः पुनरनिद्वान् हैयोपादेयनत्त्वानिमजः पुद्मलद्वव्यं देहादिकमिनन्दित यद्वते वात्मात्मीय-भावेन प्रतिपद्यते तस्य जन्तोर्जीवस्य तत्युद्गलद्वव्यं चतस्यु नारकादिगतिषु मामीप्यं प्रत्यातित् संयोगसयन्यं जात् कदाचिदपि न त्यजति । अयाह् किप्यः-स्वरूपपरस्य कि भवतीति सुगग् । गुपराह-॥ ४६ ॥ अर्थ—जो हेगोपादेयके स्वरूपको न समझनेवाला, अरीरादिक पुद्गल द्रव्य को आप (आत्मा) रूप तथा अपनेको (आत्माके) मानता है, उस जीवके साथ नरकादिक चार गतियोंमें वह पुद्गल अपना सम्बंच नहीं छोडता है, अर्थात् भव-भवमें वह पुद्गलद्रव्य जीवके साथ वैंचा ही रहता है। उससे पिंड नहीं छूट पाता ।।४६।।

दोहा—पुद्गलको निज जानकर. अज्ञानी रमजाय । चहुँपतिमें ता संगको, पुद्गल नहीं तजाय ॥४६॥

आत्मस्वरूपमें तत्पर रहनेवालेको क्या होता है ? आचार्य कहते है—

> आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य, व्यवहारबहिःस्थितेः । जायते परमानन्दः, कथिद्योगेन योगिनः ॥४७॥

अनन्वय-आत्मानुष्ठाननिधस्य व्यवहारबहिः स्थितेः योगिनः योगेन कश्चित् परमानन्दो जायते ।

दीका—आत्मानोऽमुष्ठानं देहादेर्व्यावर्त्य स्वात्मन्येवावस्थापनं तत्परस्य व्यवहारात्प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्ष-णाहिह्.स्थिते. बाह्यस्य योगिनो ध्यानुर्योगेन स्वात्मध्यानेन हेतुना कश्चिद् वाचामगोचर परमोऽनन्यसंभवी आनन्द जत्पद्यते । तत्कार्यमुच्यते—॥४७॥

अर्थं—देहादिकसे हटकर अपने आत्मामे स्थित रहनेवाले तथा प्रवृत्ति-निवृत्ति-लक्षण-वाले व्यवहारसे वाहर दूर रहनेवाले ध्यानी योगी पुरुषको आत्म-ध्यान करनेसे कोई एक वचनोंके अगोचर परम जो दूसरोंको नहीं हो सकता ऐसा आनन्द उत्पन्न होता है।।४७॥

> दोहा—प्रहण त्यागसे ज्ञून्य जो, निज आतम लवलीन । योगीको हो ध्यानसे, कोइ परमानन्द नवीन ॥४७॥

उस आनन्दके कार्यंको बताते है-

आनन्दो निर्देहत्युद्धं, कर्मेन्धनमनारतम् । न चासौ खिद्यते योगी, वहिर्दुःखेब्बचेतनः ॥४८॥

अन्वय—(सः) आनन्दः उद्घं कर्मेन्त्रनम् अनारतं निर्देहति योगी असौ च बहिर्दुः खेपु अचेतनः न खिद्यते ।

टोका—स पुनरानन्द उद्घे प्रभूतं कर्ममंतिति निर्दहिति । विह्निरिन्धनं यथा । कि च अमावानन्दा-विष्टो योगी बहिद्दुं खेपु परीपहोपसर्गक्छेशेपु अचेतनोऽसंवेदनः स्यात्तत एव न खिद्यते न संक्छेशं याति । यस्मा-देवं तस्मात्—॥४८॥

अर्थ — जैसे अग्नि, ईन्घनको जला डालता है, उसी तरह आत्मामें पैदा हुआ परमानन्द, हमेशासे चले आए प्रचुर कर्मोंको अर्थात् कर्म-सन्तितको जला डालता है, और आनन्दसहित योगी, बाहरी दुःखोके-परीषह उपसर्ग-संबंधी बलेशोके अनुभवसे रहित हो जाता है। जिससे खेदको (सबलेशको) प्राप्त नही होता ॥४८॥

दोहा—निजानंद नित दहत है, कर्मकाष्ठ अधिकाय। बाह्य दुःख नींह बेदता, योगी खेद न पाय॥४८॥

इसलिये---

अविद्याभिदुरं ज्योतिः, परं ज्ञानमयं महत् । तत्त्रप्टच्यं तदेष्टच्यं, तद् द्रष्टच्यं मुमुक्षुभिः ॥४९॥

अन्वय-अविद्याभिदुरं महत् परं ज्ञानमयं ज्योतिः मुमुसुभिः तत् प्रष्टव्यं तत् एष्टव्यं तद् द्रष्टव्यम् ।

टीका—तदानन्दस्वभावं ज्ञानमयं स्वार्थावमासात्मकं परमुक्तुण्टमविद्याभिदुरं विश्वमच्छेदकं महत् विपुलम् इन्द्रादोना पूज्यं वा ज्योतिः प्रष्टव्यं मुमुक्षुभिर्मुवीदिस्योऽनुयोक्तव्यम् । तया तदेव एष्टव्यं व्यभिक-पणीयं तदेव च द्वष्टव्यमनुभववीयम् । एवं व्युत्पाद्य विस्तरतो व्युत्पाद्य उक्तार्थंतरवं परमकरुणया संगृद्य तन्मनिस संस्थापियतुकायः सूरिरिदयाह कि वहुनैति । हे सुमते कि कायं वहुनोक्तेन हेयोपादेयतत्त्वयोः संसेपे-णापि प्राज्ञचेतिस निवेशयितुं शाययत्वादिति भावः ॥ ४९ ॥

अर्थं—अविद्याको दूर करनेवाली महान् उत्कृष्ट ज्ञानमयी ज्योति है। सो मुमुक्षुओं (मोक्षाभिलापियो) को उसीके विषयमे पूछना चाहिये, उसीकी वांछा करनी चाहिये और उसे ही अनुभवमें लाना चाहिये।

विश्वदार्थं—वह आनन्द स्वभावशाली, महान् उत्कृष्ट, विश्वमको नष्ट करनेवाली, स्वार्थको प्रकाशन करनेवाली, अथवा इन्द्रादिकोंके द्वारा पूज्य ऐसी ज्योति है। मोक्षको इच्छा रखनेवालोंको चाहिये कि वे गुरु आदिकोसे उसीके विषयमे पूछ-ताछ करें तथा उसीको चाहें एवं उसीका अनुभव करें । १९९॥

दोहा—पूज्य अविद्या-दूर यह, ज्योति ज्ञानमय सार । मोक्षार्थी पूछो चहो, अनुभव करो विचार ॥४९॥

इस प्रकार शिष्यको विस्तारके साथ समझाकर आचार्य अब परम करुणासे उस कहे हुए अर्थस्वरूपको संक्षेपके साथ शिष्यके मनमे वैठानेको इच्छासे कहते है कि "हे सुमते-अच्छी वृद्धिवाले । बहुत कहनेसे क्या ? हेय-उपादेय तत्त्वोको सक्षेपमे भी वृद्धिमानोंके हृदयोमे उतारा जा सकता है। उन्हें साररूपमें बतलाया जा सकता है। अन्हें साररूपमें बतलाया जा सकता है।"

जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तन्वसंग्रहः। यदन्यदुच्यते किञ्चित्, सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः॥५०॥

अन्वय—जीव. अन्यः, पुद्गलश्च अन्यः इति असौ तत्त्वसग्रहः यत् अन्यत् किञ्चित् उच्यते स तस्यैव विस्सर अस्तु ।

टीका--जीवो देहादेभिन्नो देहादिश्च जीवाद्भिन्न इतीयानेव असी विवीयते आत्मनस्तत्त्वस्य भूतार्थस्य संग्रह. सामस्त्येन ग्रहण निर्णयः स्यात् । यत्पुनरितस्तत्त्वसंग्रहादम्यदितिरिक्तं किञ्चिद्भेदस्येदिक विस्तरघेच-शिष्पपिक्षयाचार्येष्टच्यते स तस्यैव विस्तरो व्यासो यस्तु तमिप वयमिमनन्दाम इति भाव ॥ ५०॥

बाचार्यः बास्त्राच्ययनस्य साझात्पारंपर्येण च फलं प्रतिपादयति—

अर्थ--'जीव जुदा है, पुद्गल जुदा है,' बस इतना ही तत्त्वके कथनका सार है, इसीमें सब कुछ आ गया। इसके सिवाय जो कुछ भी कहा जाता है, वह सब इसीका विस्तार है।

विश्वदार्थ—'जीव' शरीरादिकसे भिन्न है, 'शरीरादिक' जीवसे भिन्न है' वस इतना ही कहना है कि सत्यार्थ आत्मरूप तत्त्वका सम्पूर्ण रूपसे ग्रहण (निर्णय) हो जाय। और जो कुछ इस तत्त्व-संग्रहके सिवाय भेद-प्रभेद आदिक विस्तारमें सुननेकी रुचि-इच्छा रखनेवाले शिष्योंके लिये आचार्योंने कहा है, वह सब इसीका विस्तार है। इसी एक बातको 'जीव जुदा है और पुद्गल जुदा है' समझाने के लिये ही कहा गया है। जो विस्तार किया है। उसको भी हम श्रद्धाको दृष्टिसे देखते है। ५०।।

दोहा—जीव जुदा पुद्गल जुदा, यही तत्त्वका सार। अन्य कछू च्याख्यान जो, याहीका विस्तार॥५०॥

आचार्य शास्त्रके अध्ययन करनेका साक्षात् अथवा परम्परासे होनेवाले फलको बतलाते है-

इष्टोपदेशमिति सम्यगधीत्य धीमान्, मानापमानसमतां स्वमताद्वितन्य । मुक्ताग्रहो विनिवसन् सजने वने वा, मुक्तिश्रियं निरुपमामुपयाति भन्यः ॥५१॥

अन्वय—इति इष्टोपदेशं सम्यक् अधीत्य घीमान् भव्यः स्वमतात् मानापमानसमतां वितन्य मुक्ताग्रहः सबने वने वा निवसन् निरुपमां मुक्तिश्रयम् उपयाति ।

टीका—इस्यनेन प्रकारेण इष्टोपदेशं इष्टं सुखं तत्कारणत्वानमोक्षस्तदुपायत्वाच्च स्वारमध्यानम् उप-विश्यते ययावस्त्रतिपाण्यते अनेनास्मिन्निति वा इष्टोपदेशो नाम ग्रन्थस्तं सम्यग्व्यवहारिवश्चयाभ्यामधीस्य पिठत्वा चिन्तयिरवा च घोमान् हिताहितपरीक्षादक्षो भव्यं।ऽनन्तज्ञानाद्याविभावयोग्यो जीवः मुक्तिश्चियमनन्तज्ञानादि-संपदं निष्नमामनोपम्या प्राप्नोति । किं कुर्वन्मुवताग्रहो विज्ञवहिर्ष्याभिनवेशः सन् सजने ग्रामादौ वने बाऽरुष्ये विनिवसन् विधिपूर्वकं तिष्ठन् । किं कुरवा, विवन्य विशेषण विस्तायं । का, माने महत्त्वाधाने अपमाने च महत्त्वखण्डने समता रागद्वेषयोरभावम् कस्माद्धेतो., स्वमतात् इष्टोपदेशाध्ययनचिन्तनजनितादारभज्ञानात् । जवतं च—॥ ५१ ॥

"यदा मोहात्प्रजायेते, रागद्वेपी तपस्विनः । तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मानं शाम्यतः क्षणात्" ॥ ३९ ॥
—समाधिशतकम् ।

अर्थं—इस प्रकार 'इष्ट्रोपदेश' को भली प्रकार पढ़कर-मनन कर हित-अहितकी परीक्षा करनेमे दक्ष-निपुण होता हुआ भव्य अपने आत्म-ज्ञानसे मान और अपमानमे समताका विस्तार कर छोड दिया है आग्रह जिसने ऐसा होकर नगर अथवा वनमे विधिपूर्वंक रहता हुआ उपमा रहित मुक्तिरूपी लक्ष्मीको प्राप्त करता है।

विद्यादार्थ—इष्ट कहते है सुखको-मोक्षको और उसके कारणभूत स्वात्मध्यानको । इस इष्टका उपदेश यथावत् प्रतिपादन किया है जिसके द्वारा या जिसमें इसलिये इस ग्रन्थको कहते है 'इष्टो-पदेश' । इसका भली प्रकार व्यवहार और निक्चयसे पठन एव चिन्तन करके हित और अहितकी परीक्षा करनेमें चतुर ऐसे भव्य प्राणी, जिससे अनन्त-ज्ञानादिक प्रगट हो सकते है—इस इष्टोपदेशके अध्ययन-चिन्तन करनेसे उत्पन्न हुए आत्मज्ञानसे मान-अपमानमे राग-द्वेषको न करना रूप समताका प्रसार कर नगर-ग्रामादिकोंमे अथवा निर्जन-चनमें विधि-पूर्वक ठहरते हुए छोड़ दिया है वाहरी

पदार्थों में और मेरेपन का आश्रह अथना हठाग्रह जिसने ऐसा वीतराग होता हुआ प्राणी अनुपम तथा अनन्त ज्ञानादि गुणोंको और सम्पत्तिरूप मुक्ति-लक्ष्मीको प्राप्त कर लेता है। जैसा कि कहा गया है ''यदा मोहात्प्रजायेते॰''।।

जिस समय तपस्वीको मोहके उदयसे मोहके कारण राग-द्वेप पैदा होने छगे, उस समय शीघ्र ही अपनेमें स्थित आत्माकी समतासे भावना करे, अथवा स्वस्य आत्माकी भावना भावे, जिससे क्षणभरमें वे राग-द्वेध शान्त हो जावेंगे ॥ ५१ ॥

> दोहा—इप्टरूप उपदेशको, पढ़े सुबुद्धी भव्य। मान अमानमें साम्यता, निज मनसे कर्तव्य।। आग्रह छोड़ स्वग्राममें, वा वनमें सु वसेय। उपमा रहित स्वमोक्षशी, निजकर सहजहि लेय।। ५१॥

लागे इस ग्रन्थके संस्कृतटीकाकार पंडित आशाधरजी कहते हैं कि— प्रशस्ति :

विनयेन्दुमुनेर्वाक्याङ्गव्यानुग्रहहेतुना । इष्टोपदेशटीकेयं कृताशाधरधीमता ॥

अर्थ-विनयचन्द्र नामक मुनिके वाक्योंका सहारा लेकर भव्य प्राणियोके उपकारके लिये मुझ आशाधर पडितने यह 'इप्टोपदेश' नामक ग्रन्थकी टीका की है।

उपशम इव मूर्तः सागरेन्दोमुनीन्द्रादजिन विनयचन्द्रः सच्चकोरैकचन्द्रः । जगदमृतसगर्भा शास्त्रसंदर्भगर्भाः, शुचिचरितवरिष्णोर्यस्य घिन्वन्ति वाचः ॥ २ ॥

अर्थे—सागरचन्द्र नामक मुनीन्द्रसे विनयचन्द्र हुए जो कि उपशमकी (शांतिकी) मानो मूर्ति ही थे तथा सज्जन पुरुपरुपी चकोरोके लिये चन्द्रमाके समान थे और पितत्र चारित्रवाले जिन मुनिके अमृतमयी तथा जिनमे अनेक शास्त्रोकी रचनाएँ समाई हुई है, ऐसे उनके वचन जगतको तृप्ति व प्रसन्नता करनेवाले है।

जयन्ति जगतीवन्द्या, श्रीमन्नेमिजिनाङ्घ्यः । रेणवोऽपि शिरोराज्ञामारोहन्ति यदाश्रिताः ॥ ३ ॥ अर्थे—जगर्द्वः श्रीमान नेमिनाथ जिनभगवान्के चरणकमल जयवन्त रहे, जिनके आश्रयमे रहनेवाली धलि भी राजाओके मस्तकप्र जा बैठती है ।

इति श्रीपूज्यपादस्वामिविरचितः इष्टोपदेशः समाप्तः । इस प्रकार श्रीपूज्यपादस्वामीके द्वारा बनाया हुआ (इष्टोपदेश' नामक ग्रन्थ समाप्त हुआ ।

मराठी साधारण संशोधन है

परिशिष्ट नं. १

आपुज्यपादस्वामीकृत रत्नोकांचा श्रीअज्ञात कविकृत मराठी पद्यानुवाद



--:0:--

कर्मी समूळ नाश्चिन प्रगटिवती जे स्वयं स्वभीवाते । वंदन त्या हो माझे सम्यक्षान-स्वरूपि आत्म्याते ॥ ۶ स्वर्णजये बर्नेत हो त्या दगडातून मानिती कनक । आत्मत्व मिळवि आत्मा होता द्रव्यादि चार तै एक ॥ वत सूरपद दे म्हणुनी इप्टीच परि अवते मिळें नरक । छायेंत मित्र जेवी वधत उसे बाट आर्तेपी एक ॥ ज्या चित्रवितां लाभे शिव, त्याते स्वर्ग दूर किति राही। क्रोशार्टे खेद कसा, जो सहजचि भार कोस दो नेई।। ४ स्वर्गिय स्रस्त असतें निरोगि ते अक्षेजन्य नाकातें । बहुकाळ भोगता येते सुख त्यानाच योग्य छोकांत ॥ फक्त वासना असती संसारीचे जगात सुख-दु:ख । दाविति आपत्काली रोगासग अक्षभोग भय देख ॥ संवृत् मोहे ज्ञान न जाणी द्रव्यस्वभाव, मत्त बने । द्रव्यं मद्योत्पादक पदार्थभावा तसा न नर जाणे ॥ घर, घन, शरीर, दारा शत्रु मित्रादि पुत्र वस्तु ना । अन्यस्वभावि सगळे परि मानी मुढ आपले त्याना ॥ निश्चि खग येउनि वसती, दिग्देशातून नगानगावरती । निज निजकार्यवशे ते देशोदेशी उजाडता जाती ॥ केवि विराधक मारिति त्याते. करि त्या जनावरी कोष । व्यंगुळपदी घरोनो पाडी, दण्डे पडे अपोक्षाप ॥ रागद्वेपे मिथता कर्माचे वघ निर्धाच नवनीर्त । जीवात्मा अज्ञाने त्या चिर ससार-सागरी भ्रमत ॥ 88 विपदा भवपथवैतीं पथिकेसम जाति सारली दूर । जोवरि तोवरि दुसरी विपदा, जीवासमोर ये प्रचुर ।। १२ रक्षाया मिळवाया धनादि नश्वर कठीण जे असती । मानी सुखी तये नर पिउनि घृता ज्वर हरावया वयती॥ १३ इतरासम अपणाते येति निपत्तिन विचार मूढास। पशु जळती विन वधुनी तरुवर बसुनिन विचारि निजनाश ॥१४ आयुक्षय धनवृद्धिस कारण निर्गमन होय कालाचे । तत्रभेमी धनिकाते जीवाहुन अधिक इष्ट पैशाचे ॥ निर्धन करि धनसचय,कर्मा श्रेयेचि प्राप्त त्यागाया।स्नान कराचे म्हणूनी पंके १० लिपन करीच देहा या ॥ १६ आर्मि तापदायक मिळता अतुष्ति वाढते जाण। भोगून, हेयभोगी अधिकवि भोगोल तो सुबी कवण?॥ १७ ज्याच्या संगतिने जिंग वनती वस्तूं पवित्र अपवित्र । स्था इच्छिणे वृथा हो काया संतत अपाय जी करित ॥१८ जपकारक जे जीवा अपकारक तेच होय देहास । जे उपकारक होते अपकारक ते ठरेचि जीवास ॥ चिंतामणि दिव्य तसा खंडे पेंडिचा तथापि निःसार। लामति उभयव्यानें कोणा बुध मानतील बध सारे २२०

१ मूल स्वरूपवाळा २ उन्हात ३ इन्द्रियजन्य ४ स्वर्गात ५ बेप्टित ६ वदला घेणारा ७ एक माती खांद-णेचे यंत्र अर्थात् कृदाल फावडे या सारखे ८ लोणो ९ संसारात पदोपदी येणारी १० चिखलाने ११ तुकडा १२ श्रोष्ठ

स्वानुभवे तो प्रयटे प्राप्त देह सम जगा अरे माने³ । अत्यंत मृत्यो बात्मा लोकालोकावलोकि वय जाग ॥ २१ एकाग्रमने इंद्रिय-चिपयाते त्यजुनि संयमे जगती । आत्मज्ञानी आत्मा आत्म्यामाजी वसे तथा चिती ॥ ŞŞ अञ्चमनित भञ्जाना जन्मा जानमधित दे दान । जें ज्या जयळी तो तें जींग दे प्रत्यात हैं खरो यचन ॥ 23 बब्बात्म्याच्या योगें परीपहादिक न तेच अनुभवता। आगव निरोत्रिकर्मा येड निर्जरा मुझीझ की गुँगैता ॥ २४ कर्ता चटर्रेचा भी यांतिच संबंध भिन्न दोषाचा । व्यान ध्येयचि आत्मा केवी संबंध भिन्न वद स्थाना ॥ ३५ मोही कर्मा वाघी निर्मोही तो तथातुनी सुटत । म्हणनी नगळवा यस्ने निर्मम भावाम भावणें सतत ॥ २६ निर्मोहि एकटा मी विषाद योगीहगोचेर जानी । बाह्यमाव संगोगन से मनहून बाह्य नवं तू जाणी ॥ 20 प्राण्या दु:रासमहा संयोगे भोगणें पटे भवनी । म्हणनी त्यजिसो त्यातें समळचा मन बचन काय-कर्मानी ॥ २८ माते न मरण येवी भय ना, व्याघी क्रजी व्यया होय। भी वृद्ध न बाल न भी तकण न है भेद पुद्गली पाय ॥२९ मोहें संतत सगळे म्या पुद्गल भोग भोगुनी स्यजिलें। यद मज तत्यमान्या स्या जिन्हें हैं।त राग वेबि गळें ? ॥३० कर्मीच हितकर कर्मा आरमा आस्यास हो हितावह तो। स्यस्यप्रभाव जाणुनि, स्वार्था वद कोणना जगी बहतो ३१ परोपकृति ती त्यजुनी सुझासम हो स्वतास उपकारी । दृश्यमानणा अझा करि उपकार न असे परा भारी ॥ ३२ अम्यासे उपदेशे गुरुच्या तो अनुभवन आत्म्याते । निजपर भेदा जाणुनि, भोगी चिरकाल मोक्ष सौदयाते ॥ ३३ त्या ती सद् अभिकापाइष्ट वस्तुने तया अमे ज्ञान । शात्मान गुरू आत्म्या प्रेरक निजहित अमे स्वता जाण ॥ ३४ अज्ञ न असतो ज्ञाता विज्ञाता गरां तो कथी नगतो । इसरे निमित्त केवळ गतिते धर्मास्तिकाय जी होतो ॥ ३५ विक्षेप न मनि वहनी तत्वी सरियत बनुन एकाती । अभियोगे त्या स्मारिमक तत्वा अम्याराणे मुने जगती ॥ ३६ हें बात्मतत्त्व उत्तम स्वानुभवाते जसे जरों येते । विषय सुलम ते बसुनी यदा न जीवा वसे तसे रुवते ॥ ३७ इद्रिय-विषय न जेवी सूलम असोनी न रुचति पुरुपाते । तेथी उत्तम तत्यचि, रुनते निज अनुभवास येता लें ।।३८ सारमलाभ तो इच्छी इद्रजालसम जगात निःगेष । बधुनी, विषयात दुग्या रमता, मनि खेद होइ वह त्यास ॥३९ इच्छुनि अतिप्रयस्ने निर्जन एकातवासि तो रमतो । निजकार्यवर्धे किचित् योछुन विसहन त्यास तो जातो ॥४० बोलत असूनि न बोले चालत असता कदा न तो चाले। बाहत असुनि न पाही आरियक तरनी स्विरस्व मेळविले ॥४१ कोण कुणाचे कैमे कवणे कोठे असेच हा राम । त्यागुनि विकल्प देहा, नाणि न निजयोगि योग विश्राम ॥ ४२ जो जेवें वसति करी, तेवे तो जीव करितसे प्रीति । रममाण जियें होतो तेयुन कोठे न जात तो जगती ॥ ४३ सोडन कुठे न जाती राहि, विशेषा तदीय अनिभन्न । तहिशेष अन्नत्वे हो यद न मुक्त होय परि सूत्र ॥ पर ते पर इ.खद हो आतम्या आत्म्येच सीख्य मानवते । तद् प्राप्तिस्तव उद्यम करिती म्हणुनी महान मानव ते ॥४५ करि पदगुल दस्त से अभिनदन जो जगी अविद्वान । सहसास जतुना त्या सोडी चारी गतीत ते काँघ न ॥४६ व्यवहार-बाह्य होजन आत्मध्यानात होइ लव-लीन । योगाच्या योगवळे त्या परमानद एक घे जनन ॥ अधिकचि जालितसे हा, अनंत कर्मेंबनास आनद । विहरम दु.ख योगी मुळि अनुभवतो न पावतो खेद ॥ ४८ दुर अविद्येहन ती ज्ञानसयी श्रेष्ठ परमञी ज्योति । प्रश्न करी अनुभव घे विचार त्याचा करीच मोक्षार्थी ॥ ४९ हा संग्रह तत्त्वाचा वध पुर्गल जीव दोन ते भिन्न । जे अन्य जाइ कथिले त्याचा विस्तार तो ठरे जाण ॥ ५०

इष्टोपदेश बुध वाचुन चिंतवून । मानापमानि समता स्वमते वरून ॥ मुक्ताग्रही जिंने वनी विधिने ^{१८}वसून । मुक्तिश्रिया निरुपमा करि प्राप्त जाण ॥ ५१

१३ प्रमाण १४ सद्युद्धिकाली, केवलजानी १५ गोचर-जाणले जाते-ते ज्ञानात जाते तें १६ ओकून टाक-लेल्या १७ मुक्तीच्या आग्रहात १८ विधिपूर्वक-

परिशिष्ट नं २ श्रीमत्पूज्यपादस्वामिकृत रखोकोनो श्रीरावजीभाई देसाई कृत गुजराती पद्यानुदाद। इंग्रोपदेश

मंगलाचरण अनुष्टुप छंद

अपूर्व तत्त्वहष्टिना दाता सद्गुरु राजने; नमी इष्टोपदेशे आ, रमुं, साधु स्वकाजने ॥ पूज्यपाद सूरिवर्यें, रच्यो इष्टोपदेश आ; रमावी आत्मवृत्ति त्यां, मोक्षार्थी श्रेय साधता ॥

> अवतरण ग्रंथारभ

सर्वे कर्मी हणी पोते. पाम्या आत्मस्वभावने; केवलज्ञानरूपी ते, नमू सतु परसात्मने ॥ १ ॥ स्वर्णपाषाण सुहेतु पामी सोनुं बनी रहे; सुद्रव्यादि तणा योगे, आत्मा जुद्धात्मता लहे ॥ २ ॥ त्रतो आपे सुखो स्वर्गे, अत्रतो नरके दु.खो; छांये तापे उभा बेनो, भेद मोटो अहो छखो !॥ ३॥ आत्मभाव यदि मोक्ष आपे स्वर्ग विसात ना; कोश वे जे लई जाये, क्रोशार्धे थाय महात ना ॥ ४॥ स्वर्गमां अमरोने जे सुखो इन्द्रियजन्य ए, निरामधी चिरस्थायी देवोने योग्य भोग्य हो ॥ ५ ॥ जीवोत्ती वासना मात्र ए इन्द्रिय सुखो दुःखो; भोग ते रोगवत् पीडा, आपे आपत्तिमां जओ ॥ ६ ॥ मोहाच्छादित जो ज्ञान, जाणे ते न स्वभावने; मेणो चढचे खुवे प्राज्ञो, ग्रुद्धि, बुद्धि-प्रभावने ॥ ७ ॥ देह गेहादि स्त्री पुत्रो, बन्नु मित्रो घनादि तो; स्वभावे सर्वथा न्यारां, सूढ माने स्वकीय जो ॥ ८॥ भिन्न देश दिशामांथी पक्षी आवी तरु वसे: प्रभाते सौ स्वकार्यार्थे, ऊडी जाये दिशे दिशे ॥ ९ ॥ विराधे अन्यने तुं तो अन्य ते तुजने हणे; करे छे क्रोश त्यां शाने ? वावे तेवुं जगे लणे ॥ १० ॥ अज्ञाने राग ने द्वेष, नेतरां कष्ट नोतरे; खेंचातां, दंडवत जीवो, भवाव्यिमां भम्पा करे ॥ ११ ॥ विपत्ति एक ज्यां जाये. आवे तेवी बीजी घणी: संसारे प्राणीने एवी, घटमाल विपत्तिनी ॥ १२ ॥ कमातां रक्षतां कष्ट घनादि नाशवंतने; सूखी तेथी गणे तो, शूं, सूख घीथी ज्वरार्त्तने ?॥ १३॥ विपत्ति अन्यनी जोतां, पोतानी न विचारतो; वने ज्यां सौ बळे प्राणी, मुर्खे वृक्षे रह्यो छतो ॥१४॥ आयु-भोगे वधे लक्ष्मी, धनिको तोय ते चही, धनार्थे आयु गाळी दे, प्राणथी इप्ट श्री तहीं ॥ १५ ॥ बान के पुष्यना नामे, निर्धनो घन संग्रहे; तो ते 'स्नाने यशुं शुद्ध' चही पंके वृथा पड़े ॥ १६ ॥ पमाये कृष्टथी भोगो, पाग्ये तुप्ति न आपता; त्यागतां दुःख दे अंते, तेसां सुज्ञो शुं राचता ? ॥१७॥ जेना संगे श्विच एवा, पदार्थी अशुचि बने; ते दुःखमूर्ति देहार्थे, भोगनी चाह शुं तने ? ॥ १८ ॥ आत्माने श्रोपकारी जे, देहने अपकारी ते; किंतु देहींपकारी जे, आत्माने अपकारी ते ॥ १९ ॥ दिव्य चितासणि एक, काचनो कटको बीजो; मळे जो घ्यानथी बन्ने, विवेकी इच्छवे कयो ? ॥२०॥ स्पष्ट स्वातुभवे व्यक्त, वक्षयी देहव्यापक; आनंद धाम आ आत्मा, लोकालोक-प्रकाशक ॥ २१ ॥ चित्त-एकाप्रता साघी, रोकी इन्द्रिय-प्रामने; आत्माथी संयमी घ्यावे, आत्ममां स्थित आत्मने ॥२२॥ ज्ञानीना आश्रये ज्ञान, अज्ञयी अज्ञता मळे; 'होय जेनी कने जे ते, आपे' लोकोक्ति ए फले ॥२३॥

परीपहो जगाये ना, मग्न अध्यातममां थतां, आस्त्रवो रोकती याये कर्मनी शीघ्र निर्जरा ॥२४॥ कर्ता हुं सादछीनो त्यां छे संबंध जुदो कह्यो; घ्यान-ध्येय स्वयं आत्मा त्यां संबंध कयो रह्यो ?।।२५॥ ममतायी जीवने बंध, मुक्ति निर्मसता यकी, माटे सर्व प्रवत्ने ए, व्यावी निर्ममता नकी ॥२६॥ गिर्मम एक हं शुद्ध, ज्ञानी योगोन्द्रगोचर, सर्व संयोगी भावो ते, स्वात्मायी सर्वथा पर ॥२७॥ दुःखना हुंगरो वेदे, जीवो संयोग कारणे; मन वाणी तन कर्म तनुं मंयोग सर्वने ॥२८॥ मने ना मृत्यू, भीति शी? मने ना रोग, शी बहुया? ना हं तरुण, ना बृद्ध, बाल ना पूद्गले वर्धा ॥२९॥ मोहबी भोगवी छोडचा, प्रदुगलो सौ फरी फरी; हवे ए एंडमां मारे, ज्ञानीने जी स्पृहा वळी ? ॥३०॥ कर्मी कर्महित ताके जीवी इच्छे स्वश्रेयने; रव स्व प्रभावयोगे सी, सावे कीण न स्वार्थने ? ॥३१॥ देहादि अन्यना अज उप कारे जी वर्तना ! लोकवत स्वार्य माधी ले, त्याज्य अन्योपकार हा ! ॥३२॥ गुरुबोधे, स्वअभ्यासे, स्वानुभृतियो जागता: आत्मा ने अन्यनो भेद, ते मुक्ति-सूख मागता ॥३३॥ स्वयं सतनी करे इच्छा. स्वयं जापक श्रेयनोः स्वयं स्वश्रेयमां वर्ते, स्वयमेव गुरु स्वनी ॥३४॥ पामे ना ज्ञानता अज्ञ, ज्ञानो ना अज्ञता ग्रहे; निमित्तमात्र बीजा तो, गतिमां घर्मवत, वने ॥३५॥ शमायी चित्तविक्षेपो, एकाते लीन आत्ममां; अन्यासे उद्यंपे योगी, सहजातमतत्त्वता ॥३६॥ अनुभृति निजात्मानी, जेम जेम प्रकाशती; तेम तेम छता भोगे, स्वयं रुचि विरामती ॥३७॥ जेम जेम छता भोगे, स्वयं एचि विरामती, तेम तेम अनुमृति परात्मानी थती छती ॥३८॥ समस्त विश्वने भाले, इन्द्रजाळ सम् व्याः आत्म-लाभ सदा इच्छे, पस्ताये परमां जतां ॥३९॥ इच्छे एकांतमां वास, चाहे निर्जनता सदा; वदे कार्यवेश किचित्, तेय शीघ्र भूली जता ॥४०॥ बोले तोचे न बोले ते, बाले तोचे न बालता, स्थिरता आत्मतत्त्वे जो, देखे तीचे न देखता ॥४१॥ विचारे ना शुं आ केवुं कीनुं क्यांथी वळी कहीं ? योंगी तो योगमां लीन, देहभानेय ज्यां नहीं ॥४२॥ जेमां जे वसी रहे छे, त्यां ते रित करे अति; जेमां रमणता जेनी, त्यांथी अन्यत्र ना गति ॥४३॥ बन्यत्र ना गति तेथी, अन्यने ना अनुभवे, अनन्य उपयोगी ते, अवंध मुक्ति भोगवे ॥४४॥ बन्य ते अन्य, ह्यां दू.ख, आत्मा आत्मा ज ते सुखो; आत्मार्थे ज महात्मानो, साधना सर्वतोमुखी ॥४५ क्षज्ञ जे पूद्गलद्रव्ये राचे ते पूद्गलो पछी; तेनो पोछो तजे नांही कदो चतुर्गतिमहीं ॥४६॥ ध्यानमां मग्नता ज्यां त्यां, वाह्य व्यापारशृत्यता; ध्यानथी योगी आस्वादे, सिंच्चदानंद व्यक्तता ॥४७। कर्म-राज्ञि वहे नित्य, ते आनंद हताज्ञन: खेद ना पामता योगी, बाह्य द से अचेतन ॥४८॥ अविद्या भेदती ज्योति, परं ज्ञानमयी महा; मुमुक्षु मात्र ए पूछे, इच्छे, अनुभवे सदा ॥४९॥ आत्मा ने पूद्गलो जुदां, मात्र आ सार तत्त्वनो; अन्य जे कांई शास्त्रोक्त, आनो विस्तार ते गणो ॥५०

वसन्ततिलका

इष्टोपदेश मतिमान भणी यथार्थ, मानापमान समताथी सहे कृतार्थ; निराग्रही वन विषे जनमां वसे वा, पामे बनूष श्चिवसंपद भव्य तेवा ॥५१॥ सद्बोध सद्गुष्तणो जीव जे उपासे, तेने निजात्म थकी पुद्गल मिन्न भासे; स्वानुभवे सहज आत्मस्वरूप राजे, ते सौख्य-धाम परमात्मपदे विराजे॥ परिशिष्ट नं. ३

ॐ नमः

श्रीपूज्यपादस्वामिकृत

इष्टोपदेश

THE DISCOURSE DIVINE

Late Mr. Champatrai Jam, Bar-at-Law Vidyavaridht.

यस्य स्वयं स्वभावाप्तिरभावे कृत्स्नकर्मणः । तस्मै संज्ञानरूपाय, नमोऽस्तु परमात्मने ॥ १॥

He who has attained the purity of his nature by the destruction of all his karmas by his own effort—to such an Omniscient Paramatman salutation is offered.

Note:—Omniscience is the attribute of the Pure and perfect soul, and is the most essential of divine qualities, which are all implied in it. In Jainism salutation is offered to divinity not because the devotee expects any boons from the object of his veneration and worship, not because salutation is pleasing to Him who is the embodiment of all divine attributes, not even because such salutation is itself, in any sense, the aim and object of worship, but because, the Paramatman is the Ideal of Perfection for the devotee, who wants to realize it in His own self, and because the adoration of Him, who represents the Perfection of Divinity in His own pure being is the only means of attaining to it, at least in the earlier stages of the path.

योग्योपादानयोगेन, दृषदः स्वर्णता मता । द्रव्यादिस्वादिसंपत्तावात्मनोऽप्यात्मता मता ॥ २ ॥

As gold in the ore is held to become pure gold on the intervention of the real causes of purification, in the same manner on the attainment to self-nature the impure (unemancipated) soul is also regarded as pure Spirit.

Note —The impure ego is like gold in the state of ore, both of them possess the potentiality of attaining to purity and perfection, when iid of the adhering imputities Smelting is the process employed to obtain pure gold from the ore, which means the removal of the non-gold that is found to be mixed up with it. A lump of ore, thus, represents pure gold plus so much closs added to it. In the same way the emancipated soul is pure. Spirit plus so much filth or dirt (matter) adhering to it. Hence, when the filth is removed by a process akin to that of smelting in the case of gold, the foreign material is separated off and self-nature attained, on the emergence of the purity of sva-davya (own substance), consequent on the elimination of constituents of the not-self. The term sva-davya (own-substance) here includes the other three conceptions that are homogeneous with it, namely sva-kāla (own-time, signifying the external states that are changing in time), sva-kshetra (own space, or self-sized ie, as existing in its own expanse) and sva-bhava (own-feeling or own nature, ie, internal states). These may be termed the 'sva' quartette technically. The soul that is rid of the non-self exists in its own nature with respect to

the swa quartette, while the transmigrating ego is overwhelmed with the conditions and limitations imposed by the companionship of the not-self. This may be explained in a tabulated form, as follows:—

Pure Spirit	Conditions, of	Impure ego.
Exists in His own substance	Dravya	Exists mixed with impurities of the nature of the not-self
Is Divine all over Abides in a form that is His own folever more	Kshetra Kāla	Is involved in impurities all over. Possesses a form that is liable to periodic changes on account of the liability to birth and death
Always enjoys the bliss and blessedness, appertaining to pure Spirit	Bhāva	Is devoid of self-feeling, and passes a joyless, cheerless exi- stence, generally

वरं व्रते पदं देवं, नावतेर्वत नारकम् । छायातपस्ययोभेंद , प्रतिपालयतोर्महान् ॥ ३ ॥

Observance of vows leads to birth in the heavens, therefore their observance is proper, the vowless life drags one to a birth in the hells, which is painful; therefore, vowlessness should be avoided; when two persons are waiting for the arrival of another person, but one of them waits in the heat of the sun and the other in the shade, great is the difference between their conditions, precisely the same difference is to be found between the condition of him who leads a life regulated by the vows and of him whose life is not so regulated.

Note -In the last verse divinity ■ said to be the natural attribute of the soul which arises from within its own self on the occurrence of the helpful causes of Self-realization Naturally enough the question now arises: why should one take the trouble of observing vows and otherwise subjecting one self to a life of austerities and hardships, considering that Divinity is actually the potential nature of the soul? Will not the supreme status be obtained without undergoing penances and without vows? The reply is given here in this verse Painful, at times very painful, indeed, is the life which results from the non-observance of vows. One might even descend into hells which is the most undesirable condition of existence On the other hand, the observance of vows leads to very happy and desirable condition, including a birth in the heavens. Therefore the acharya says that the difference between the soul that is leading a well regulated life and the one whose life is not so regulated is precisely that between the condition of the man who m waiting for the arrival, of a companion in the heat of the day, exposed to hot winds and the burning glare of the sun, and of him who is also awaiting the arrival of the same person but in a cool and shady grove

Metaphysically, of course, the helpful potent causes themselves include the observance of vows and the suffering of haidships at a certain stage of advancement, for without them the karmic filth cannot be separated from the soul But the great thing to note about the observance of vows and the suffering of hardships is this that they appear to be irksome and unpleasant only when thought of or looked at from a distance When one is imbued with the right Faith one realizes at once

the necessity of a well-regulated life and actually longs for the perfection of character through suffering and self-denial. And the task does not then appear to be burden-some. but is cheerfull accepted with surest means of the acquisition of that joyous feeling of self-devation which is dear to the heart of every aspirant on the path. That virtue is its own reward, is a saying the truth of which is not realized except by him whose life is characterized by self-imposed suffering in the name of Duty and Dharma.

वत्र भावः ज्ञिनं दसे, होः कियदृदुर्स्वातनो । यो नयत्याञ्च गन्यूति, क्रीक्षाहें कि स सीदित ॥४॥

The soul that is capible of conferring the divine status when meditated upon, how far can the heavens be from him? Can the man who is able to carry a load to a distance of two koses feel tired when carrying it only a kos?

Note —This verse is intended to settle the doubt that might now arise in the mind as to the respective merits of self-contemplation and the observance of vows, especially in regard to the ability of the former to secure a rebirth in the heavenly-regions. The answer is that the soul's contemplation can grant both mokeln as well as heavens, which are much nearer so to speak; since he who can easily occur a distance of four miles without being fatigued is not likely to experience trouble in going only a mile. Self-contemplation thus, is much superior to the mere observance of yous; though the latter are able to lead to heavens for the time being

हुवीफलमनातङ्कं दीर्घकालोपलालितम् । नाके नाकौकसां सौर्च्यं, नाके नाकौकसामित्र ॥५॥ The happiness that is enjoy by the residents of heavens appertains to the senses,

is free from disturbance [literally, disease], enjoyable for very very long periods of time, and is without a parallel outside the heavens !

Note.—The pleasures of a heavenly life are but sense-produced, though they are not to be found outside the heavenly region and are exceedingly delightful. The duration of the life, too, is incomparably longer in the heaven than on the earth, and it is therefore true that the heavenly pleasures are enjoyable for much longer periods than the pleasures, of this world

वासनामात्रमेवैततसूलं, इ:लं च देहिनाम् । तथा ह्याह्वेजयन्त्येते, भोगा रोगा इवापदि ॥६॥

The experiences of pleasures and pains of the xamsan jivas (unemancipated souls) are purely imaginary, for this reason the sense-produced pleasures give rise, like disease, to uneasiness on the approach of trouble 1

Note—If the pleasures and pains of the world were not the product of imagination they would be lasting, unchanging and eternal But we see that what is the
cause of pleasures to-day becomes a source of disturbance and pain as soon as trouble anseat calamity overtakes the enjoyer. Hence the acharya points out that senseproduced pleasures and pain are purely imaginary in their nature, notwithstanding
that the infatuated humanity ragard them as real and run after them. By the use of
the world imaginary it is not to be taken that the acharya denies the reality of the
experiences altogether; what he is a iming at in reality is only an emphasis on the
nature of true happings to be described latex.

मोहेन संवृतं ज्ञानं, स्वभावं छमते न हि । मत्तः पुमान्यदार्थानां, वया मदनकोहवैः ॥ ७ ॥

Deluded by infatuation the knowing being is unable to acquire adequate knowledge of the nature of things, in the same way as a person who has lost his wits in consequence of eating intoxicating food is unable to know them properly!

Note —Infatuations—likes and dislikes, etc —deprive us of that purer form of mental scienity which is necessary for the acquisition of true knowledge, for, as is well known, lucidity of the intellectual faculty is clouded when the mind is strongly agitated by passions and desires and wrong convictions and beliefs

चपुर्गृहं धनं दाराः पुत्रा मित्राणि शत्रव । सर्वयान्यस्वभावानि मूढ्, स्वानि प्रपद्यते ॥ ८॥

All the objects, the body, the house, weath, the wife, the son, the friend, the enemy and the like, are quite different in their nature from the soul; the foolish man, however, looks upon them as his own !

Note—The wise always perceive themselves as different from the objects of the world whose relations are transient and temporary and perish after a time. The Self, however, is unperishing and eternal, and will pass away, on death, into some other form of life, leaving his newly-formed relations of a transient phase of life, in the course of his eternal wandering career, mourning his loss. Some times the relations depart plunging ut in mourning. Hence, the acharga points out that the relations and, like them, the other objects which either leave us or are themselves left behind, on death, are all different from the Self in their nature for otherwise they will always accompany the soul and cause it pleasure at all times and under all conditions.

दिखेशेस्य खगा एत्य, संवसंति नगे नगे । स्वस्वकार्यवशासान्ति, देशे दिक्षु प्रगे प्रगे ॥ ९ ॥

The birds gather together to pass the night, on a tree, from various places in different directions in the evening, but at the earliest moment at the break of day they depart, in the pursuit of their diverse purposes, for different places in all directions ¹

Note—The world is like a tree where the birds gather together to pass the night in the morning they are gone. In the same way friends and relations are formed in this world, as if for the night, at the bleak of day we part company from them, each one going his own way! Who, then, but the foolish will suffer himself to be entangled with such 'roosting-time' ties?

विराधकः कथं हन्त्रे, जनाय पीर्कुप्यति । त्र्यङ्गञ्जातयन्यद्भुचां, स्वयं दण्डेन पात्यते ॥१०॥

Why should the evil-doer become angry with him who takes revenge on him? He who pulls down the trangura with both his feet is himself felled to the ground through its instrumentality! This is but just! It therefore, does not become one to get angry!

Note:—The trangura is an instrument so constructed that if a man holds it with both his hands and then tries with his feet to pull it down to the ground, it will overthrow him at once. The acharya likes the action of an evil-doer to the result of pulling down the trangura. The evil one experiences at this moment from the hands of an enemy is sure enough the result of one's own evil-doing in the past. It is that evil which like the trangura has rebounded on oneself and is responsible for

\$3

one's suffering Sutely, this is but justice, pute and simple Where is, then, room for anger in this? This point is that in this world evil is caused by evil, what is experienced now as an evil, experience in suite enough the resultant of an evil act done by us in the past. The experiencer of evil is thus himself proved to be the doer of evil and the cause of his own suffering. Still it is necessary to numed the evil-doci, for otherwise it will be destructive of society, and good order. The wise man should, however, so control himself that he should do his duty, but should not allow himself to be carried away by passion in its discharge. The judge, for instance, shoul so deport himself as to punish the prisoner who is proved to be guilty, but while doing so he should maintain his own screnity of mind and should not allow his decision to be influenced by anger. The result of anger is very harmful for the soul: It tends to undesurable conditions in the next rebirth. Hence, the judge who allows his mind to be swayed by passion will be incurring the liability for a painful hereafter, while the judge who merely discharges his duty and remains calm and collected and of an unruffled temperament will be avoiding that liability and will also be shortening his own bondage as the result of passionlessness

रागद्देषद्वयीदोर्घनेत्राकर्षणकर्मणा । अज्ञानात्सुचिरं जीवः, संसाराद्यौ भ्रमत्यसौ ॥११॥

Tied to the long rope intwined with [the strands of] attachments and aversions, the soul is whirled about in the ocean of samsāra (transmigratory existence) for immeasurable time, led by ignorance!

Note.—Love and hatred, or attachment and aversion, are the causes of bondage and transmigration. The series of births and deaths is unending, except in the case of him who acquires Self-knowedge. Hence the statement that souls wander about in transmigration for time beyond measure. Ignorance of the real nature of the soul and the non-soul, and of happiness and what is not happiness through it may appear to be so, is the producer of loves and batreds of embodied life. Led by these the soul comes and remains under the sway of karmic forces that drag it about in different conditions and grades of existence in the different parts of the world.

विपद्भवपदावर्ते, पदिकेवातिवाह्यते । यावत्तावद्भवन्यन्याः, प्रचुरा विपदः पुरः ॥१२॥

The samsara (transmignatory condition) is like a wheel at a well, where before one bucketful of distress is got over a large number of afflictions overtake the soul! Note—The thoughtful mind only discovers the world to be full of misery and pain in all conditions. No one thinks of associating happiness with the coditions of existence in the lower grades of life. The trees are rooted to the spot and remain perpetually exposed to the inclemency of seasons, they are further subjected to all kinds of afflictions in the shape of cutting, piercing, burning, uprooting an the like. The smaller insects are destroyed by the thousand by the careless movements of their bigger fellow-beings. No one cares for their writhings and suffering. The birds and beasts and fishes are seized and devoured merclessly by animals and men. Man himself is in constant prey to the fear of death, and lives in perpetual dread of calamity and misfortune. Those even who may by regarded as favorites of fortune are troubled with many kinds of mental and bodily troubles of their own and of their relations and friends. And at the end of a career, even where it has been the leas undesirable, there is nothing more comforting than the grave or the burning pyr

to look farward to Death and the blankness of death ever stare the thinking being in the face. Human life is short and the best of its conditions is ephemeral and fleeting; you have hardly celebrated the advent of a joy when its place is taken by affliction in some form or other. Those who are unluckly spent, their whole time in crying and lamentations. There suffering ceases even to excite the pity of the passers by, by its frequency. Some of them actually experience all the excruciating horrors of hell-life without being in hell! Kings, and millionaires and potentates are no exceptions, they are subject to the pain and misery which the flesh is heir to The achasya, therefore, justly says that this world of transmigratory life is so full of suffering and pain that you have hardly got-over one affliction when its place has been filled up with a dozen others. The wise should, therefore only seek to obtain release from the world to obtain nirvana where there is iternal peace and joy and life unending

दुरज्येंनासुरक्ष्येण नक्ष्वरेण धनादिना । स्वस्थंमन्यो जनःकोऽपि ज्वरवानिव सर्पिषा ॥१३॥

He who regards himself as happy on account of the possession of wealth and other like objects of desire, that are obtained with great trouble, that require a lot of botheration in their protection and that are after all perishable, is like the fool who eats clarified butter when suffering from fever and then thinks that he is enjoying good health!

Note—Ghee (clarified butter) only goes to aggravate fever, so that he who eats ghee in that condition and regards himself as healthy because of his eating Ghee is a big fool Precisely the same is the case with the man who considers himself happy because he is surrounded by the objects and sources of pleasure. These, too, aggravate the heat and fever of lust, and depart sooner or later without producing anything like satisfaction, that is happiness and rest and peace. The acharya, therefore, points out that it is an act of folly to regard oneself as happy when enjoying material prosperity and the like, which, it is further pointed out, are acquired with a lot of trouble and exertion and which involve a great deal of additional trouble in guarding and protecting, and which, notwithstanding all this worry and trouble, are ultimately bound to depart, being perishable by nature.

विपत्तिमात्मनो मृढः परेषामिव नेक्षते । बह्यमानमृगाकीर्णवनान्तरतहस्थवत् ॥ १४ ॥

The fool is not warned by seeing distress overtake others, he acts like the man who, seated on the top of a tree in the midst of burning a forest, sees deer and other living things perish, but does not think that the same fate is soon to overtake him!

Note—The acharya here gives us a true description of the individual blinded by the lusts of the world, who though surrounded by calamity and distress all round is still unable to check himself in time to the true side of life, taking no warning by the fate of others

आयुर्वृद्धिक्षयोत्कषंहेतुं कालस्य निर्गमम् । वांछतां घनिनामिष्टं जीवितात्सुतरां घनम् ॥ १५ ॥

Time is the cause of the shortening of the duration of life as of the increase of wealth the amassers of wealth [thus] love money more than their lives!

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः संचिनोति यः । स्वशरीरं सपड्केन स्नास्यामीति विलिम्पति ॥१६॥

The poor man who accumulates wealth so as to able to acquire merit and the destruction of evil karmas by spending it in charity is like the man who covers himself with filth in the expectation that he is going to bathe his body thereafter.

Note:—The acquisition of wealth is accompanied by so much evil-doing and evil-thinking that it itself implies a lot of sin accruing to the soul: what purpose can, then, be served by charity and good works thereafter. The man who enters a diain full of filth in the hope that he will have a good bath afterwards covers himself for a certain with filth. Whether he will be able to wash it off thereafter is an entirely different matter!

आरंभे तापकान्त्राप्तावऽतुप्तिप्रतिपादकान् । अन्ते सुदुस्त्यजान् कामान्कामं कः सेवते सुधीः ॥१७॥

What will any wise man indulge in the pleasures of the senses which cause trouble in their acquisition, enkindle lust and desire at the moment of enjoyment and are very painful at the time of paiting? Should a wise man do so, he would not abandon himself to the lustful feeing.

Note -According to the degree of foresight developed by them, men fall into three classes, namely, the short-sighted the far-sighted and the farthest-sighted. The first class is that of fools, as all will agree. The second is that of men who are wordly wise They are learned and thoughtful, but only in matters pertaining to the world, and the concerns of the immediate life that comes to an end after some three score years and ten, when their wisdom also perishes. The third class comprises those few but deeply thoughtful souls who have understood the nature of life and know that the soul survives the physical death. They are familiar with the true nature of things and know that there is no rest or peace for the soul outside nirvana They are the farthest-sighted, for this reason, we may also call them Dharma sighted, for Dhama signifies the ultimate Truth and the nature of things. Of these Knowers of the true nature of things it is said that they will not indulge in sensual lusts, knowing them to be the causes of suffering and pain, though not appearing to be such to the first or the second classes of men Should a Knower of Truth he found to indulge in the pleasures of the world, he would not abandon himself altogether to them, but would only be influenced by them in so far as he is unable to resist the forces of karmic infatuation engendered in the past. The point is this that the knowledge of Truth changes the angle of vision of the wise one who may not be able to resist the temptation but who will detest himself all the time for his failings, where the fool will simply plunge himself head long in the whirling voitex of pleasures and lusts

भवन्ति प्राप्य यत्संगमञ्चीनि । स कायः संततापायस्तदर्थं प्रार्थना वृथा ॥ १८ ॥

By the contact of which even pure objects are rendered impure and which is a constant source of affliction, to seek to provide such a body with the objects of pleasure is vanity!

Note—It is not the nature of the senses to ever attain to anything like a lasting sense of gratification. The source and store-house of impurity, the body may be surrounded by all sorts of luxuries and things that are expected to give one pleasure; but its cravings only increase while the things which it touches become impute for any other purpose!

यज्जीवस्योपकाराय, तद्देहस्यापकारकं । यद्देहस्योपकाराय, तज्जीव स्यापकारकं ॥ १९ ॥

Whetever action is beneficial to the soul is harmful to the body, and whatever action is beneficial to the body is harmful to the soul †

Note — The association of the soul and the body being the cause of the pain & misery appertuning to embodied existence, nirvana really only signifies the destru-

िश्लोक---

ction of the fleshy prison of the soul, when the latter, fully exalted and immortal in its own right, is installed in the Temple of Divinity as a God, by the mere process of emancipation from the bondage of matter. Hence, whatever tends to the fattening of the body is the necessarily the source of continued affliction to the soul and suce were

इतश्चिन्तामर्णिद्व्य, इत[.] पिण्याकखण्डकम् । ध्यानेन चेटुभे लभ्ये, क्वाद्रियंताम् विवेकिनः ॥२०॥

When the divine wish-fulfilling Jewel and a piece of refuse both are obtainable by meditation, which of these will the man of discrimination choose?

Note—The man of discrimination will naturally prefer the soul which is like a divine wish-fulfilling Jewel, capable of conferring the inconceivably great boon—the status and the joy of Divinity—to measure pleasurable form of sense-tickling that is like me worthless piece of khali (a cake of sesamum seeds from which oil has been extracted) and serves only to prolong and to embitte the bondage of karmas

स्वसंवेदनसुःयक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः । अत्यतसौख्यवानात्मा, लोकालोकविलोकनः ॥ २१ ॥

This soul can be adequately known by self-contemplation and is of the size of its body, immortal, of an exceedingly blissful nature and the knower of Loka and Aloka $^{\rm I}$

Note—In this sloke the acharya has given a brief description of the soul as freed from the bondage of matter. It is, roughly speaking of the size, of its physical body and is indestructible, hence immortal. Knowledge and bliss appertain to it by nature, being but two of its divine attributes. It can be known adequately in self-contemplation, and when established in its natural purity, freed the corrupting companionship of matter, it is the enjoyer of unbounded joy and the knower of the entirety of things, which constitute what is known as the Lokaloka (Loka=the universe of life and matter+aloka=the infinity of pure space lying beyond the Loka)

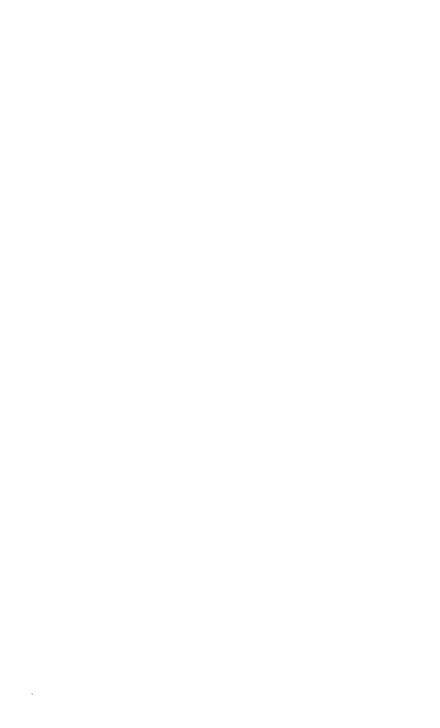
संयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतसः । आत्मानमात्मवान्ध्यायेदात्मनैवात्मनि स्थितम् ॥२२॥

Controlling his senses, with concentrated mind, the knower of the Self should contemplate the Self, seated in his own Self, through the Self !

Note:—The contemplation of the divinity of the Self, that is the soul, is only possible through the soul itself, by turning the attention inwards. Now, because the self is seated inwards and the objects of the senses which attract and enthral the mind lie outwards, the withdrawal of the mind from the outside, that is to say the controlling of the lustful cravings of the lower nature, is an absolute necessity for the realisation of the glory appertaining to Life. For one cannot serve two masters at one time. The Self and the world are antagonistic in nature of the latter means the mancipation and distress of the former. Hence, the wise banish the world completely from their thoughts and attend with one-pointed mind to the glorious Divinity of the Self, seated inside.

अज्ञानोपास्तिरज्ञानम्, ज्ञानम् ज्ञानिसमाश्रयः। ददातियत्तु थस्यास्ति सुप्रसिद्धमिदम् वच ॥२३॥

Devotion to ignorance bestows ignorance, and devotion to Gnana (self-know-ledge) bestows Knowledge for it is well established that a thing can grant only that of which it is possessed !



Note:—We have all eady seen that desire is the foot of bondage. Here the acharya takes us a step fulther towards the analysis of desire, which is rooted in the delusion of identity with the body. The ordinary man only knows himself as the physical personality and naturally remains absorbed in the gratifications of the bodily cravings and wants. This is the delusion which the acharya warns us against.

एकोऽहं निर्मम बुद्धो, ज्ञानी योगीन्द्रगोचर । वाह्याः संयोगना सावा सत्तः सर्वेऽपि सर्वथा ॥२७॥

I am one, I am without delusion. I am the knower of things, I am knowable by Master Ascetics, all other conditions that arise by the union of the not-self are foreign to my nature in every way †

Note —The soul is here described from what is known as the nishchaya naya, that is to say in respect of its pure natural attributes, in other words, as a pure spirit. The pure spirit is devoid of parts, and therefore only one, being a pure embodiment of knowledge, without any obstructing veils to curtail the field of its knowing functions, it is devoid of delusion, it do fall forms of defilement and corruption, it is pure, having omniscience for its attribute, it is the true knower, and not being endowed with sensible qualities, it is knowable by the super-clairvoyant vision of Great Ascetics and Saints. All the other qualities, attributes and relations which appertain to embodied existence are really produced under the corrupting influence of matter, and are, therefore, not natural to a pure Spirit.

दुःखसंबोहभागित्वं, संयोगादिह देहिनाम् । त्यजाभ्येनं ततः सर्वं, मनोवाकायकर्मभिः ॥२८॥

The souls involved in transmigration have to suffer a multitude of afflictions, owing to the association of the not-Self, the body and the like therefore, I [shall] renounce them along with all the activities of the mind, the body and speech!

Note—He who does not control the activities of his mind, speech and body, which are the three channels of sin, only prolongs his bondage and the transmigratory life which is simply full of pain and misery, even under the best of conditions. The aspirant after the final release, therefore, resolves in the manner indicated in the text.

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याघिः कुतो व्यथा । नाहं बालो न वृद्धोऽहं, न युवैतानि पुद्गले ॥९९॥

I am not subject death, then, what should I fear death for? Nor am I subject to disease, then, what can cause me pain? I am not a child, I am not an old man, nor am I a youth 'all these appertain to the flesh (matter)!

Note—Pure Spirit is free from death and disease, and has no concern with the divisions of life, childhood, youth, oldage and the like. These are different conditions that appertain to the body of matter, which is, undoubtedly, not the same thing as Spirit or the soul. Why should, then, one fear death? and how can one be really affected by disease? The saint, knowing the pure immortal and incorruptible nature of the soul speedily attains to the highest and best condition of Life which is enjoyed by all who acquire the purity of their spiritual nature.

भुक्तोज्ज्ञिता मृहर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुर्गलाः । उच्छिष्ठेब्वित तेष्वद्य, मम विज्ञस्य का स्पृहा ॥३०॥

Again and again, through delusions, have the bodies of matter been enjoyed and thrown off by me, how can I long for them now that I am endowed with true wisdom, for no one likes to eat the leavings

Note:—In the part infinity of time, during which the immortal soul has never ceased to exist, it has put on all kinds of bodies and enjoyed, again and again, the pleasures appertaining to embodied existence, through them, throwing them off always at the end of each form of life. The bodies and things of matter are thus like the leavings in a plate which nobody will like to eat. The Right Believer whose, vision has been clarified to perceive the true side of Life, therefore, cannot long for them, since it will be like a longing to eat the leavings and refuse.

कर्म कर्महितावन्धि, जीवो जीवहितस्पृहः । स्वस्वप्रभावभूयस्त्वो, स्वार्थ को वा न वांछति ॥३१॥

Karma works in its own cause, the soul works for its own good; who is there in the world that will not work for his own good when he has the power to do so?

Note—Since kasma produces kasma, and thus is the cause of the perpethation of the soul's bondage, it is here dere described as working in its own cause, the soul also works for its own good, that is to say against the kasmic power, when it is able to do so. The interests of the two thus clash with each other. The acharya here exhorts the soul that has acquired the wisdom of the saints to gird up its loins for the destruction of the enemy, further is no one in the world who will not like to destroy his foe when he has the power to do so, especially such a foe or kasma, that acts by stealth and strikes mercilessly and hard.

परोपकृतिमुत्सृज्य, स्वोपकारपरो भव । उपकुर्वत्परस्याज्ञो, वृत्रयमानस्य लोकवत् ॥३२॥

O Witless one I thou art serving this visible show that is not thyself; thou shouldst now renounce doing good to others and take to doing good to thine own Self I

Note—It is the way of the world that one gives up serving those who are found to be inimical to oneself. The soul has been serving its physical body and the rest of the visible sensible panoiama; in the belief, that its good lies with the things outside itself. But it has now learnt their real nature. They are-all the ties and joys and relationships of the world, taken together—only so many enemies in disguise! The acharya, therefore, exhorts the soul that is endowed with true insight into the nature of things to abandon them to their own fate and turn to its own-welfare, that is, to take to self contemplation.

गुरूपदेशादस्यासात्संवित्तः स्वपरांतरं । जानाति यः स जानातिमोक्षसौख्यं निरंतरम् ॥ ३३ ॥

He who has acquired the discrimination between the Self and the not-Self, through the teaching of the preceptor, by repeated meditation on the nature of things, or by direct inner Self-perception, that great soul enjoys the happiness appertaining to salvation constantly !

Note - Salvation and the happiness appertaining to it are obtained by self-contemplation, when the karmas are destroyed and the soul is left as a pure Spirit, omniscient, and blissful and immortal in its own nature.

स्वस्मिन्सदिमलावित्वादभोष्टज्ञापकत्वतः । स्वयं हितप्रयोगतृत्वादात्मैय गुरुरात्मनः ॥ ३४ ॥

Because of its internal longing for the attainment of the highest. Ideal, because of its understanding of that Ideal, and because of its engaging itself in the realisation of its Ideal, because of these the soul is its own preceptor.

Note:—The outside Teachers and guides are only helpful, where the roul, itself is rice for advancement on the pith; their, word is of no avoid, where the hence is

not open to receive it. For this reason the real teacher and guide is the soul itself, and so far as exertion is implied in the realisation of the Ideal, it is the soul's own action which can ever lead to its advancement and progress on the path. Hence the statement that it is its own preceptor i

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाज्ञत्वमृष्ठिति । निमित्तामात्रमन्यस्तु, गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥ ३५ ॥

Those not yet qualified for the acquision of Truth cannot become the knowersof Truth, the knower of Truth cannot become devoid of it, external Teachers are useful like Ether which is but helpful in the motion (of moving things)!

Note:—The acharya here clucidates the nature of the teaching from an outside source, It is like ether which is helpful to the object in motion, but which does not push or move any one Similarly an external Guide can help only the soul that has acquired a longing to proceed on the Path of Freedom, he cannot impart the impulse which is to initiate the proceeding !

अभवन्वित्राविक्षेप, एकांते तत्त्वसंस्थितिः । अभ्यस्येदिभियोगेन, योगी तत्त्वं निजात्मनः ॥ ३६ ॥

He in whose mind no disturbances occur and who is established in the knowledge of the Self, -such an ascetic should engage himself diligently in the contemplation of his soul, in a lonely place

Note:—The one-pointedness of the mind which is necessary for steady medition is exceedingly difficult in a place where there is even a likelihood of disturbance Hence, it is pointed out here that self-contemplation should be performed in a lonely place,

यथा यथा समायति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् । तथा तथा न रोचंते, विषयाः मुलभा अपि ॥ ३७॥

As greater and greater progress is made in the realization of the glotious Self, so is lessened, more and more, the liking for even those objects of pleasure which may be obtained with ease

Note—This sloka describes the effect of the progress in self enjoyment. It is destructive of the cravings of the lower nature. The Self is blissful by nature, he who begins to enjoy the divien thrill of spiritual bliss certainly cannot thereafter hanker for worldly pleasure, the craving for which decreases as the enjoyment of true happiness increases

यथा यथा न रोचंते, विषयाः सुलभा अपि । तथा तथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमूत्तमम् ॥३८॥

As even those objects of pleasure which are easily obtainable become increasingly intolerable, in the same measure does the glorious self come into one's enjoyment!

Note—The enjoyment of the natural inherent joy of life increases eide by side with the sense of indifference for worldly pleasures. Thus the more there is of the enjoyment of the internal spiritual happiness, the less is the craving for the sense-produced pleasures, and, conversely, the greater the sense of indifference for worldly attractions and joys, the greater the enjoyment of the real bliss appertaining to Life

निज्ञामयति निःशेर्षामद्रजालोपस जगत् । स्पृहयत्यात्मलाभाय, गत्वान्यत्रानुतप्यते ॥३९॥

The seeker of the self-regards the whole would as a product of illusion, and is moved by the desire to attain to self-realization. If he ever becomes entangled in anything else he repents of it!

Note:—Self-realization is possible only by completely turning the back on the temptations and snares of the world; hence, he who longs to attain to it must regard the panorma of the world as transient, instable and fleeting, in other worlds, as the product of illusion. The wise man will thus never allow himself to be entangled in anything worldly. Born with all the weaknesses of the human nature, he is nevertheless subject to powerful cravings and impulsions, and may, under their influence, deviate from the proper path. The acharya says that the true characteristic of a wise man is that whenever he is entangled in any of the worldly pleasures neglecting his proper dharma (duty), he will be repenting of his wrong action, even while doing it. For repentance implies confession which is half the amends

इच्छत्येकांतसंवासं, निर्जनं जनितादरः । निजकार्यवशारिकचिद्दक्तवा विस्मरित द्वतं ॥४०॥

The sceker after the Self longs for solitude, prefering dissociation with men, if he has to speak to men for a purpose of his own, he puts it out of his mind as soon as it is said.

Note:—Solitude is absolutely necessary for pure self-contemplation बुवन्नपि हि न द ते, गच्छन्नपि न गच्छति । स्थिरीकृतात्मतरचस्त, पश्यन्नवि न पश्यति ॥४१॥

He who has firmly established himself in the knowledge of the Self, such a one does not speak while speaking, does not move while moving and does not see while seeing!

Note.—When a man has put his faith firmly in the Self his actions cease to bind, that is to say, affect him. His activity in such a case ceases to be volitional and becomes automatic, as it were. Of such a being it is correct to say that speaking he does not speak, moving about he does not move about, and seeing he does not see.

किमियं कीट्टशं कस्य, कस्मात्ववेत्यविमेषयन् । स्वदेहमपि नावैति, योगी योगपरायणः ॥४२॥

The ascetic immersed in the process of self-realization has no awareness of even his body, being undisturbed by questions such as what is the soul? what is its nature? who is its master? from whom is it derived? where does it reside? and the like

Note:—In the culminating samadhi (the condition of entrancement of self-realization) thought is over-powered by the thilling pulsation of the joyousness of self-feeling Consequently, no question arises as to the nature, attributes, etc., of the soul-substance. The entire soul is then filled with the rapturous rhythm of a life that is at once illumined and blissful by its own light and the inherent ecstasy of delight. In that state there can, of course, be no engrossment of the conscious faculty with the idea of the physical personality or its basis and abode, the body of matter

यो यत्र निवसन्नास्ते, स तत्र कुरुते राति । यो यत्र रमते तस्मादन्यत्र स न गच्छति ॥४३॥

He who abides in a place, becomes attached to the place he who takes a liking to a locality does not give it up to go elsewhere!

Note —This is the general rule. When a person likes a place he sticks to it and does not think of leaving it and of going to another place Similarly, the ascetic who loves the state of the samadhi of self-realization never entertains the idea of departing from it, it being full of delicious joy and ecstasy for him.

अगच्छंस्तद्विशेषाणामनभिज्ञञ्च जायते । अज्ञाततद्विशेषस्तु, बद्धयते न विमुच्यते ॥४४॥

The ascetic, not stirring out of his Self and not attending to the particular natures of the not-self, does not become their enjoyer, by notenjoying the not-self he is not bound by kaimas, but becomes released from them!

Note:—The law governing karma and transmigration is this that attachment and aversion for objects of the senses are the causes of bondage of the soul. They cause the influx of a kind of subtle invisible matter into the soul substance, and the fusion of the inflowing material with the soul is the form of the bondage of karma that is so harmful to the self. The soul not falling in the category of the objects of sense, its contemplation does not give rise to attachment and aversion, on the contrary, it is productive of a state of equanimity and indifference in the mind that is engaged in the enjoyment of the natural inbornion of his real self. Hence he is not afflicted with fresh karmic bondage while he is engaged in self-contemplation. In addition, his existing karmic bonds also begin to break up on account of the prevailing state of equanimity; because what in attracted into the soul in consequence of an agitated state of the mind must begin to disperse and depart when a contrary state is established therein. The acharra, therefore, says that the samadhi of self-teeling has a two-fold merit: it is, firstly, not productive of any additional mancipation for the soul, and, secondly, it is actually destructive of the existing bondage.

परः परस्ततो दुःलमास्मैवात्मा ततः सुखं । अत एव महात्मानस्तन्निमतं कृतौद्यमाः ॥४५॥

The not-self are surely never the Self, only sorrow accrues to the soul from them the Self ever remains the Self, it is, therefore, the cause of happiness; because of this, great personages have exerted themselves for the realization of the Self!

Note —The distinction between sense-produced pleasure and the natural joy appertaining to the soul itself is again emphasized here by the acharya, for what shall a man profit if he gain the whole world but lose his own soul? The fact is, as the Jamacharyas have demonstrated, over and over again, that the soul is blissful by natureand comes into the enjoyment of surpassing, unsurpassing bliss by the simple practice of self-feeling. The pleasures of the world are false and illusory, as compared with the joyousness of life itself; they even fail and deceive one in the most critical moment. Moreover, nothing in the class of the not-self is lasting and unperishing, so that he who becomes attached to them has sooner or later to lament their loss. Sometimes he himself has to partfrom the objects of pleasure, when the parting is all the more terrible. What good can, then, come of attachment to the objects in the world? Atman (the Self) alone is, thus, the fit object of attachment, and it rewards the devotee with life eternal and knowledge and joy unlimited.

अविद्वान्पुद्गलद्रन्यं, योऽभिनंदति तस्य तत् । न बातु जंतो सामीप्यं, चतुर्गतिषु मुद्धित ॥४६॥

Matter which the undiscerning soul attaches itself to never leaves him wherever he goes in the four gatice!

Note —Gatts signify the four principal types of embodied existence, in which souls are being constantly boin and reborn in the course of their transmigration. These are the celestial the hellish, the human and the sub human or the lower kingdoms, the last of which includes all kinds of animals, plants and all other lower

forms of life. All these are imposed on the soul because of the companionship of matter of which the not-self are chiefly composed. The law of the influx of matter has already been noticed a little earlier. It shows that the effect of the love of the not-self on the Self is its being over-powered by matter in the shape of the undesirable forces of kanma that diag it from one gate to another or in the numerous classes and sub classes of the same type. The achanya, therefore, discourses on the folly of the undiscerning who perpetuate their bondage by their own acts, not knowing the nature of the Law that keeps the soul tied to the ever revolving wheel of transmigration. He who allows himself to fall in love with matter—and all the not-self are perceived by us only in so far as they are matter—should know that the object he falls in love with will not abide to console or grant solace to his heart for ever, but matter will cling to him, because of that act of love, all the more closely! Knowing this, the secker after the glory of the Self will shun the pursuit of the objects of the world once the law is shown to him.

बात्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहिःस्थिते । जायते परमानंदः कश्चिद्योगेन योगिनः ॥ ४७ ॥

He who is firmly established in his own Self, and keeps away from the worldiy intercourse, a supreme kind of hadpiness in produced in the being of such a yogi!

Note:--Divine bliss is the nature of the soul which is realized the moment one is rid of all the sense of attachment to the world and is immersed in pure self-contemplation

आनंदी निर्दहतयुद्धं, कर्भधनमनारतं । न चासौ खिद्यते योगी, वेहिंदु खेष्वचेतनः ॥ ४८ ॥

Self produced happiness is constantly burning up the karmic fuel in large quantities, while the yogi, indifferent to the external pain, is not affected by it in the least !

Note :—The Master Ascetic is constantly absorbed in the enjoyment of the spiritual happiness pertaining to his soil, and is, therefore, not affected by bodily discomforts and pains to which he dose not even attend consciously.

अविद्याभिदुरं ज्योतिः, परं ज्ञानमयं महत् । तत्त्रप्टन्यं, तदेप्टन्यं, तद्द्रप्टन्यं मुमुक्षुभिः ॥ ४९ ॥

That excellent and supreme light of the Self is the destroyer of ignorance,—
the seekers after salvation should always engage "themselves in questioning others
about it in affectionately seeking it and in realizing it by actual experience!

Note:—The soul being the embodiment of knowledge is antithetical to ignorance Hence the injunction to be constantly engaged in talking and thinking of it and in feeling it in every other possible way. It will not do to turn to the Self for a moment or two once a week or even every day, for the habit of the mind is that it runs always after what has engaged its attention the most of the time. The teason why novitiates in soga find it difficult to concentrate their mind on the Self is to be found in the fact that their habitual thinking unconsciously directs the stream of thought into the accustomed chuncil of activity, and the slightest temptation, which they have never learnt to resist, suffices to steel away their determination.

जीवोड्यः पुर्गलक्षान्य, इत्यसी सत्त्वसंग्रहः । घदन्यदुच्यते किचित्सोऽस्तु तस्यैय विस्तरः ॥५०॥ The Salf is different from matter, myster is different from the Salf is be in the quintessence of all the compilations of wisdom; all the rest of knowledge is but an amplification of this !

Note:-Here the acharya sums up the result of the entire discourse and says that the one thing to know is the fact that the soul is not matter, nor matter the soul This is the quintessence of philosophy, though it is necessary to explain it in detail for the benefit of the ignorant who entertain many doubts on the subject Whoever has understood this one crucial point or fact thoroughly, so that no doubt is left in his mind concerning the nature and divinity of the soul, is the knower of truth who is sure soon to reap the benefit of his knowledge, and attain to the supreme status outside the painful dreary realm of transmigration and the kingdom of Death. For the soul being actually divine by nature, its divinity remains unrealized only just so long as it is ignorant of itself, and devotes all, its time, to the pursuit of the non-self. Hence, when Self-knowledge has dispelled the thick mists of ignorance and set its natural energy of dispassion in opposition to the forces of harma, the destruction of the latter becomes only a question of time, and is encompassed, generally, in the course of three or four incarnations, when it is loft, as the result of the process of self-realization as a pure Spirit, all-knowing, immortal and eternally blissful, a pure and real Divinity, second to none in the three worlds, and the object of devotion and worship on the part of devas (celestials) and men

इष्टोपदेशमिति सम्यगघीत्य धीमान्, मानापमानसमतां स्वमताद्वितन्य ॥ मुक्ताग्रहो विनिवसन्सजने वने वा, मुक्तिश्रियं निरुपमामुपयाति भव्यः ॥ ५१ ॥

The wise bhavya who has well understood the teaching of the "Ishtopadesha", and who maintains the scientty of the mind by the effort of his will when he is respected as well as when disrespect is shown to him, and who has freed himself from the attachment to the non-self, obtains the matchless treasure of moksha, whether he live in a city or in jungle!

The soul that is endowed with realizate potentiality for the attainment of salvation is termed bhavya, while the abhavya (a, not + bhavya) is the soul that is potentially divine like the bhavya, but with a potentiality that is not realizable into actuality

Note:—Faith in the glorious nature of the Self and mental equanity are the chief things necessary for the obtainment of release from the cycle of births and deaths (transmigiation). The rule with faith is that it never fails to translate itself into action, sooner or lattar, since belief is the builder and moulder of character, and the controller of impulses. For this reason, even the greatest sinner need not despair, and if he will be intelligently try to understand the teaching herein imparted and apply himself to put faith into it he will soon find himself travelling on the road to saintship. Whether he walk towards it or travel in some more speedy way, will depend on the nature of the obstruction that might be offered by the kaimas of his previous like. But even the worst of kaimas begin to lose their power under the loosening influence of the Right Faith, and are speedily destroyed by the scoiching fire of Right. Knowledge-Mental equanimity is speedily reached in this manner, and the rest becomes easy by a constant meditation on the "Ishtopadesha" which is the Discourse Divine as well as the name of the book in the reader's hand!

FOREWORD

Shri Pujyapada Swami the author of the "Ishtopadesha" (Discourse Divine) was a Jaina saint, of the Digambara sect, who flourished in the fourth century AD. He composed several important works on the Jaina Philosophy and Religion of which the "Sarvas tha Siddhi," (an elaborate commentary on the Tattontha Sutrae, which may be termed the Jaina Bible), "Jamendra Vyākarana' the "Samādhi Shataka" and the "Ishtopadesha" are the most famous. The last-named work was translated into Hindi from the original Sanskrit by Shri Dharma-Divakar, Dhasma Bhushana Brahmachari Sital Prasadji in the year 1923. I have now translated it into English, at the suggestion of the respected Brahmachariji himself, from his Hindi translation. The English translation has been personally revised by the Brahmachariji to whom I am indebted for the favour

The "Ishtopadesha" is a charming composition in adhyatma rasa, that signifies a sort of direct appeal to the experience of self-realization rather than a metaphysical study of the soul-nature through the intellectual faculty. I have no doubt that it will prove very serviceable in fixing the attention of the contemplative thought, and, read intelligently, will enable the thoughtful to burn up his karmas on the adhyatmic alter of the Glorious Divinity of the Innet Self

HARDOI : 1 17th May, 1925 CR lain

CONTENTS.

1	Introduction.	75
и.	Versified Sermons	76-81
1.	Obeisance,	76
2	God and Self,	76
3	Path of Peace and Piety.	76
4	Philosophy of pain and pleasure	76
5	Ignorance the cause of all ills.	77
6.	Worldly life is a chain of pains	77
7	Wealth is no remedy for worldly ills.	77
8	Concentrated thought is the only remedy.	78
9	Self is the only thing worth realization	78
10	Path of self realization,	78
11	Superiority of a devotee.	78
12	The unreality of worldly life.	78
13	The Path of victory.	78
14	The unholy union	79
15	The divinity of self.	79
16	Futility of worldly quest.	79
17	The struggle of life.	79
18.	Appeal to self	80
19	Master's tole in spiritual culture.	80
20	In reality self is his own guide.	80
21	The essential requisites of a devotee.	80
22	Life features of a yogi	80
23.	Yogi enjoys a free life.	80
24	Self culture is the best culture	81
25	Summum bonum of life	81
26	Brief story of truth.	, 81
27	Riesings	81

INTRODUCTION

ISHTOPADESHA (श्र्योषदेश) (Happy Sermons) is didactice poem of 51 Stanzas in Sanskrit by Swami Fujyapāda, a great saint of India, born in the Karnatak region in the 5th century A.D.* He was the preceptor of Durvinit, the then ruling King of the great Ganga dynasty of the Deccan. His real name was Devanandi but being held in high esteem by all, he was renowned as Pujyapada i e. one whose feet are worth worshipping. For his lofty thinking, pure living and high order of asceticism as described in many inscriptions and Shastras of Kainataka, he was known as one who was untouched by rarth, and whose ablution water of feet could change iron into gold

Besides being a saints of high repute, he was a great scholar and thinker of his times. For his lucid style, precise expression and masterly exposition of the subject he has held revered place amongst all Indian writers. His works on medicine, grammer, prosody and Jain philosophy, have always been regarded as works of standard value by all the subsequent scholars of India

Amongst these works his Sarvarth Siddhi (মর্থাটারিছি), a commentary on Tatvarth Sutra (বালার্থার),—a compendium of Jain Metaphysics and cosmology written by Uma Swami of the first century A D. in aphorisms—is work of rare value, being a key to this vast treasure of knowledge. Jainendra Vvākarna (খীনী-ব্ৰাক্ষণে) is an equally important work on grammer written by him

Samadhi Shatak (समाधिशतक) ("Equanimity") in 100 stanzas is an-other didactic poem composed by him. It is a wrok of about double the size of Ishtopdesha and is an outcome of his deep thinking and realisation of truth. This work undoubtedly possesses a rate spiritual charm. It provides a consolation to an afflicted mind, and an inspiring vision of the divine life to seeker after truth.

To advance, the cultural relationship between the East and the West—a dire need of our times, I have for the present selected Ishtopadesha—"Happy Sermons," as the first offering for being presented to the western peoples in western garb

In order that readers who take liking to these sermons, may remember them by heart, the translation has done in a versified form, stanza for stanza, but where the literal and formal translation of a stanza was unintelligible to convey the full substance of the pithy sayings and abstruse ideas condensed in it, a free and liberal style has been applied to expand it into several stanzas. Though taking this freedom with the style, the matter has been arranged in the same order as has been adopted by the original author. Every stanza of the original poem, whether rendered singly or in an expanded form has been numbered in its serial order on the left hand side, while the verses of this expanded composition have been numbered on the right hand side of the margin. Headings have been newly inserted to show the themes of the succeeding verses.

As to how far I have been able to fill up these verses with spirit which the saint wishes to convey through these sermons, in to be judged by the fancy, bestowed by western readers on this composition. In case it bears good fruits I shall try to offer Samadhi Shatak also in its versified form as a next contribution to the noble cause of strengthening the cultural relations between the East and the West

The original text of the poem in Sanskrit has also been printed in this publication so the lovers of oriental studies have a facility of consulting it, and enjoying the original work of the master poet.

Panipat Mahavir Jayanti 1954 Jai Bhagwan Jain
Advocate

^{*} B. Lewis Rice-Journal of Royal Asiatic Society-1800, p 215 ff

परिशिष्ट नं० ४ HAPPY SERMONS.

Mr. JAI BHAGWAN JAIN, B.A LL B.

obcisance.

1.	I bow to the all knowing Lord, By total extinction of all flaws, Who shone forth into purest glow. And paved for all, salvation path. God and Seif.	i				
2	God is self and self is God, Both are one like ore and gold.					
	The difference lies in their modes, The pure is one, the other impute. As ore transforms into gold, When released from foreign things,	2				
	So self does evolve into God, When released from matter's strings. Self is gripped by foreign matter, When tinged with egotistic trends,					
	And gets relieved from its meshes, When filled with vision of cosmic rhyth					
	To fill the self with cosmic rhythm, It needs a change of inner heart, Such as to Shine coal in jewel, It needs a change in atomic form 5					
	Such as to shine coal in jewel, It needs a change in atomic form					
	With broader outlook of the life, Greater and greater grows the soul,					
	When all 18 compassed by the self, It one and one becomes with God,	6				
	Path of Peace and Picty.					
3	9 *************************************					
	To follow a safe straightened path, Covered by cool shade of groves	7				
	Similar in the walks of life, Moving towards the goal of truth,					
	It behoves a man to firmly stick, To path of peace and good conduct. The path of peace is double good, It comforts here and onwards,	8				
	Through lovely vistas of heavens, Leads to the good of eternal bliss	9				
	While the unruly ways of life, Denying equal rights to all,	40				
	Are ever a menace to this life, And onwards lead to hellish broil.	10				
4	It does not matter for a man, To carry weight to half a mile,	11				
	Who's fit, strong and ever used, To carry weight to many miles					
	So far a path of peace and good, Which leads to goal of eternal bliss,	12				
5	It is not hard to reach a heaven, A half way house on the trip	14				
J	Heaven, place of songful plays, Free from worldly foes and fears,	13				
	Is not the abiding goal of life, But halting place in march of life. Philosophy of Pain and Pleasure.	13				
б	Pleasures, pains of earthly beings, Are mere self's imagery things,					
b	They exist no-where but in mind, Engendered by fantastic whims	14				
	No outer things are good or bad, They so become by likes dislikes,	-				
	A food for one is not for all, It is a well-known fact of life	15				
	So all the mates of worldly play, Which look delightful and so gay,					
	Become how hideous, out of tune, When one is filled with grief and glo	om 16				

Ignorance, the Cause of all Ills.

7.	Being all engrossed in ignorance, Like drunkards under cover of drugs, Worldly beings have lost their sense, Of looking things in true colours.	17
8	It is all due to ignorance, That things all distinct and aloof, Like spouse, children, body, wealth, Are all viewed as parts of self	18
9	If seen with clear crystal vision, Free whims of likes, dislikes,	
	No more related to us they are, Than forest trees are to birds	19
	They flying come from distant lands, Settle on trees for the night,	
	And take to wings for quarters new, When morning comes with feast of	i
	light	20
10.	As digger lowers the spade from high, The digger too is lowered by spad	e,
	Who lowers others by aggression, Is surely lowered by the same.	21
	This Law of action and reaction, Though patent in the realm of life,	
	But strange it is they fly in passion, When paid are in their own coin.	22
11	For false whims of likes, dislikes, Born of the egotistic trends,	
	Self is dipped from eternal time, In deep waters of bitths and deaths	23
	Worldly Life is a Chain of Pains.	
12	The worldly life is set on frame, Ever on move like water wheel,	
	Full of turns of ills and pains, With little test from cares and needs	24
	Wealth is no remedy for worldly ills,	
13	Wealth hard to earn, and retain, Unstable most, and most unsafe,	
	One is never safe and sound with it, As fever patient with use of ghee.	25
14	A rich man like the common folk, Infested though with diverse woes,	
	Yet being filled with self concert, He thinks himself immortal being.	26
	Like fools taking perch on the tree, In the midst of forest fire,	
	He does not look to roaring flames, Engulfing him like other beings	27
15	With passage of the fleeting time, Near and near man draws to end,	
	But how strong is the lust of pelf, He looks to wealth and not to end.	28
16	the state of the s	
	Is like a fool who puts on mud, To wash it off with holy bath	29
17	F	
	They while departing leave behind, Grief and sorrow for the mind	30
18	,	
	One need not for its sustenance, Use vile means to heap up wealth	31
	Made of bones and loathsome flesh, Offensive filth and nasty germs,	
10	It is too hideous and impure, To turn sacred with wealthy hoard	32
7.3	What doth add to vigour of flesh, Doth verily sap the vigour of soul	
	And what doth add to weath of soul, Doth verily end the needs of flesh As wealth increases greeds of flesh, It verily saps the life of self,	33
	Of what use is the gain of wealth, Which makes you lose divine self.	34
	Same self.	24

96	ईप्टोपदेश	[35-50
	Concentrated Thought is the only remedy	
20.	Every thing can be had in life, By force of concentrated thought, Both the precious and the worthless, Philosopher's gem, or piece of st It is to be settled by the wise, Which of the two is worth attempt, The devine self of eternal bliss, Or mortal life of filth and ills.	one. 35 36
	Self is the only Thing Worth Realization	
21.	The self enframed by body though, Is embodiment of the perfect ligh Shining all, beyond and near, Visible, pure, and crystal, clear Excellent bliss, the sublime peace, Free from time, unbound by space, Infinite, nearest, beyond the beyond, Undying, eternal, ever living	37
	The final truth, the perfect whole, The end of ends, the goal of goals, The aim, the light and the way, It is the thing to get realised	39
	Path of Self Realization	
22	To know, realise the boundless soul, Let outward senses be controlled	l.
	Give urges their an inner trend, To seek with in the joyful ends Achieve all this with firm resolve, Of mind kept in a balanced poise, Then drawing your self with in the self, Meditate on self in steady pos	40
23	The senses and their objects are, Made of dull, rash, callous matter, Whoever follows their foot prints, Is sure to fall in painful pits But if the voice of enlightened self, Is heard, grasped and put to work,	42
	One makes a gain of spiritual power, And enjoys the fruits of peace an Whatever is inherent in a seed, Is sure to grow up in the field, So Ignorance gropes in darker zones, And light leads to cherished hom	
	Superiority of a Devotee,	
	A devotee of enlightened self, Conquers all the pains of flesh, He lets not in the vicious trends, And uproots what are seated deep. When subject object are distinct, Separation surely severs their link,	45
	It does not touch devotee's lot, He is both the seeker and the sought. While one who clings to earthly things, And claims the same as his ow He mourns and groans with sorrow's pangs, Deserted when he is left al	46 n, one 47
	The Unreality of Worldly Life,	
ac	Self is self and matter is matter, The twain can never meet in one,	
20.	Their union rests on ego's whims, Baseless, flinsy and unreal When one is free from ego's whims, Free he is from matter too,	48
	So one should make his best efforts, To free himself from ego's rule	49
	The Path of Victory.	
27.	In all hours of day and night, Sitting, walking or sleeping, To conquer the evil of egotism, Think, meditate and ever feel	50

	"Bereft of all the physical ties, I am one, alone, and free,	
	Untinged by passions and emotions, Peace and purity reign in me."	51
	"A seer, a master seer of things, I stand above, aloof from seen,	
	Unbound by egotistic whims, I compass all of them in peace"	52
	"All the things of the outer world, Inherited and acquired by us,	
	Are wholly separate and others, There is no love lost between us."	53
	The Unholy Union,	
28.	Union of self with physical things, Is perennial source of pains and ills,	
	with all thy source of thought, word, deed, Give up thy greed for outer	
	things '	54
	The Divinity of Self.	
29.	To arise above the earthly woes, Should never lose the sight of soul,	
	O I feel and feel the warm delight, In divine dignity of the soul.	55
	I am not the death, nor disease, Neither young, adult, nor old,	
	All these things belong to flesh, Nothing is there to fear and mourn.	56
	I am, I was; shall ever be, This is the basic truth of life,	
	In all the quests of the charmful bliss, am the architect of plights.	57
	"Powerful with my aspirations, Resourceful with imaginations,	
	Blissful with glorious hopes, I tread my way through thick and thin."	58
	Futility of Worldly Quest,	
30	"Enchanted by the charms of dust, Again and again I turned to it,	
	Filled, refilled in all its forms, Put all its poses and its tints "	59
	"Moved up and down in varied ways, In various climes, in various place,	
	Lived in heaven, hellish zones, But none gave the cherished goal."	60
	"Ages have past and eras rolled, Still no rest from outer quests,	
	Now let me turn to inner self, For tried to old things, no use of quest	61
	The Strugle of life	
31.	The great struggle of worldly life, Against pain, wants and ignorance,	
	Is struggle against the physical bonds, Forged by foolish whims of self	62
	Self and matter both are real, But differ in roles of cosmic plan,	
	The one is subject, object other, To east in forms the inner dreams.	63
	The self is whole of space and time, Of charms, of beauty, joy and light,	
	While matter is dark, dull, decaying, Ever on move for new combines	64
	Though highest charming truth is self, But self through his ignorence, Entangled in the outer meshes, Confuses matter with his self	
	Thus there sets a servant's rule, Matter assumes the master's role,	65
	But self being the motive force, it ever asserts the will of soul	66
	As both belong to distinct realms, They ever differ in their trends,	UĢ
	The self is astir for the whole, The matter tends to dingy cells	67
	Life is thus an eternal struggle, To evolve freedom from the bands,	<i>J</i> ,
	Life from death, the light from dail , Purge from vice, peace from wees.	65

	Appeal to Self,	
32	O Self! awake, how long will thou, Serve dictates of alien rule, And feel proud with names and forms, Like a fool who works as tool. Delay not throw the foreign yoke, And busy thyself with own welfare, Rule thyself with thy own self, For self rule is the best for self	69 70
	Master's role in SpiritualCulture,	
33	The eternal bliss reveals on him, Who discerns self from motley heap, To equip thee with discerning sense, Practise to sit at master's feet Master is great beacon light, Showing the various paths of life, But helping only those ship-wrecked, Who themselves feel inclined to a	71 right 72
	Self is his Own Guide,	
34	Self alone has urge for truth, Animated with his lovely visions, And makes quests in diverse fields, Propelled by his own missions	73
35 As ether in the realm of matter, Helps only those prone to move, So all the teachers and scriptures, Only help right-minded souls. They neither bestow any wisdom, On perverse, niggards, and fools,		74
	Nor they extract any knowledge, From the high enlightened souls Self alone is foe and friend, He has all the keys of betterment,	75
	So one should look to one's own self, For all his failures and success	76
	The Essential Requisites of a devotee.	
36,	Who has a calm and content mind, Who loves to live a lonely life, Is eager most for lasting truth, Is devotee best of life divine	77
	Life Features of a Yogi,	
38	The more he reveals the truth of life, The higher he soars from lastful w The higher he soars from lastful world, The more he reveals the truth of Enriched with his spiritual sight, He looks on world as game of tricks,	orld, Iıfe.78 79
	He ever yearns for glorious self, And feels annoyed with earthly things	12
40	He loves to live in lonely place, Away from mart, away from fame, Speaks some times for personal need, Yet soon forgets of what he speaks He is fast fixed within his self, Talking though, he does not talk,	80
71	Looking though, he does not look, Walking though he does not walk	81
42	In ecstasy, self centered he, The world of senses does not heed, Self alone in cosmic rhythm, Shines to him as holy film	82
	Yogi Enjoys a free Life.	
	Where settles one with love and ease, There he yearns to live in peace, And where one gets his heart's content, He makes that place as permane. So devotee is often lost in self, Charmed with inner bliss and glow,	nt 83
111	He share the felse and leves the truth He lives within discards the sho	w 81

He is ever filled with self content, His mind does not roam abroad,

His senses too get drawn within, He is not aware of outer things

85

When no sensations come within, Desires cease to drag abroad, Mind filled with charms divine, He gets free from wordly bonds Self Culture is the best Culture. 45. Ahen, after all an alien, Is ever a source of ills and pains, Self, being after all one's self, Is ever a source of joy and gain. Sages are ever on their gaurd, Not to yield to alien matter, They rather use its energies. To get relief of physical needs. 46. The fools who ever take delight, In claiming matter as their self, Are ever, dragged as prisoners war, Through endless gates of births and deaths. 47. The ascetics with a content mind, Take their boats off noisy coast, And anchoring them in peaceful self, Are filled with an immortal joy. 48. The fruits of actions piled within, In forms of varied trends, instincts, From long, long immemorial times, Drive the self to sins and crimes But ascetics of the serene mind, Are not touched by the instincts piled. 92. They turn them into heap of ashes, By flash of concentrated light. 92. Summum Bonum of Life. 49. The glorious lustie, free from bonds, With perfect beauty, peace and joy, Permeating all, compassing all, Forms the essence of divine soul 93. This is the thing to be seen and asked, This is the thing to be ever yearned. There is nothing greater, more sublime, This the highest truth of life. 44. Brief Story of Truth. 50. Self is self, and matter is matter. The twain can never meet in one, Their visible union is unreal, A work of foolish whims of self Egotism is the greatest devil, Which tobs divinity of the self, Confines its vast glorious heights, Into dark nasty physical cells 70. Curb the sin of egotism, Life should be made to ever grow, From low to high, from dark to light, From self conceit to love of all 71. This is in brief the story of truth, Conveyed to us by sages of yole, So let us take this truth to heart, And make our lives free and vast. 82. Blessings. 51. Living at home, or in woods, Who pays his heed to these sermons, And with the help of knowledge gained, Under all ev	86	-100]	Happy Sermons	८१
 45. Ahen, after all an alien, Is ever a source of ills and pains, Self, being after all one's self, Is ever a source of joy and gain. Sages are ever on their gaurd, Not to yield to alien matter, They rather use its energies, To get relief of physical needs. Self. The fools who ever take delight, In claiming matter as their self, Are ever, dragged as prisoners war, Through endless gates of births and deaths. Self. The ascetics with a content mind, Take their boats off noisy coast, And anchoring them in peaceful self, Are filled with an immortal joy. Self. The fruits of actions piled within, In forms of varied trends, instincts, From long, long immemorial times, Drive the self to sins and crimes But ascetics of the serene mind, Are not touched by the instincts piled. They turn them into heap of ashes, By flash of concentrated light. Summum Bonum of Life. The glorious lustie, free from bonds, With perfect beauty, peace and joy, Permeating all, compassing all, Forms the essence of divine soul This is the thing to be seen and asked, This is the thing to be ever yearned. There is nothing greater, more sublime, This the highest truth of life. Brief Story of Truth. Self is self, and matter is matter. The twain can never meet in one, Their visible union is unreal, A work of foolish whims of self Egotism is the greatest devil, Which tobs divinity of the self, Confines its vast glorious heights, Into dark nasty physical cells To curb the sin of egotism, Life should be made to ever grow, From low to high, from dark to light, From self conceit to love of all This is in brief the story of truth, Conveyed to us by sages of yore, So let us take this truth to heart, And make our lives free and vast. Blessings. Living at home, or in woods, Who pays his heed to these sermons, And with the help of knowledge gained, Under all events keeps the same. 99 Mindless of honour and disgrace, Follows the path of love and grace, 				86
Self, being after all one's self, Is ever a source of joy and gain. Sages are ever on their gaurd, Not to yield to alien matter, They rather use its energies, To get relief of physical needs. 88 46. The fools who ever take delight, In claiming matter as their self, Are ever, dragged as prisoners war, Through endless gates of births and deaths. 89 47. The ascetics with a content mind, Take their boats off noisy coast, And anchoring them in peaceful self, Are filled with an immortal joy. 90 48. The fruits of actions piled within, In forms of varied trends, instincts, From long, long immemorial times, Drive the self to sins and crimes. 91 But ascetics of the serene mind, Are not touched by the instincts piled. 92 They turn them into heap of ashes, By flash of concentrated light. 92 Summum Bonum of Life. 49 The glorious lustre, free from bonds, With perfect beauty, peace and joy, Permeating all, compassing all, Forms the essence of divine soul. 93 This is the thing to be seen and asked, This is the thing to be ever yearned. There is nothing greater, more sublime, This the highest truth of life. 40 Brief Story of Truth. 50 51 51 Self is self, and matter is matter, The twain can never meet in one, Their visible union is unreal, A work of foolish whims of self. Confines its vast glorious heights, Into dark nasty physical cells. To curb the sin of egotism, Life should be made to ever grow, From low to high, from dark to light, From self conceit to love of all. This is in brief the story of truth, Conveyed to us by sages of yore, So let us take this truth to heart, And make our lives free and vast. 80 Blessings. 51. Living at home, or in woods, Who pays his heed to these sermons, And with the help of knowledge gained, Under all events keeps the same. 90 Mindless of honour and disgrace, Follows the path of love and grace,		Self Cult	ture is the best Culture.	
Sages are ever on their gaurd, Not to yield to alien matter, They rather use its energies, To get relief of physical needs. 88 46. The fools who ever take delight, In claiming matter as their self, Are ever, dragged as prisoners war, Through endless gates of births and deaths. 89 47. The ascetics with a content mind, Take their boats off noisy coast, And anchoring them in peaceful self, Are filled with an immortal joy. 90 48. The fruits of actions piled within, In forms of varied trends, instincts, From long, long immemorial times, Drive the self to sins and crimes But ascetics of the serene mind, Are not touched by the instincts piled. 92 They turn them into heap of ashes, By flash of concentrated light. 92 Summum Bonum of Life. 49 The glorious lustie, free from bonds, With perfect beauty, peace and joy, Permeating all, compassing all, Forms the essence of divine soul 93 This is the thing to be seen and asked, This is the thing to be ever yearned. There is nothing greater, more sublime, This the highest truth of life. 40 88 89 89 89 89 80 80 80 80 8	45,			87
46. The fools who ever take delight, In claiming matter as their self, Are ever, dragged as prisoners war, Through endless gates of births and deaths. 89 47. The ascetics with a content mind, Take their boats off noisy coast, And anchoring them in peaceful self, Are filled with an immortal joy. 90 48. The fruits of actions piled within, In forms of varied trends, instincts, From long, long immemorial times, Drive the self to sins and crimes 91 But ascetics of the serene mind, Are not touched by the instincts piled. 92 They turn them into heap of ashes, By flash of concentrated light. 92 Summum Bonum of Life. 49 The glorious lustie, free from bonds, With perfect beauty, peace and joy, Permeating all, compassing all, Forms the essence of divine soul 93 This is the thing to be seen and asked, This is the thing to be ever yearned. There is nothing greater, more sublime, This the highest truth of life. 40 Brief Story of Truth. 50 Self is self, and matter is matter, The twain can never meet in one, Their visible union is unreal, A work of foolish whims of self Egotism is the greatest devil, Which tobs divinity of the self, Confines its vast glorious heights, Into dark nasty physical cells To curb the sin of egotism, Life should be made to ever grow, From low to high, from dark to light, From self conceit to love of all This is in brief the story of truth, Conveyed to us by sages of yore, So let us take this truth to heart, And make our lives free and vast. 80 Blessings. 51. Living at home, or in woods, Who pays his heed to these sermons, And with the help of knowledge gained, Under all events keeps the same. 90 Mindless of honour and disgrace, Follows the path of love and grace,		Sages are ever on their gaurd,	Not to yield to alien matter,	
deaths. 47. The ascetics with a content mind, Take their boats off noisy coast, And anchoring them in peaceful self, Are filled with an immortal joy. 48. The fruits of actions piled within, In forms of varied trends, instincts, From long, long immemorial times, Drive the self to sins and crimes But ascetics of the serene mind, Are not touched by the instincts piled. 72. They turn them into heap of ashes, By flash of concentrated light. 92. Summum Bonum of Life. 49. The glorious lustice, free from bonds, With perfect beauty, peace and joy, Permeating all, compassing all, Forms the essence of divine soul. 93. This is the thing to be seen and asked, This is the thing to be ever yearned. There is nothing greater, more sublime, This the highest truth of life. 40. Brief Story of Truth. 50. Self is self, and matter is matter. The twain can never meet in one, Their visible union is unreal, A work of foolish whims of self. 95. Egotism is the greatest devil, Which tobs divinity of the self, Confines its vast glorious heights, Into dark nasty physical cells. 70. To curb the sin of egotism, Life should be made to ever grow, From low to high, from dark to light, From self conceit to love of all. 71. This is in brief the story of truth, Conveyed to us by sages of yore, So let us take this truth to heart, And make our lives free and vast. 80. Blessings. 51. Living at home, or in woods, Who pays his heed to these sermons, And with the help of knowledge gained, Under all events keeps the same. 90. Mindless of honour and disgrace, Follows the path of love and grace,	46.	The fools who ever take delig	ht, In claiming matter as their self,	88
And anchoring them in peaceful self, Are filled with an immortal joy. 90 48. The fruits of actions piled within, In forms of varied trends, instincts, From long, long immemorial times, Drive the self to sins and crimes 91 But ascetics of the serene mind, Are not touched by the instincts piled. 92 They turn them into heap of ashes, By flash of concentiated light. 92 Summum Bonum of Life. 49. The glorious lustic, free from bonds, With perfect beauty, peace and joy, Permeating all, compassing all, Forms the essence of divine soul 93 This is the thing to be seen and asked, This is the thing to be ever yearned. There is nothing greater, more sublime, This the highest truth of life. 4 Brief Story of Truth. 50. Self is self, and matter is matter. The twain can never meet in one, Their visible union is unreal, A work of foolish whims of self 95 Egotism is the greatest devil, Which tobs divinity of the self, Confines its vast glorious heights, Into dark nasty physical cells To curb the sin of egotism, Life should be made to ever grow, From low to high, from dark to light, From self conceit to love of all This is in brief the story of truth, Conveyed to us by sages of yore, So let us take this truth to heart, And make our lives free and vast. 98 Blessings. 51. Living at home, or in woods, Who pays his heed to these sermons, And with the help of knowledge gained, Under all events keeps the same. 99 Mindless of honour and disgrace, Follows the path of love and grace,		deaths.		89
48. The fruits of actions piled within, In forms of varied trends, instincts, From long, long immemorial times, Drive the self to sins and crimes 91 But ascetics of the serene mind, Are not touched by the instincts piled. 92 They turn them into heap of ashes, By flash of concentiated light. 92 Summum Bonum of Life. 49 The glorious lustre, free from bonds, With perfect beauty, peace and joy, Permeating all, compassing all, Forms the essence of divine soul 93 This is the thing to be seen and asked, This is the thing to be ever yearned. There is nothing greater, more sublime, This the highest truth of life. 44 Brief Story of Truth. 50 Self is self, and matter is matter. The twain can never meet in one, Their visible union is unreal, A work of foolish whims of self 95 Egotism is the greatest devil, Which tobs divinity of the self, Confines its vast glorious heights, Into dark nasty physical cells 96 To curb the sin of egotism, Life should be made to ever grow, From low to high, from dark to light, From self conceit to love of all 97 This is in brief the story of truth, Conveyed to us by sages of yore, So let us take this truth to heart, And make our lives free and vast. 98 Blessings. 51. Living at home, or in woods, Who pays his heed to these sermons, And with the help of knowledge gained, Under all events keeps the same. 99 Mindless of honour and disgrace, Follows the path of love and grace,	47.	The ascetics with a content m	and, Take their boats off noisy coast,	
But ascetics of the serene mind, Are not touched by the instincts piled. They turn them into heap of ashes, By flash of concentiated light. Summum Bonum of Life. 49 The glotious lustie, free from bonds, With perfect beauty, peace and joy, Permeating all, compassing all, Forms the essence of divine soul This is the thing to be seen and asked, This is the thing to be ever yearned. There is nothing greater, more sublime, This the highest truth of life. Brief Story of Truth. 50 Self is self, and matter is matter. The twain can never meet in one, Their visible union is unreal, A work of foolish whims of self Egotism is the greatest devil, Which tobs divinity of the self, Confines its vast glorious heights, Into dark nasty physical cells To curb the sin of egotism, Life should be made to ever grow, From low to high, from dark to light, From self conceit to love of all This is in brief the story of truth, Conveyed to us by sages of yore, So let us take this truth to heart, And make our lives free and vast. Blessings. 51. Living at home, or in woods, Who pays his heed to these sermons, And with the help of knowledge gained, Under all events keeps the same. 99 Mindless of honour and disgrace, Follows the path of love and grace,	48.	The fruits of actions piled wit	thin, In forms of varied trends, instincts,	90
They turn them into heap of ashes, By flash of concentrated light. Summum Bonum of Life. 49 The glorious lustre, free from bonds, With perfect beauty, peace and joy, Permeating all, compassing all, Forms the essence of divine soul 93 This is the thing to be seen and asked, This is the thing to be ever yearned. There is nothing greater, more sublime, This the highest truth of life. Brief Story of Truth. 50 Self is self, and matter is matter. The twain can never meet in one, Their visible union is unreal, A work of foolish whims of self 95 Egotism is the greatest devil, Which tobs divinity of the self, Confines its vast glorious heights, Into dark nasty physical cells 96 To curb the sin of egotism, Life should be made to ever grow, From low to high, from dark to light, From self conceit to love of all 97 This is in brief the story of truth, Conveyed to us by sages of yore, So let us take this truth to heart, And make our lives free and vast. 98 Blessings. 51. Living at home, or in woods, Who pays his heed to these sermons, And with the help of knowledge gained, Under all events keeps the same. 99 Mindless of honour and disgrace, Follows the path of love and grace,				
Summum Bonum of Life. 49 The glorious lustre, free from bonds, With perfect beauty, peace and joy, Permeating all, compassing all, Forms the essence of divine soul 93 This is the thing to be seen and asked, This is the thing to be ever yearned. There is nothing greater, more sublime, This the highest truth of life. 14 Brief Story of Truth. 50 Self is self, and matter is matter. The twain can never meet in one, Their visible union is unreal, A work of foolish whims of self 95 Egotism is the greatest devil, Which lobs divinity of the self, Confines its vast glorious heights, Into dark nasty physical cells 96 To curb the sin of egotism, Life should be made to ever grow, From low to high, from dark to light, From self conceit to love of all 97 This is in brief the story of truth, Conveyed to us by sages of yore, So let us take this truth to heart, And make our lives free and vast. 98 Blessings. 51. Living at home, or in woods, Who pays his heed to these sermons, And with the help of knowledge gained, Under all events keeps the same. 99 Mindless of honour and disgrace, Follows the path of love and grace,				
49 The glotious lustre, free from bonds, With perfect beauty, peace and joy, Permeating all, compassing all, Forms the essence of divine soul 93 This is the thing to be seen and asked, This is the thing to be ever yearned. There is nothing greater, more sublime, This the highest truth of life. 44 Brief Story of Truth. 50 Self is self, and matter is matter. The twain can never meet in one, Their visible union is unreal, A work of foolish whims of self 95 Egotism is the greatest devil, Which tobs divinity of the self, Confines its vast glorious heights, Into dark nasty physical cells 96 To curb the sin of egotism, Life should be made to ever grow, From low to high, from dark to light, From self conceit to love of all 97 This is in brief the story of truth, Conveyed to us by sages of yore, So let us take this truth to heart, And make our lives free and vast. 98 Blessings. 51. Living at home, or in woods, Who pays his heed to these sermons, And with the help of knowledge gained, Under all events keeps the same. 99 Mindless of honour and disgrace, Follows the path of love and grace,				92
Permeating all, compassing all, Forms the essence of divine soul 93 This is the thing to be seen and asked, This is the thing to be ever yearned. There is nothing greater, more sublime, This the highest truth of life. 4 Brief Story of Truth. 50 Self is self, and matter is matter. The twain can never meet in one, Their visible union is unreal, A work of foolish whims of self 95 Egotism is the greatest devil, Which tobs divinity of the self, Confines its vast glorious heights, Into dark nasty physical cells 96 To curb the sin of egotism, Life should be made to ever grow, From low to high, from dark to light, From self conceit to love of all 97 This is in brief the story of truth, Conveyed to us by sages of yore, So let us take this truth to heart, And make our lives free and vast. 98 Blessings. 51. Living at home, or in woods, Who pays his heed to these sermons, And with the help of knowledge gained, Under all events keeps the same. 99 Mindless of honour and disgrace, Follows the path of love and grace,				
This is the thing to be seen and asked, This is the thing to be ever yearned. There is nothing greater, more sublime, This the highest truth of life. Brief Story of Truth. 50 Self is self, and matter is matter. The twain can never meet in one, Their visible union is unreal, A work of foolish whims of self. Segotism is the greatest devil, Which tobs divinity of the self, Confines its vast glorious heights, Into dark nasty physical cells. To curb the sin of egotism, Life should be made to ever grow, From low to high, from dark to light, From self conceit to love of all. This is in brief the story of truth, Conveyed to us by sages of yore, So let us take this truth to heart, And make our lives free and vast. Blessings. 51. Living at home, or in woods, Who pays his heed to these sermons, And with the help of knowledge gained, Under all events keeps the same. 99 Mindless of honour and disgrace, Follows the path of love and grace,	49			•
There is nothing greater, more sublime, This the highest truth of life. Brief Story of Truth. 50 Self is self, and matter is matter. The twain can never meet in one, Their visible union is unreal, A work of foolish whims of self Egotism is the greatest devil, Which tobs divinity of the self, Confines its vast glorious heights, Into dark nasty physical cells To curb the sin of egotism, Life should be made to ever grow, From low to high, from dark to light, From self conceit to love of all This is in brief the story of truth, Conveyed to us by sages of yore, So let us take this truth to heart, And make our lives free and vast. Blessings. 51. Living at home, or in woods, Who pays his heed to these sermons, And with the help of knowledge gained, Under all events keeps the same. 99 Mindless of honour and disgrace, Follows the path of love and grace,				
50 Self is self, and matter is matter. The twain can never meet in one, Their visible union is unreal, Λ work of foolish whims of self Egotism is the greatest devil, Which iobs divinity of the self, Confines its vast glorious heights, Into dark nasty physical cells 96 To curb the sin of egotism, Life should be made to ever grow, From low to high, from dark to light, From self conceit to love of all This is in brief the story of truth, Conveyed to us by sages of yole, So let us take this truth to heart, And make our lives free and vast. 88 Blessings. 51. Living at home, or in woods, Who pays his heed to these sermons, And with the help of knowledge gained, Under all events keeps the same. 99 Mindless of honour and disgrace, Follows the path of love and grace,		-		
Their visible union is unreal, A work of foolish whims of self Egotism is the greatest devil, Which tobs divinity of the self, Confines its vast glorious heights, Into dark nasty physical cells To curb the sin of egotism, Life should be made to ever grow, From low to high, from dark to light, From self conceit to love of all This is in brief the story of truth, Conveyed to us by sages of yore, So let us take this truth to heart, And make our lives free and vast. Blessings. 51. Living at home, or in woods, Who pays his heed to these sermons, And with the help of knowledge gained, Under all events keeps the same. 99 Mindless of honour and disgrace, Follows the path of love and grace,		Bri	ef Story of Truth.	
Egotism is the greatest devil, Which tobs divinity of the self, Confines its vast glorious heights, Into dark nasty physical cells To curb the sin of egotism, Life should be made to ever grow, From low to high, from dark to light, From self conceit to love of all This is in brief the story of truth, Conveyed to us by sages of yore, So let us take this truth to heart, And make our lives free and vast. Blessings. 51. Living at home, or in woods, Who pays his heed to these sermons, And with the help of knowledge gained, Under all events keeps the same. 99 Mindless of honour and disgrace, Follows the path of love and grace,	50	Self is self, and matter is matt	er, The twarn can never meet in one,	
To curb the sin of egotism, Life should be made to ever grow, From low to high, from dark to light, From self conceit to love of all 97 This is in brief the story of tiuth, Conveyed to us by sages of yore, So let us take this truth to heart, And make our lives free and vast. 98 Blessings. 51. Living at home, or in woods, Who pays his heed to these sermons, And with the help of knowledge gained, Under all events keeps the same. 99 Mindless of honour and disgrace, Follows the path of love and grace,		·		95
This is in brief the story of truth, Conveyed to us by sages of yore, So let us take this truth to heart, And make our lives free and vast. 88 Blessings. 51. Living at home, or in woods, Who pays his heed to these sermons, And with the help of knowledge gained, Under all events keeps the same. 99 Mindless of honour and disgrace, Follows the path of love and grace,				96
So let us take this truth to heart, And make our lives free and vast. Blessings. 51. Living at home, or in woods, Who pays his heed to these sermons, And with the help of knowledge gained, Under all events keeps the same. 99 Mindless of honour and disgrace, Follows the path of love and grace,				97
51. Living at home, or in woods, Who pays his heed to these sermons, And with the help of knowledge gained, Under all events keeps the same. 99 Mindless of honour and disgrace, Follows the path of love and grace,				98
And with the help of knowledge gained, Under all events keeps the same. 99 Mindless of honour and disgrace, Follows the path of love and grace,			Blessings.	
And with the help of knowledge gained, Under all events keeps the same. 99 Mindless of honour and disgrace, Follows the path of love and grace,	51.	Living at home, or in woods,	Who pays his heed to these sermons,	
	-	And with the help of knowled	lge gained, Under all events keeps the same.	99
		-		00

परिशिष्ट नं ० ५

इष्टोपदेशके मूल क्लोकोको वर्णानुक्रमणिका

	अ	का. नं. पृष्टाक	1	प	
अगच्छस्तद्विशेपाणाम्		8880	पर परस्ततो दुखम्		<u> ۲</u> ۷—۷۷
अज्ञानोपास्तिरज्ञानं		२३ २६	परीपहाद्यविज्ञानादा		२४२७
अभवज्वित्तविक्षेप.		३६४१	परोपकृतिमृत्सृज्य		३२३७
अविद्याभिदुरं ज्योति		४९—५०		ब	
अविद्वान् पुद्गलद्रव्यं		४ ६	वध्यते मुच्यते जीवः		₹३१
	आ		युवन्नपि हिन यूते		४१४५
आत्मानुष्टान निष्ठस्य		<i>8088</i>		भ	
आनन्दो निर्दहत्युद्घ		8688	भवन्ति प्राप्य यत्सङ्ग		१८—२१
आ युर्वृद्धिक्षयोत्कर्पहेतु		१५१७	भुक्तोज्झिता मुहुर्मीहान्		30—34
आरम्भे तापकान्त्राताव		१७१९		स	
	इ		मोहेन सवृतं ज्ञानं	,	७—८
इच्छत्येकान्तसंवासं		8088		य	
इतदिवन्तामणिदिव्य		₹2 ₹₹	यज्जीवस्योपकाराय		१९—२१
इण्टोपदेशमिति सम्यगघी	त्य	ષ્શ—ષ્	यत्र भावः शिवं दत्ते		88
	ũ		यथा यथा न रोचन्ते		३८४२
एकोऽहं निर्मम. शुद्धो	•	₹७३२	यथा यथा समायाति		३७४२
	क		यस्य स्वयं स्वभावासि		? ?
कटस्य कत्तीहमिति		२५२९	योग्योपादानयोगेन		77
कर्म कर्महिताबन्धि		३१३६	यो यत्र निवसभास्ते		¥ 3 ¥\$
किमिदं कीदृशं कस्य		४२४६		₹	
-	ग		रागद्वेपद्वयीदीर्घ		११—१२
गुरूपदेशादम्यासात्		₹₹\$6		व	
,	জ		वपुर्गृहं धनं दारा		660
जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य		40-40	वर व्रतै पद दैव		33
91.	ন		वासनामाश्रमेवैतत्		Ę0
त्यागाय श्रेयसे वित्तम्		१६—१७	विपत्तिमात्मनो मूढ		१४ १ ६
	द		विपाद्मवपदावर्ते		१२१४
दिग्देशेम्य लगा एत्य		360	विराधक कयं हन्त्रे	_	१० ११
दु खसंदोहभागित्व		२८३३		स	22 -26
दुरज्येनासुरस्येण	_	१३१५	संयम्य करणग्राम		२२२५ २० - २३
20.	न	2020	स्वसवेदनसुव्यक्त		२१—-२३ ३४—-३८
न में मृत्यु कुतो भीति		₹९३४ ३७३१	स्वस्मिन् सदभिलापि	_	40-40
नाज्ञो विज्ञत्वमायाति		₹4₹		ह	فسسا
निशामयति निश्शेष		₹८—-८३	हृपीकजमनातङ्क		, ,

परिशिष्ट नं. ६

इष्टोपदेशको टोकामें उद्धृत क्लोकों, गाथाओं और दोहोंकी वर्णानुक्रमणिका ।

अ पृष्ठाक	गुरूप्रदेशमासाद्य
अ र्किचनोऽहमित्यास्य-गुणगद्भाचार्यः आत्मानुशासनम्३१	्त्रहण त्यागरी जून्य जी-दोहाव० सीतल प्र० ४९
अपराधीजन क्यो करे–दोहा–न्न- सीतलप्रसद १२	, জ
अपि संकल्पिताः कामा — १९	जब तक एक विषद टले-दोहा प्र० सीतल प्र० १५
सर् यस्योपार्जने दु सम्— १५	
थज्ञभक्ति अज्ञानको-दोहा-व्र. सोतलप्रसाद २७	जस जस आतम तत्त्वमे-दोहाप्र० सीतल प्र० ४२
आ आग्रह छोड स्वग्राममे–दोहा–द्व० सीतलप्रसाद ५२	जस जस विषय सुलम्य भी—दोहा ,, ४३
	जायदि जीवस्सेवंकुन्दकुन्दानार्यं पंचास्तिकाये- १३
	जीवकृतं परिणामं-अमृतचन्द्राचार्य पुरुपार्थ-
आत्मदेह्।न्तरज्ञान-पूज्यपादस्वामि-समाधिशतकम् २८ आत्मभात्र यदि मोक्षप्रद- दोहा—य सीतकप्रसाद ५	सिद्धचुपाय ३६
आत्मज्ञानात्परं कार्यं-पूज्यपादस्वामि समाभिगतकम् ४	जीव जुदा पुद्गल जुदा-दोहा-य० सीतलप्रसाद ५१
आपिंह निज हित चाहता-दोहा—प्र०सीतलप्रसाद ३९	जा खलु संसारत्या-कुन्दकुन्दाचाय पचास्तिकाय-१३
A.	जो जामे वसता रहे-दोहाव॰ सीतलप्रसाद ४७
सायु सम्प धनवृद्धिकान्दाहा— ,, ,, १७ ष्ट	झाणस्स ण दुल्लहं किपीति २२
इत चिन्तामणि है महत्-दोहा	त
इदं फलमिय क्रिया करण—गुभचन्द्राचार्य	तथा हाचरमाङ्गस्य-नागसेनाचार्य -तत्त्वानुशासनम् २७
ज्ञानार्णव आशाधर सागारधर्मामृते १९	तदाच परमैकाम्या-नागसेनाचार्य -तत्त्वानुशासनम् ४६
इन्द्रजाल सम देख जग,-दोहाय॰ सीतल प्र० ४४	तदात्वे सुखसंज्ञेपु— १९
इन्द्रियजन्य निरोगमय, दोहा ,, ,, ६	तदेवानुभवंश्चाय-नागसेनाचार्यः-तत्त्वानुशासनम् ३८
इप्टरूप उपदेशको-दोहा ,, ,, ५२	द
उ उपराम इव मूर्त -आशाधर: ५२	दहनस्तृणकाष्ठसंचयैरिष १९
उपशम इव मूर्त -आशाधरः ५२	दिशा देशसे आयकर-दोहात्र० सीतलप्रसाद ११
91	देखत भी नहि देखते-दोहा ,, ४६
कटका में कर्तार हूँ-दोहा	9
कठिन प्राप्त संरक्ष्य थे-दोहा	व्यायत यन तक्ष्यान-नागतना भागनत रमानुसात्तनम् १५
	विवायाताहतासद्धर्यण्या १९७ व्यागसमाचाय
कर्म कर्महितकार ई-दोहाव सीतलप्रसाद ३६ किमपीदं विषयमयं-आञ्चाधर अनगारधर्मामृते- १९	। तत्वावशास्त्रम् ।
क्या कैसा किसका किसमे-दोहान्न० सीतल ४० ४६	न
वया कसा किसका किसन-सहा	न कर्म बहुलं जगन्नचलनात्मक-अमृतचन्द्राचार्यः
गदिमधिगदस्सदेहो-कुन्दकुन्दाचार्यः पचास्तिकाये १३	नाटकसमयसारकल्या ३१
गहियं तं सु अणाणा—अनगारधर्मामृते २५	
गुरूपदेश मासाद्य । १९६ ।—नागसेनाचार्यः	निवृत्ति भाववेद्याव-गुणभद्रान्वार्य आत्मानुशासनम् - ३१
तत्त्वानुशासनम् ५	
गरु उपदेश-दोहाव्र० सीतल प्रसाद ३८	निजानंद नित-दोहात्र० सीतलप्रसाद ५०

		1
Ф		यस्य पुण्यं च पापं चगुणभद्राचार्यं आत्मानुशासन २०
	₹₹	यत्र राग पद धत्ते-।२५। ज्ञुभचन्द्राचार्य -ज्ञानाणंवे १०
	४८	यदात्रिक फल किचित्-नागसेनाचार्यः तत्त्वानुशासन २२
परमात्मानमानम्य-आगाधर	8	₹
परिणममानस्य चित -अमृतचन्द्राचार्य		रम्यं हर्म्यं चन्दनं ७
	३६	रागी वध्नाति कर्माण-गुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णवे३१
परिपहादि अनुभव विना-दोहाव ः मोतल प्र०	२९	च
- 11	३७	वज्रे पतत्यपि भयद्भुत विश्वलोके, पद्यनिन्द,
7,	₹₹	पद्मनदिषंचविश्वतिका ४०
प्रच्याच्य विषयेभ्योऽह-पूच्यपादस्थामि		बस्तु विश्रेप विकल्पको दोहा—य सीतलप्रसाद ४८
—समाधिशतकम्—	२५	विनयेन्द्रमुनिर्वामधा-आज्ञावर — ५२
पुद्गलको निज जानकर-दोहा	४९	विरम किमपरेणा-अमृतचन्द्राचार्य -नाटकसमयसार-
पुण्य हेतु दानादिको-दोहा ,,	28	कलगा'— ४३
पुत्र मित्र घर तन तिया-दोहा ,,	o	विपयी मुख दु स मानते-दो॰न्न॰ सीतलप्रसाद ८
पूज्य अविद्या दूर यह-दोहा ,, ५	0	वेद्यत्वं वेद्यकत्व च-नागसेनाचार्यः-तत्त्वानुशासनम्-२४
74		য়
भैया जगवासी तू (टिप्पणी)-त्रनारसीदास		शमसुखगीलितमनसा— ४२
	(3	ज्ञुचि पदार्थ भी सगते-दो०व० सीतलप्रसाद २१
भोगार्जन दुःखद महा-दोहा प्र० सीतलप्रसाद २	0	शुद्धै र्धनैविवर्धन्ते-गुणभद्राचार्य -आत्मानुशासनम्-१८
म	1	स
मत्त कायादयो भिन्नास् । १५८ ।-नागसेनाचार्य		सव पुद्गलको मोहसे-दो०व्र० सीतलप्रसाद ३५
तत्त्वानुशासनम् ३	3	सीलेसि सपत्ती-नेमिचन्द्राचार्य -गोम्मटसार
मयत दूब डोरीनितें-दोहाव्र० सीतलप्रमाद १	8	जीवकाण्डम्— २८
मनको कर एकाग्र-दोहा ,, २	٤	स्वर्ण पापाण सु हेतुसे-दो०-त्र॰ सीतलप्रसाद ३
मरण रोग मोमे नही-दोहा ,, ३	8	स्वपरज्ञप्तिकात्वात्-नायसेनाचार्य तत्वानुशासनम्-२५
	8	स्वबुद्धचा तत्तुगृह्णीयात्-पूज्यपादस्वामि
and the second of the second	8	समाधिशतकम्— १३
2.41 El	9	स्वाभाविक हि निष्पत्ती— ३९
मूर्ख न ज्ञानी हो सके-दोहा व० सीतलप्रसाद ४	8	स्वयं कर्म सब नाशकरि, दोहा-त्र॰ सीतलप्रसाद
मै इक निर्मम शुद्ध हूँ—दोहा— ,, ३	. 1	सुख वा यदि दु स—
मोहकर्मके उदयसे-दोहा १०	•	8
मोही वांधत कर्मको-दोहा ,, ३२		•
य	- !	क्षोभ रहित एकान्तमे-दो०द्व० सीतलप्रसाद ४१
यदा मोहात्त्रजायेते-पूज्यपादस्वामी-समाधिशतकम्-५१		ল
यद्ध्यानरीद्रमार्त्तं वा–नागक्षेनाचार्य -तत्त्वानुशासनम्२३		ज्ञानमेव फल ज्ञाने—गुणभद्राचार्यः आत्मानुशासनम्—२६

श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास द्वारा संचालित परमश्रुतप्रभावक-मण्डल (श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला) के

प्रकाशित ग्रन्थोंकी सूची

- (१) गोम्मटसार—जीवकाण्ड—श्रोनेमिकाइसिडान्त्वक्रविकृत मूल गायाये, श्रीब्रह्मचारी प० लूबचन्द्रजी सिडान्तशास्त्रीकृत नयी हिन्दीटीका युक्त । अवकी वार पेडितजीने घवल, जयधवल, महाथवल और बड़ी सस्कृतटीकाके आधारसे विस्तृतटीका लिखी हैं । चतुर्थावृत्ति । मूल्य-नौ क्यये ।
- (२) स्वाभिकार्त्तिकेयानुप्रक्षा—स्वाभिकार्त्तिकेयकृत मूळ गायाये, श्रीशुभचन्द्रकृत बडी संस्कृत-टीका, स्याद्वाद सहाविचालय वाराणसीके प्रधानाध्यापक, पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीकृत हिन्दीटीका । अंग्रेजी प्रस्तावनायुक्त । सन्यादक—डा० आ० ने० खपाध्ये, कोल्हापुर । मृत्य-चौदह रुपये ।
- (३) परसात्मप्रकाश और योगसार—श्रीयोगीन्दुदेवकृत मूल अपश्रंग-न्दोहे, श्रोब्रह्मदेवकृत संस्कृत-टीका व प॰ दौलतरामजीकृत हिन्दी-टीका । विस्तृत अंग्रेजी प्रस्तावना और उसके हिन्दीसार सहित । महाम अध्यातम-प्रन्य । डा० आ० ने० उपाध्येका लमूल्य सम्पादन । नत्रीन संस्करण । सूल्य-वारह रुपये ।
- (४) ज्ञानार्णव—श्रोब्रभवन्द्राचार्यकृत महान योगजास्त्र । सुजानगढिनवासी ५० पन्नालास्त्रज्ञी बाकस्त्रोबासकृत हिस्दी अनुवाद सिंहन । चतुर्थ सुन्दर आवृत्ति । मृत्य—वारह स्तये ।
- (५) प्रवचनसार —श्वीमत्कृत्वकृन्दाचार्यविद्यचित ग्रन्थरत्नपर श्रीमदमृतचन्द्राचार्यकृत तत्त्वप्रदीविका एवं श्रीमज्ञयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति नामक संस्कृत टीकाये तथा पाडे हेमराजजी रचित वालावबोधिनी भाषाटीका । डा० आ० ने० उपाध्येकृत अध्ययनपूर्ण अंग्रेजी अनुवाद और विशव प्रस्तावना आदि सहित आकर्षक सम्पादन । तृतीयावृत्ति ।

 गूर्य-पन्द्रह रुपये ।
- (६) बृहद्दृद्रध्यसंग्रह आचार्यं नेमिचन्द्रसिद्धातिदेविवरचित सूल गाया, श्रीब्रह्मदेविविमित संस्कृतवृति और प० जवाहरलालगास्त्रित्रणीत हिन्दी-आपानुवाद सहित । पड्दब्यसप्ततत्त्वस्वरूपवर्णनास्मक उत्तम ग्रन्थ । तृतीथावृत्ति । मृत्य-पाच रुपये पचाम पैसे ।
- (७) पुरुषार्थसिद्धः युपाय-श्रीअमृतचन्द्रसूरिकृत मूल क्लोक। पं० टोडरमल्लजी तथा पं० दौलतरामजीको टोकाके आवारपर स्व० पं० नाथूरामजी प्रेमी द्वारा लिखित नवीन हिन्दीटीका सहित। श्रावक-मृतिधर्मका चित्तस्पत्तीं अद्भृत वर्णन। पचमावृत्ति। सूल्य-तीन रुपये पच्चीस पैसे।
- (८) अध्यातम राजचन्द्र—धीमद् राजचन्द्रके अद्भृत जीवन तथा साहित्यका जीध एव अनुभव-पूर्ण विवेचन डॉ॰ भगवानतास मनसुखमाई महेनाने गुर्जरभापामें किया है। मूल्य—सात रुपये
- (९) पंचास्तिकाय—श्रोमद्भगवस्कुन्दकुन्दाचार्यविरचित अनुपम ग्रन्थराज । आ० अमृतचन्द्रसूरिकृत 'तमयव्यास्था' एवं आचार्य अयसेनकृत 'तात्यर्यवृत्ति'—नामक संस्कृत टीकाओसे अलकृत और पाडे
 हेमराजजी-रचित बालाववोधिनी भाषा-टीकाके आधारपर पं० पन्नालालकी वाकलीवालकृत प्रचलित हिन्दीअनुवादसहित । तृतोयावृत्ति ।

 मृत्य-सात रुपये।
- (१०) अष्टश्राभृत—श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य विरचित मूल गायाओपर श्रीरावजीभाई देसाई द्वारा गुजराती गद्य-पद्यात्मक भाषान्तर । मोक्षमार्गकी अनुषम भेट । मूल्य-दो रुपये मात्र ।
- (११) भावनाद्योध—मोक्षमाला—श्रीमद्राजचन्द्रकृत । वैराग्यभावना सहित जैनवर्यका यथार्थ-स्वरूप दिखाने वाले १०८ सुन्दर पाठ है । पू०-एक रुपया पचास पैसे ।

- (१२) स्याद्वाद मंजरी--शीमल्लिपेणमूरिकृत मूल और श्रीजगदीशचन्द्रजी आस्त्री एम० ए०, पी-एच० डी० कृत हिन्दो अनुवाद सहित । न्यायका अपूर्व ग्रन्थ है। वडी खोजसे लिखे गये १३ परिनिष्ट है। मृत्य-दस रुपये ।
- (१३) गोम्मटसार-कर्मकाण्ड-श्रीतिमच दिसदान्तचक्रवितृत्त मूळ गाथाये, स्व० प० मनोहरलालको शास्त्रीकृत सस्कृतछाया और हिन्दोटीका । जैनसिद्धान्त-प्रन्य है । तृतीयावृत्ति मृत्य-सात रुवये ।
- (१४) इष्टोपदेश श्रीपूज्यपाद-देवनिदक्षाचार्यकृत मूल स्लोक, पडितप्रवर आशायरकृत संस्कृत-टोका, प॰ धन्यक्रमारजी जैनदर्शनाचार्य एम॰ ए॰ कृत हिन्दोटीका, स्व॰ वैरिस्टर चम्पतरायजी कृत अग्रेजी-टीका तथा विभिन्न विहानी हारा रचित हिन्दी, मराठी, गुजराती एव अग्रेजी पद्मानुवादी सहित भाववाही आध्यात्मिक रचना । दितीय नयी आवृत्ति । मृत्य-दो रुपया पत्रास पैसे
- (१५) समयसार--आचार्य श्रीकुन्दकुन्दस्वामी-विरचित महान अव्यादमग्रन्थ, तीन टीकाओ महित । नवी आवृत्ति (प्रेसमे)
- (१६) लब्धिसार (क्षपणासारगभित)-श्रीमन्नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती-रचित करणानुयोग ग्रथ । पं॰ प्रवर टोडरमलजी कृत वडी टीका सहित पुन छप रहा है।
 - (१७) द्रव्यान्योगतर्कणा-श्रीभोजसागरकृत, अप्राप्य है । पुन सुन्दर सम्पादन सहित छपेगा ।
- (१८) न्यायावतार-महान् तार्किक थी सिद्धसेनदिवाकरकृत मूल क्लोक, व श्रीसिद्धपिगणिकी संस्कृतटीकाका हिन्दी-भाषानुवाद जैनदर्शनाचार्य पं० विजयमूर्ति एम० ए० ने किया है। त्यायका सुप्रसिद्ध मृत्य-पाच रुपये।
- (१९) प्रशासरतिप्रकरण-आचार्य श्रीमदुमास्वातिविरचित मूल बलीक, श्रीहरिभद्रसूरिकृत सस्कृतदीका और प० राजकुमारजी साहित्याचार्य द्वारा सम्पादित सरल अर्थ सहित । वैराग्यका वहत सुन्दर मूल्य-छह् रूपय । प्रन्थ है।
- (२०) सभाव्यतस्वार्थाधिगममूत्र (मोक्षज्ञास्त्र)—श्रीमत् उमास्वातिकृत मूल मूत्र और स्वोपज्ञभाष्य तथा प॰ खूबचन्दजी सिद्धान्तशास्त्रीकृत विस्तृत भाषाटीका । तत्त्वोका हृदयप्राह्य गम्भीर मृत्य-छह् रुपये। विरुलेपण ।
- (२१) सप्तभंगीतरंगिणी-श्रीविमलदासकृत मूल और स्व॰ पहित ठाकुरप्रसादजी शर्मा व्या-करणाचार्यकृत मापाटीका । नव्यन्यायका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ । अप्राप्य । (पुनः नवीन छपेगा)
 - म्०-पचहत्तर पैसे। (२२) इष्टोपदेश—मात्र अग्रेजी टीका व पद्यानुवाद । म्०-दो रुपये।
 - (२३) परमात्मप्रकाश-मात्र अग्रेजी प्रस्तावना व मूल गायाये । म्०-पवहत्तर वैसे।
 - (२४) योगसार-मूल गाथाये और हिन्दीसार।
 - (२५) कार्तिकेयानुप्रेक्षा-मात्रमूल, पाठान्तर और अंग्रेजी प्रस्तावना । मू०-दो रुपये पचास पैसे ।
 - (२६) प्रवचनसार--अंग्रेजी प्रस्तावना, शाकृत मूल, अंग्रेजी अनुवाद तथा पाठान्तर सहित । मूल्य-पांच रूपये।
 - (२७) उपदेशछाया आत्मसिद्धि—श्रीमद् राजवन्द्रप्रणीत । अप्राप्य ।
- (२८) श्रीमद्राज्यन्द्र--श्रीमद्के पत्रो व रचनाओं का अपूर्व संग्रह । तत्त्वज्ञानपूर्ण महान् ग्रन्थ हैं। म० गाँधीजोकी महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना । (नवीन परिवर्षित संस्करण पुन छप रहा है)
 - क्षधिक मूल्यके ग्रन्थ मगाने वालोको कमीशन दिया जायेगा । इसके लिए वे हमसे पत्रथ्यवहार करे ।

श्रीमद् राजचन्द्र आश्रमकी बोरसे

पकाशित गुजराती ग्रन्थ

(१) श्रोमद् राज्यन्द्र (२) बच्चारम राज्यन्द्र (३) श्रोसमयसार (सिक्टर) (४) समाधि सोपान (रत्तकरण्ड श्रावकाचारके विशिष्ट स्थलोका अनुवाव) (५) मावनावीय-मोलमाला (६) पर-मारमंत्रकात (७) तरवत्तान तरिविणी (८) धर्ममृत (९) स्वाध्याय युवा (१०) सहजमुलसाय रि१) तरवत्तान तरिविणी (८) धर्ममृत (९) स्वाध्याय युवा (१०) सहजमुलसाय र्यंग्र (१५) तिस्वकात (१२) स्वाध्याय र्यंग्र (१५) नित्यक्तमारि पाठ (१६) पूजा स्वय (१७) आठबूष्टिनी सण्डाय (१८) आठोवनादिषद संग्रह (१९) पत्रवतक (२०) जैत्यवदन चीवीवी (२१) तिस्वक्रम (२२) धीमद् राज्यन्त्र सन्य-त्राताव्योमहोस्तव-स्मरणाजि (२२) श्रीयन् लजुराज स्वामी (प्रभूयो) उपवेवामृत (२४) आरमिरिड (२५) तिस्वक्रिया (२८) सुवर्गमहोस्तव-आश्रम परिचय (२९) समाधिवायना (२०) ज्ञानमवरी २१) श्रीलक्ष्यंचावत् तथा हृदय प्रदीप।

आश्रमके युवराती-प्रकाशनोका पृषक सूचीपत्र मेंगाइसे । सभी प्रन्थोपर डाकखर्च अलग रहेगा । रेतस्थान .

> (१) श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, स्टेशन-अगास पो॰ बोरियाः वाया-गाणंद (गुनरात) (२) परमश्रुतप्रभावक-मण्डल (श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला) चौकती केक्टर, बाराकुँवा, बोहरी वाबार, वस्वई-२







'स्वर्गमें निवास करनेवाले प्राणियोंका (देवोंको) सुख स्वर्गवासी देवोंके समान ही हुआ करता है।' इस प्रकारसे कहने या वर्णन करनेका प्रयोजन यही है कि वह सुख अनन्योपम है। अर्थात् उसकी उपमा किसी दसरेको नहीं दी जा सकती है। लोकमें भी जब किसी चीजकी अति हो जाती है, तो उसके घोतन करनेके लिए ऐसा ही कथन किया जाता है, जैसे "मैया! राम रावणका युद्ध तो राम रावणके युद्ध समान ही था। रामरावणयोर्धुद्धं रामरावणयोरिव।"

अर्थात्, इस पंक्तिमें युद्ध सम्बन्धी भयंकरताकी पराकाष्टाको जैसा द्योतित किया गया है। ऐप्ता ही सुखके विषयमें समझना चाहिये॥ ५॥

दोहा—इन्द्रियजन्य निरोगमय, दीर्धकाल तक भोग्य। स्वर्गवासि देवानिको, सुख उनहीं के योग्य॥ ५॥

द्यांका—इस समाधानको सुन शिय्यको पुनः शंका हुई और वह कहने लगा—" मगवन ! न केवल मोक्षमें, किन्तु यदि स्वर्गमें भी, मनुष्यादिकोंसे बढ़कर उत्कृष्ट सुख पाया जाता है, तो फिर "सुक्षे मोक्षकी प्राप्ति हो जावे" इस प्रकारकी प्रार्थना करनेसे क्या लाम ?"

संसार सम्बन्धी सुखमें ही सुखका आग्रह करनेवाले शिष्यको 'संसार सम्बन्धी सुख और दुःख प्रान्त हैं।' यह बात बतलानेके लिये आचार्य आगे लिखा हुआ ब्रलोक कहते हैं—

वासनामात्रमेवैतत् सुखं दुःखं च देहिनाम्। तथा हयुद्देजयन्त्येते, भोगा रोगा इवापदि॥ ६॥

अन्यय—देहिनां सुखं दुःखं च वासनामात्रम् एव । तथाहि, एते भोगा आपिह रो इव उद्देजयन्ति ।

दीकाः - एरुत् प्रतीयमानमैन्द्रियकं द्वालं दुःखं चास्ति । कीदृशं बासनामान्नमेव बीवस्योपकारकस्वायकारकस्त्र मावेन परमार्थतो देवादाखुपेक्षंणीय तस्वानववोधादिदं ममेष्टप्रपकारकस्वादिदं चानिष्टमपकारकस्वादिति विभ्रमाजा संस्कारो वासना इष्टानिष्टार्थानुमवानन्तरसुद्भूतः स्वसंवेद्य आसिमानिकः परिणामः । वासनेव व स्वामाविकमारमस्वरूप-मित्सन्ययोगध्यवच्छेदार्थो मात्र इति स्वयोगव्यवस्थापक्ष्वैवद्यव्यः । वेषामेतदेवंभूतमस्तीत्याद् । देहिनां देह एवासन्तेत्व राष्ट्रमाणोस्तीति देहिनो वहिरातमानस्तेपाम् । एतदेव समर्थयितुमाह—त्यादीत्वास्यादि । उक्तार्थवस्यवादीति शब्दः । उद्वेजनयन्ति उद्देगं कुर्वन्ति, न सुखयन्ति ते, एते सुखजनकस्तेन लोके प्रतीवा मोगा रमणीयरमणीप्रमुखा इत्वियार्थाः । के इत्, रोगा इव वनगदिन्याययो यथा । कर्या सत्याम् १ आपदि दुर्निवारवेरिप्रमृतिसपादितदीर्मनस्य-लक्षणायां विपदि । तथा चोक्तम्—" मुजाङ्गं ग्वयस्यखं श्विष कृतोप्यक्षांख्य विद्मास्यदो, दूरे पेहि न दृष्य एव किमम्सूर्या न वेति अणम् । स्थयं चेद्वि निर्मुद्ध गामिति त्रवोद्योगे द्विषः क्षी श्विपन्त्यादेवसमुवागरागललिता-लापेविधित्त् रितम् ॥ " अपि च " रग्यं दृष्यं चत्वनं चन्द्रपदा, वेणुवीणा वीवनस्या युवत्यः । नैते रम्या क्षुत्विपादा-हिंतानां सर्वीरम्मात्वर्द्वलाश्वम् ॥ "

तथा । आतपे घृतिमता एइ वष्या यामिनीविरहिणा विद्येत । सेहिरे न किरणा हिमसमेर्दुःखिते मनित सर्वमसस्यादि । अतो शायते ऐन्द्रियकं सुखं वासनामात्रभव, नातमनः स्वाभाविकमाकुलस्वस्वभावम् । क्यमन्यथा छोके सुखननकावेन प्रतीतानामि भावाना दुःखदेतुत्वम् । एवं दुःखमि । अशह एनः शिष्यः—एते सुखदुःखे खड्यन्यासाने, कथं न स्वयेते इति । खिनिति वाक्यालंकारे निश्चये वा । कथं केन प्रकारेण न स्थ्येते न संवेदीते, छोकरिति शेषः । शेषं स्पष्टम् ॥ ६ ॥

अत्राचार्यः प्रबोधयति--

अर्थ—देहपारियोंको जो सुख और दुःख होता हैं, वह केवल कल्पना (वासना या संस्कार) जन्य ही है। देखो ! जिन्हें लोकमें सुख पैदा करनेवाला समझा जाता है, ऐसे कमनी कामिनी आदिक मोग भी आपत्ति (दुर्निचार, शत्रु आहिके द्वारा की गई वेचेनी) के समयमें रोगों (ज्वरादिक व्याधियों) की तरह प्राणियोंको आकुलता पैदा करनेवाले होते हैं। यही वात सांसारिक प्राणियोंके सुख-दुःखके सम्बन्धमें है।

विश्वदार्थ — ये प्रतीत (माल्म) होनेवाले जितने इंद्रियजन्य सुख व दुःख हैं, वे सव वासनामात्र ही हैं। देहादिक पदार्थ न जीवके उपकारक ही हैं और न अपकारक ही। अतः परमार्थसे वे (पदार्थ) उपेक्षणीय ही हैं। किंतु तरवज्ञान न होनेके कारण— 'यह मेरे लिये इष्ट है — उपकारक होनेसे।' ऐसे विश्रमसे उत्पन्न हुए संस्कार जिन्हें वासना भी कहते हैं — इस जीवके हुआ करते हैं। अतः ये सुख दुःख विश्रमसे उत्पन्न हुए संस्कारमात्र ही हैं, स्वाभाविक नहीं। ये सुख दुःख उन्हीको होते हैं जो देहको ही आत्मा माने रहते हैं। ऐसा ही कथन अन्यत्र भी पाया जाता है — " मुंचांगं"

अर्थ—इस श्लोकमें दम्पतियुगठक वार्तालापका उल्लेख कर यह वतलाया गया है कि 'वे विषय जो पहिले अच्छे मालूम होते थे, वे ही मनके दुःखी होनेपर चुरे मालूम होते हैं।' घटना इस प्रकार है—पित-पत्नी दोनों परस्परमें सुख मान, लेटे हुए थे कि पित किसी कारणसे चिंतित हो गया। पत्नी पितसे आर्टिंगन करनेकी इच्छासे अंगोंको चलाने और रागयुक्त वचनालाप करने लगी। किन्तु पित जो कि चिंतित या, कहने लगा "मेरे अंगोंको छोड़, व मुझे संताप पैदा करनेवाली है। हट जा। तेरी इन कियाओंसे मेरी छातीमें पीड़ा होती है। हर हो जा। मुझे तेरी चेष्टाओंसे विरुकुल ही आनन्द या हर्ष नहीं हो रहा है।" "रम्यं हर्म्य"

रमणीक महल, चन्दन, चन्द्रमाकी किरणें (चाँदनी), वेणु, वीणा तथा यौवनवती युवितयाँ (क्षियाँ) आदि योग्य पदार्थ भूख-प्याससे सताये हुए व्यक्तियोंको अच्छे नही लगते । ठीक भी है, अरे ! सारे ठाटवाट सेरभर चाँवलोंके रहनेपर ही हो सकते हैं । अर्थात पेटभर खानेके लिए यदि अन्न मौजूद है, तव तो सभी कुछ अच्छा ही अच्छा लगता है । अन्यया (यदि भरपेट खानेको न हुआ तो) सुन्दर एवं मनोहर गिने जानेवाले पदार्थ भी बुरे लगते हैं । इसी तरह और भी कहा है:—

"एक पक्षी (चिरवा) जो कि अपनी प्यारी चिरैयाके साथ रह रहा था, उसे धूपमें रहते हुए भी संतोष और सुख मालूम देता था। रातके समय जब वह अपनी चिरैयासे विछुड़ गया, तव शीतल किरणवाले चन्द्रमाकी किरणोंको भी सहन (बरदाश्त) न कर सका। उसे चिरैयाके वियोगमें चन्द्रमाकी ठंडी किरणें सन्ताप व दुःख देनेवाली ही प्रतीत होने लगीं। ठीक ही है, मनके दुःखी होनेपर सभी कुछ असहा हो जाता है, कुछ भी मला या अच्छा नहीं मालूम होता।"

इन सबसे मालूम पड़ता है कि इन्द्रियोंसे पैदा होनेवाळा सुख वासनामात्र ही है। आलाका स्वाभाविक एवं अनाकुळतारूप सुख वासनामात्र नहीं है, वह तो वास्तविक है। यदि इन्द्रियजन्य सुख वासनामात्र-विग्रमजन्य न होता तो संसारमें जो पदार्थ सुखके पैदा करनेवाळे माने गये हैं वे ही दु:खके कारण कैसे हो जाते ? अतः निष्कर्भ निकळा कि देहधारियोंका सुख केवळ, काल्पनिक ही है और इसी प्रकार उनका दु:ख भी काल्पनिक है।। ह।।

दोहा—विषयी सुख दुःख मानते, हैं अक्षान प्रसाद । भोग रोगवत् कप्टमें, तन मन करत विषाद ॥ ६ ॥

रांका—ऐसा सुन शिष्य पुनः कहने लगा कि "यदि ये सुख और दुःख वासनामात्र ही हैं तो वे लोगोंको उसी रूपमें क्यों नहीं मालूम पड़ते हैं ? आचार्य समझते हुए बोले—

> मोहेन संवृतं ज्ञानं, स्वभावं स्वभते न हि । मक्तः पुमान् पदार्थानां यथा मदनकोद्रवैः ॥ ७ ॥

अन्वय—हि मोहेन संवृतं ज्ञानं तथैव स्वभावं न रुभते यथा मदनकोद्रदैः मत्तः पुमान् पदार्थानां स्वभावं न रुभते ।

टीका—न हि नैव लमते परिच्छिनति धात्नामनेकार्थस्वाळमेशीनीप वृत्तिस्तया च लोको विक्त यथास्य चित्तं लक्ष्यमिति । कि तत् कर्तुं, ज्ञानं धर्मवर्भिणोः कर्यचित्तादास्म्यादर्थम्रहण्व्यापारपरिणत आस्मा । कं, स्वभावं स्वोऽ-छ।धारणो अन्योऽन्यव्यतिकरे सस्यिष व्यवस्यन्तरेम्यो विवक्षितार्थस्य व्यावत्त्रप्रस्यवेद्यमीनो धर्मः स्वभावस्तम् । केशम्, पदार्थानां सुलदुःखनारीरादीनाम् । किनिशिष्टं छत् ज्ञानं, संवृत्तं प्रच्छादितं वस्तुयायास्म्यप्रकाशने अभिमृत्तामर्थम् । केन, मोहेन मोहनीयकर्मणो विपाकेन । तथा चोत्तम्—" मलविद्यमणेव्यक्तिर्यया नैकप्रकारतः । कर्म्मविद्यास्मविश्वति-स्तथा नैकप्रकारतः ॥

नत्वमूर्तस्यात्मनः कयं मूर्तेन कर्मणाभिमनो बुक्त इत्यनाह—मत्त इत्यादि । यथा नैव क्रमते । कोऽसी, पुमान् व्यवहारी पुरुषः । कं, पदार्थानां घटपटादीनां स्वभावम् । किविशिष्टः सन्, मत्तः जनितमदः । केर्मदनकोद्रवैः । पुनराचार्थ एव प्राह्, विराधक इत्यादि । यावत् त्वभावमनास्यवन् विसदद्यात्यवगच्छतीति । शरीशदीनां स्वरूप-मरुभानाः पुरुषः शरीरादीनि अन्ययाभूतानि प्रतिपद्यत हत्यर्थः । अमुमेवार्थं सुप्टयविः;—

अर्थ—मोहसे ब्का हुआ ज्ञान, वास्तिकि स्वरूपको वैसे ही नहीं जान पाता है, जैसे कि मद पैदा करनेवाले कोद्रव (कोदों) के खानेसे नशैल-चे-खचर हुआ आदमी पदार्थोंको ठीक-ठीक रूपसे नहीं जान पाता है।

१ विजातीयेभ्योऽन्यपदार्थेम्यः।

विश्वादार्थ — मोहतीयकर्मके उदयसे ढका हुवा ज्ञान वस्तुओं विश्वार्थ (ठीक ठीक) स्वस्त्पका प्रकाशन करनेमें दवी हुई सामर्थ्यवाला ज्ञान, सुख, दुःख, शरीर आदिक पदार्थों के स्वभावको नहीं जान पाता है। परस्परमें मेल रहनेपर भी किसी विविश्वत (खास) पदार्थको अन्य पदार्थों से जुदा जतलानेके लिये कारणीभृत धर्मको (भावको) स्व असाधारण भाव कहते हैं। अर्थात दो अयवा दोसे अधिक अनेक पदार्थों के बीच मिले रहनेपर भी जिस असाधारण भाव (धर्म) के द्वारा किसी खास पदार्थको अन्य पदार्थों जुदा जान सके, उसी धर्मको उस पदार्थका का स्वभाव कहते हैं।

ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है-" मलविद्ध०"

" मल सिहत मणिका प्रकाश (तेज) जैसे एक प्रकारसे न होकर अनेक प्रकारसे होता है, वैसे ही कर्मसम्बद्ध आत्माका प्रतिभास भी एक रूपसे न होकर अनेक रूपसे होता है।"

यहाँपर किसीका प्रश्न है कि-

अमूर्त आत्माका मूर्तिमान् कर्मोंके द्वारा अभिभव (पैदा) कैसे हो सकता है ? उत्तरस्वरूप आचार्य केंहते हैं कि:—

" नरोको पैदा करनेवाले कोद्रव-कोदों धान्यको खाकर जिसे नशा पैदा हो गया है, ऐसा पुरुष घट पट आदि पदार्थोंके स्वभावको नहीं जान सकता, उसी प्रकार कर्मबद्ध आला पदार्थोंके स्वभावको नहीं जान पाता है। अर्थात् आला व उसका ज्ञान गुण यद्यपि अपूर्त है फिर भी मूर्तिमान् कोद्रवादि धान्येंसि मिलकर वह विगड़ जाता है। उसी प्रकार अमूर्त आला मूर्तिमान् कर्मोंके द्वारा अभिमृत हो जाता है और उसके गुण भी दवे जा सकते हैं।।। ७।।

शरीर आदिकोंके स्वरूपको न समझता हुआ आत्मा शरीरादिकोंको किसी दूसरे रूपमें ही मान बैठता है।

दोहा—मोहकर्मके उदयसे, वस्तुस्वभाव न पात !

मदकारी कोदों भखे, उस्टा जगत रुखात ॥ ७॥
इसी अर्थको आगेके श्लोकमें सम्मीत्या विवेचित करते हैं—
वपुर्शृहं धनं दाराः, पुत्रा मित्राणि शत्रवः।
सर्वयान्यस्वभावानि, मृद्धः स्वानि प्रपद्यते॥ ८॥

अन्वय-व्युः गृहं धनं दाराः पुत्राः मित्राणि सत्रवः सर्वया अन्यस्वभावानि किन्तु सूडः तानि स्वानि प्रपद्यते ।

टीका-प्रविद्यति । कोसी, मृदः स्वषरिविवेकज्ञानहीनः पुमान् । कानि, वपुर्वहादीनि वस्तृति । किविशिष्टानि, स्वानि स्वानि स्वानि स्वानि स्वानि स्वानि स्वानि स्वानि स्वानि । एकशेषाश्रयणादेकस्य स्वशन्तस्य लोगः । अयमर्थो, स्वतममोहाविधे

प्रवचत इत्याह । सर्वथान्यस्वभावानि सर्वेण द्रव्यक्षेत्रकाळभावळ्छणेन प्रकारेण स्वस्वभावाद्न्यो भिन्नः स्वभावो येपां तानि । किं किमित्याह । वषुः शरीरं तावदचेवनत्वादिस्वभावं प्रषिद्धभस्ति । एवं ग्रहं धनं दाराः भावाः पुत्राः आत्मजाः भित्राणि सुद्धदः श्रववोऽभिन्नाः । अत्र हितवर्यमुह्स्य दृष्टान्तः । अत्रेतेषु वपुर्याद्यु मध्ये हितानासुपकारकाणां दारादीनां वर्गो गणस्तमुद्दिस्य विषयीकृत्य दृष्टान्त उदाहर्ष्णं प्रदर्शते । अस्माभिरिति शेषः । तद्या,—

अर्थ—यद्यपि सरीर, घर, धन, स्त्री, पुत्र, सित्र, शत्रु आदि सन अन्य खभानको हिये हुए पर-अन्य हैं, परंतु मृह प्राणी सोहनीयकर्मके जाटमें फसकर इन्हें आत्माके समान मानता है।

विदादार्थ—स्व और परके विवेकज्ञानसे रहित पुरुप शरीर आदिक पर पदार्थों को आत्मा व आत्माके स्वस्प ही समझता रहता है। अर्थात इंद्रतम मोहसे वश प्राणी देहादिकको (जो कि इन्य, क्षेत्र, काल, भाव लक्षणस्प हरेक प्रकारसे आत्म स्वभावसे भिन्न स्वभाववाले हैं) ही आत्मा मानता है और इंद्रतर मोहवाला प्राणी, उन्हीं व वैसे ही शरीरादिकको आत्मा नहीं, अपि तु आत्माके समान मानता रहता है।। ८।।

दोहा—पुत्र मित्र घर तन तिया, धन रिपु आदि पदार्थ । विट्कुळ निजसे भित्र हैं, मानत मृद निजार्थ ॥ ८ ॥

उत्थानिका—शरीर आदिक पदार्थ जो कि मोहवान प्राणीके द्वारा उपकारक एवं हिन् समझे जाते हैं, वे सब कैसे हैं, इसको आगे छोकमें उछिखित दष्टांत द्वारा दिखाते हैं:—

> दिग्देशेभ्यः खगा एत्य, संवसन्ति नगे नगे। स्वस्वकार्यवशाद्यान्ति, देशे दिख्य प्रगे प्रगे॥ ९॥ -

टीका — संवर्गनि भिलिता रात्रि यावित्रवासं कुर्वन्ति । के ते, त्वताः पिछणः । क क, नगे नगे वृक्षे वृक्षे । कि कृत्वा, एए ब्यागत्य । केन्यो, दिग्देशेश्यः दिशः पूर्वादयो दश देशस्तत्येश्वदेशे अञ्चवद्वादयस्त्रन्योऽविधकृतेन्यः । तथा यान्ति नन्छित् । के ते, त्वताः । पान्ति, दिशु दिग्देशेष्विनि प्राप्तिविवर्षयेवविद्वेशो सम्तनिवयमिवद्वयर्थतिन यो दस्यागेव दिश्चि गन्छित पश्च यसाहियादायातः स तस्तिकेव देशे गन्छितीति नासित निवमः । कि तर्षि, यत्र काि वृक्षेत्र । पश्च व्यव्यात् विवादित्य । क्रियात् । क्रियात् । क्रियात् । वृक्षेत्र व्यव्यात् । विवादित्य विवादित्य । विवादित्य विवादित्य । विवा

अर्थ—देखो, भित्त भित्र दिजाओं व देजोंसे उड़ उड़कर आते हुए पक्षिमण इंझॉपर आकर रेनवसेरा करते हैं और सबेरा होनेपर अपने अपने कार्यक बजने हुदा हुदा हिजाओं व देजों में उड़ नाते हैं। चिश्चादार्थ—जैसे पूर्व आदिक दिशाओं एवं अंग, वंग आदि विभिन्न देशोंसे उड़कर, पिक्ष्मिण वृक्षोंपर आ वेठते हैं, रात रहनेतक वहीं वसेरा करते हैं और संवरा होनेपर अनियत दिशा व देशकी ओर उड़ जाते हैं—उनका यह नियम नहीं रहता कि जिस देशसे आये हों उसी ओर जावें। वे तो कहींसे आते हैं और कहींको चले जाते हैं—चैसे ही संसारिजीव भी नरकगत्यादिस्प स्थानोंसे आकर कुलमें अपनी आयुकाल पर्यन्त रहते हुए मिल-जुलकर रहते हैं, और फिर अपने अपने क्योंक अनुसार, आयुके अंतमें देवगत्यादि स्थानोंमें चले जाते हैं। हे मद्र! जब यह वात है तब हितस्पंस समझे हुए, सर्वथा अन्य स्वभाववाले स्त्री आदिकोंमें तेरी आत्मा व आत्मीय चुद्धि केसी ? और पदि ये शरीरादिक पदार्थ तुम्हारे स्वस्प होते तो तुम्हारे तदवस्य रहते हुए, अवस्थान्तरोंको कैसे प्राप्त हो जाते ? यदि ये तुम्हारे स्वस्प नहीं अपि तु तुम्हारे होते तो प्रयोगके विना ही ये जहाँ चोह किसे चले जाते ? अतः भोहनीय पिशाचके आवेशको दूर हटा ठीक ठीक देखनेकी चेष्टा कर ॥ ९ ॥

दोहा—दिशा देशसे वायकर, पक्षी वृक्ष वसन्त । प्रात होत निज कार्यवश, इच्छित देश उड़न्त ॥९॥

उत्थानिका—आचार्य आगेके क्लोकमें शत्रुओंके प्रति होनेवाले भावोंको 'ये हमारे शत्रु हैं ' 'अहितकर्ता हैं ' आदि अज्ञानपूर्ण वतलाते हुए उसे दृशान्तद्वारा समझाते हैं, साय ही ऐसे भावोंको दूर करनेके लिये प्रेरणा भी करते हैं:—

> विराधकः कथं हन्त्रे, जनाय परिकुप्यति । त्र्यंङ्गुरुं पातयन् पद्भ्यां स्वयं दण्डेन पात्यते ॥ १० ॥

अन्वय-विराधकः कथं इन्त्रे जनाय परिकुप्यति, त्र्यङ्गुलं पद्ग्यां पातयन् दण्डेन स्वयं पासते ।

टीका—कथिमत्यक्ची, न श्रद्दे कथं परिकृत्यति समन्तात् कृत्यति । कोऽसी, विगवकः अपकारकर्ता जनः। करमे, सन्त्रे जनाय प्रत्यपकारकाय कोकाय । " सुस्त्रं वा यदि वा दुःखं, येन यश्वकृतं सुनि । अवाप्रीति स तत्तरमादेश मार्थः सुनिश्चतः ॥ "

इत्यभिधानादन्योध्यमेतदिति भावः। अत्र दृष्टान्तमाचष्टे। अङ्गुलमित्यादि। पात्यते भूमी क्षियते। कोऽगी, यः किश्विद्यमीद्वयकारी जनः। केन, दण्डेन इस्तधार्यकाष्टेन। कयं, स्वयं पात्यप्रेरणमन्तरेणैव। किं कुर्वन्, पात्यन् भूमिं प्रति नामयन्। किं तत्, त्र्यस्युणं अङ्गुलित्रयाकारं कचाव्याकर्षणावयवम्। का॰यां, पद्रत्यां पादाभ्यां ततोऽहिते प्रीतिरहिते चाप्रीतिः स्वहितेषिणा प्रक्षांवता न करणीया।

अत्र विनेयः प्रन्छति । हिताहितयो रागहेषी कुर्वन् किं कुस्ते इति दारादिषु रागं शहुषु च हेपं कुर्वाणः पुरुषः किमारमनेहितं कार्यं करोति येन तावत् कार्यतयोपदिश्यते इत्यर्थः । अत्राचार्यः समाधते,—

अर्थ-जिसने पहिले दूसरेको सताया या तकलीफ पहुँचाई है ऐसा पुरुष उस सताये गये और वर्तमानमें अपनेको मारनेवालेके प्रति क्यों गुस्सा करता है ? यह कुछ जँचता नहीं। और ! जो त्र्यङ्गुलको पैरांसे गिरायगा वह दंडेके द्वारा स्वयं गिरा दिया जायगा।

१ अयुक्तं । २ अनिचार्यकार्यकर्ता । ३ पण्डितेन ।

विञ्ञादार्थ—दूसरेका अपकार करनेवाला मनुष्य, बदलेमें अपकार करनेवालेके प्रति क्यों हर तरहसे कुपित होता है ? कुछ समझमें नहीं आता ।

भाई! सुनिश्चित रीति या पद्धित यही है कि संसारमें जो किसीको सुख या दुःख पहुँचाता है, वह उसके द्वारा सुख और दुःखको प्राप्त किया करता है। जब तुमने किसी इसरेको दुःख पहुँचाया है तो वदलेमं तुम्हें भी उसके द्वारा दुःख मिलना ही चाहिये। इसमें ग्रुस्सा करनेकी क्या बात है? अर्थात गुस्सा करने अन्या बात है? अर्थात गुस्सा करना अन्याय है, अयुक्त है। इसमें दृष्टांत देते हैं कि जो विना विचार काम करनेवाला पुरुष है वह तीन अंगुलीके आकार वाले कूड़ा कचरा आदिके समेटनेके काममें आनेवाले 'अंगुल' नामक यंत्रको पैरोंसे जमीनपर गिराता है तो वह विना किसी अन्यकी प्रेरणाके स्वयं ही द्वायमें पकड़े हुए इंडेसे गिरा दिया जाता है। इसल्ये अहित करनेवाले व्यक्तिक प्रति, अपना हित चाहनेवाले वृद्धिमानोंको, अप्रीति, अप्रेम या द्वेष नहीं करना चाहिये ॥ १०॥

दोहा—अपराधी जन क्यों करे, इन्ता जनपर क्रोध। दो पग अंगुल महि नमे, आपहि गिरत अवोध ॥ १०॥

यहाँपर शिष्य प्रश्न करता है कि श्ली आदिकोंमें राग और शत्रुओंमें द्वेष करनेवाला पुरुष, अपना क्या अहित—विगाड़ करता है? जिससे उनको (राग-द्वेषोंको) अकरणीय—न करने लायक बतलाया जाता है? आचार्य समाधान करते हैं:——

रागद्देषद्दयीदीर्ध-नेत्राकर्षणकर्मणा । अज्ञानात्मुचिरं जीवः, संसाराज्यो भ्रमत्यसौ ॥ ११ ॥

अन्वय-असी जीवः अज्ञानात् रागद्देषद्वयीदीर्घनेत्राक्ष्मेणकर्मणा संसाराच्यी सुचिरं अमिति । द्वीका-अमित संसराच्यी सुचिरं अमिति । द्वीका-अमित संसराच्यी सुचिरं अमिति । द्वीका-अमित संसराच्यी संवारः द्वव्यपरिवर्तनादिस्यो मनोऽच्यि समुद्र इव दुःखडेतुत्वाद् दुस्तरस्वाच तिस्मित् । कसात्, अज्ञानात् देहादिष्वाम्मविभ्रमात् । क्वियस्तालं, सुचिर अतिः दीर्घकालम् । केन, रागेत्यादि । राग इष्टे वस्तुनि प्रीतिः देपआनिष्टऽप्रीतिस्त्रयोद्दंगी । रागद्वेषयोः शक्तिस्यक्तिरूपत्वा सुगवत् प्रवृत्तिस्त्रापनार्थे द्वरीप्रहणं, शेषदोषाणां च तद्दयप्रतिबद्धत्वोधनार्थे । तथा चोक्तम्-

" यत्र रागः पदं चत्ते, द्वेषस्तत्रेति निश्चयः । उभावेती समारुम्य, विक्रमस्यधिकं मनः ॥ "

अपि च । आस्मिन सित परसंज्ञा स्वपरिविभागात् परिग्रहहेषी । अनयोः संप्रतिवद्धाः सर्वे दोषाश्च जायन्ते । सा दीर्धनेनायतमन्याकर्षणपाञ्च इव अमणहेतुत्वात्तस्यापकर्षणकर्मजीवस्य रागादिरूपतया परिणमनं नैत्रस्यापकर्षणपानि एत्वाभिग्रखानयनं तेन अनोपमानभूतो मन्यदण्ड आक्षेप्यस्तेन यथा नेनाकर्षणव्यापारे मन्यात्रकः समुद्रे सुचिरं आन्तो कोने प्रसिद्धस्तया स्वपरिविकानववोधात् यहुद्भूतेन रागादिपरिणामेन कारणकार्योपचाराज्ञनितकर्मवन्धेन संशरस्यो जीवो अनादिकार्छं संसारे आन्तो अमित्यति । अगतीत्यविष्ठन्ते पर्वता इत्यादिवत् नित्यप्रवृत्ते रुद्रौ विधानात् । सर्कं च ।

" जो खब्ध संसारत्यो, जीवो तत्तो दु होदि परिणासो । परिणामादो कम्म, कम्मादो हवदि गदि सु गदी ॥ १२८ ॥ गदिमधिगदस्य देहो, देहादो इंदियाणि जायंते । तेहिं दु विस्वयमहणं, तत्तो रागो व दोसो वा ॥ १२९ ॥ जायदि जीवरसेवं, भावो संसारचककवालंमि । इदि जिणवरेहिं भणिदो, अणादिणिषणो सणिषणो वा " ॥ १३० ॥ पंचास्तिकाय । २ ।

१ वर्तमानात् ।

अग्र प्रतिपाद्यः पर्यनुषुड्के । तस्मिलिप गित् सुन्धी स्यात् को दोष इति भगवन् संवारेषि, न केवलं मोक्ष इत्यिष-शब्दार्थः । चेजीवः सुखयुक्को भवेत् तर्हि को न कश्चित् दोषो हुष्टत्वं संवारस्य सर्वेषां मुखरयेव आमुमिष्टस्वात् येन संवारच्छेदाय सन्तो यतेरिजल्यत्राह । वत्स !

अर्थ---यह जीव अज्ञानसे रागद्देपरःशा दो लम्बी डोरियोंकी खींचतानीसे संसारस्यी समुद्रमें बहुत कालतक घृमता रहता है--परिवर्तन करता रहता है।

विशादार्थ — द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावस्त्य पंचपरावर्तनस्त्य संसार जिसे दुः सका कारण और दुस्तर होनेसे समुद्रके समान कहा गया है, उसमें अज्ञानसे-श्ररीरादिकोंमें आत्मश्रांतिसे-अतिदीर्थ कालतक धूमता (चक्कर काटता) रहता है। इप्र वस्तुमें श्रीति होनेको राग और अनिष्ट वस्तुमें अप्रीति होनेको द्रेप कहते हैं। उनकी शक्ति और व्यक्तिस्त्यसे हमेशा प्रवृत्ति होती रहती है, इसिलये आचार्योंने इन दोनोंकी जोड़ी वतलाई है। वाकीके द्रोप इस जोड़ीमें ही श्रामिल हैं, जैसा कि कहा गया है:—" यत्र रागः पदं धत्ते "

" जहाँ राग अपना पाँच जमाता है, वहाँ द्वेप अवश्य होता है या हो जाता है, यह निश्चय है। इन दोनों (राग-द्वेप) के आलम्बनसे मन अधिक चंचल हो उठता है। और जितने दोप हैं, वे सब राग-द्वेपसे संबद्ध हैं, " जैसा कि कहा गया है—" आत्मिन सित परसंज्ञा०"

" निजल्ब होनेपर परका ख्याल हो जाता और जहाँ निज-परका विभाग (भेद) हुंआ वहाँ निजमें रागस्त्य और परमें द्वेपरूप भाव हो ही जाते हैं। यस इन दोनोंके होनेसे अन्य समस्त दोष भी पैदा होने लग जाते हैं। कारण कि वे सब इन दोनोंके ही आश्रित हैं।"

वह राग-द्रेषकी जोड़ी तो हुई मंथानीके डंडेको घुमानेवाठी रस्सीके फाँसाके समान और उसका घुमना कहलाया जीवका रागादिस्य परिणमन। सो जैसे लोकमें यह वात प्रसिद्ध है कि नेतरीके खींचा-तानीसे जैसे मंथराचल पर्वतको समुद्रमें वहुत कालतक भ्रमण करना पड़ा। उसी. तरह स्वपर विवेकज्ञान न होनेसे रागादि परिणामोंके द्वारा जीवात्मा अथवा कारणमें कार्यका उपचार करनेसे, रागादि परिणामजनित कर्मवंधके द्वारा वँधा हुआ संसारीजीव, अनादिकालसे संसारमें घूम रहा है, घुमा था और घुमता रहेगा। मतलव यह है कि 'रागादि परिणामरूप भावकर्मोंसे द्रव्यकर्मोंका बन्ध होता 'ऐसा हमेशासे चला आ रहा है और हमेशा तक चलता रहेगा। सम्भव है कि किसी जीवके यह रूक भी जाय। जैसा कि कहा गया है:—"जो खलु संसारत्यो०"

" जो संसारमें रहनेवाला जीव है, उसका परिणाम (रागद्वेप आदिरूप परिणमन) होता है, उस परिणामसे कर्म वॅथते हैं। वॅथे हुए कर्मीके उदय होनेसे मनुष्यादि गतियोंमें गमन होता है, मनुष्यादि गतिमें प्राप्त होनेवालेको (औदारिक आदि) शरीरका जन्म होता है, शरीर होनेसे इंद्रियोंकी रचना होती है, इन इंद्रियोंसे निषयों (रूप स्सादि) का ग्रहण होता है, उससे फिर राग और देप होने रूप जाते हैं। इस ग्रकार जीनका संसारत्यी चक्रवारुमें भवपरिणमन होता रहता है, ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है। जो अनादिकारुसे होते हुए अनन्तकारुतक होता रहेगा, हाँ, किन्हीं भव्यजीयोंके उसका अन्त भी हो जाता है।"॥ ११॥

> दोहा -- मथत दूध डोरीनिर्ते, इंड फिरत बहु बार राग द्वेप अझानसे, जीव अमत संसार ॥ ११ ॥

उत्थानिका—यहाँपर शिष्य पूछता है कि स्वामिन् ! साना कि मोक्षमें जीव सुखी रहता है। किन्तु संसारमें भी यदि जीव सुखी रहे तो क्या हानि है?—कारण कि संसारके सभी प्राणी सुख्कों ही प्राप्त करना चाहते हैं। जब जीव संसारमें ही सुखी हो बाँय तो फिर संसारमें ऐसी क्या खराची है ? जिससे कि संत पुरुष उसके नाग्र करनेके लिये प्रयन्त किया करते हैं ? इस विययमें आचार्य कहते हैं—हे करस—

विपद्भवपदावतें, पदिकेवातिवाह्यते । यावतावद्भवस्त्यस्याः, प्रचुरा विपदः पुरः ॥ १२ ॥

अन्यय---यावत् भवपदावते पदिका इव विषत् अतियाद्यते तावत् अन्याः प्रचुताः विषदः पुरः भवन्ति ।

द्दीका—पावदिविवाहते अधिकायते । प्रेयेते । कारी, विषत् सहस्वात्तिस्मानसामनुकानामापदां मध्ये या कार्येका विवक्तिता आपत् । स्रोवेतित लोगः । स्कृ अवपदावतें अवः संसारः पदावते इत् पादचात्प्रवदीयत्रामित्र सूरोचूरः परिचर्तमानसात् । केत्, परिकेते पादाकावदिष्टका वया वावद्रवन्ति । का, अस्या अपूर्वोः प्रमुत्ता ह्याः विवदः आपदः पुत्रे अप्रे जीवस्य विदे । का इत्, काष्टिकस्थिति सामर्थातुर्ज्ञी । अतो जानीहि दुःबैकनिक्श्वतिविधिनित्रसात्रात् संतर अवस्य अवस्यतिवाहित्रसात्रस्य विदे । का

पुनः शिष्य एवाह । न सर्वे विषद्भन्तः सर्वपदोषि हस्यन्त इति सम्बन् समस्ता अपि संसारिणो न विपत्तिपुक्ताः धन्ति सम्रोकाणाभिषि नेत्रांनिवृ हस्यमानस्वादित्यवाहाः---

अर्थ—जनतक संशास्त्यी पैस्ते चलाये जानेवाले घटीयंत्रमें एक पटली सरीखी एक विपत्ति सुगतकर तय की जाती है कि उसी समय इसरी इसरी बहुतसी विपत्तियाँ सामने वा उपस्थित हो जाती हैं।

विशृदार्थ — पैरते चलाये जानेवाले घटीयंत्रको पदावर्त कहते हैं, वयोंकि उसमें वार वार परिवर्तन होता रहता है। सो बैसे उसमें पैरसे दवाई गई लक्की या पटलीके व्यतीत हो जानेके बाद इसरी पटलियाँ जा उपस्थित होती हैं, उसी तरह संसारस्यी पदावर्तमें एक विपाचिके बाद इसरी बहुतसी विपत्तियाँ जीवके सामने आ खडी होती हैं।

१ आवरिमकागत । २ एक यंत्रविशेष को पानी उलीचनेके काम आहा है ।

इसिटिये समझो कि एकमात्र दुःखोंकी कारणीमृत विपात्तियोंका कभी भी अन्तर न पड़नेके का यह संसार अवस्थ ही विनाझ करने योग्य है। अर्थात् इसका अवस्य नाझ करना चाहिए॥१२

दोहा—जबतक एक विपद टले, अन्य विपद यहु आय । पदिका जिमि घटियंत्र में, वार नार भरमाय ॥ १२ ॥

फिर शिष्यका कहना है कि, मगवन् ! समी संसारी तो विपत्तिवाठे नहीं हैं, वहुतं सम्पत्तिवाठे भी दीखनेमें आते हैं । इसके विषयमें आचार्य कहते हैं:—

दुरज्येनासुरक्ष्येण, नश्वरेण धनादिना । स्वस्थंमन्यो जनः कोऽपि, ज्वरवानिव सर्पिपा ॥ १३ ॥

अन्वयः—ज्वरचान् सार्पेषा इव कोऽपि जनः दुरज्येन असुरक्ष्येण धनादिना स्वस्थंमन्यः (मवति)।

टीका—भवति । कोसी, जाने लोकः । किविशिष्टः, कोपि निर्विवेको न सर्वः । किविशिष्टे सवति, स्वस्थेमप्यः स्वस्थासमानं सम्यमानो अहं खुलीति सम्यत इत्यर्थः । केन कृत्वा, धनादिना द्रव्यकासिन्यादिष्टवस्तुजातेन । किविशिष्टेन, दुर्त्व्यनं अपायनहुळ्त्वात् दुष्यांनावेशाच्च दुःखेन महता कष्टेवार्जित इति दुर्त्व्यनं तथा अधुर्त्वयं दुखाणेन चत्तते रक्ष्यमाणस्थापयायस्यावस्थापित्वात् । तथा नक्ष्येण रक्ष्यमाणस्थापि विनाशकंभवाद्याक्षेत्रन । अत्र हृहल्ताहा । चनरेत्यादे । इत् शब्दो यथाये व्या कोऽपि युत्यो व्यस्तान् अतिश्चेत सतिविनाशात् साम्यव्याक्षेत्र । इति पानव्यास्यानं सम्यते तती बुद्धयस्य दुरुपार्व्यवृद्धाणमह्युद्धव्यादिना दुःखमेव स्यात् । वक्तं च—

'' अर्थस्योपानने हुःखमनितस्य च रक्षणे । आये हुःखं व्यये दुःखं, विगर्थे हुःखमाननम् ॥ ग

" भूयोपि विनेयाः प्रच्छति । " एवंविषां संबदां कथं न त्यज्ञतीति । अनेन दुर्श्वत्वादिमकारेण लोकद्वयेऽपि दुःखदा पनादिसंवत्ति कथं मुञ्जति न जनाः । कथमिति विस्मयगर्भे प्रश्ने । अत्र गुरुरुत्तमाहः;—

अर्थ—जैसे कोई ज्वरवाला प्राणी बीको खाकर या चिपड़ कर अपनेको स्वस्य मानने लग जाय उसी प्रकार कोई एक मनुष्य मुश्किलसे पैदा किये गये तथा जिसकी रक्षा करना काटन है और फिर भी नष्ट हो जानेवाले हैं, ऐसे घन आदिकोंसे अपनेको सुखी मानने लग जाता है।

विश्वादार्थ—जैसे कोई एक मोठा प्राणी जो सामज्वर (ठंड देकर आनेवाले शुलार) से पीड़ित होता है, वह शुद्धिक ठिकाने न रहनेसे—शुद्धिक विगड़ जानेसे घी को खाकर या उसकी माठिश कर ठेनेसे अपने आपको स्वस्थ-नीरोग मानने लगता है, उसी तरह कोई कोई (समी नहीं) धन, दौळत, खी आदिक जिनका कि उपार्जित करना कठिन तथा जो रक्षा करते भी नष्ट हो जानेवाले हैं—ऐसे इष्ट वस्तुओंमें अपने आपको ' मैं सुखी हूँ ' ऐसा मानने लग जाते हैं, इसलिए समझो कि जो शुविकलोंसे पैदा किये जाते तथा जिनकी रक्षा बड़ी कठिनाईसे होती है, अया जो नष्ट हो जाते, स्थिर नहीं रहते ऐसे धनादिकोंसे दुःख ही होता है, जैसा कि कहा है— ' अर्थरयोपार्जने दःखं० "

'धनके कमानेमें हु:ख, उसकी रक्षा करनेमें हु:ख, उसके जानेमें हु:ख, इस तक्ष हर हालतमें हु:खके कारणरूप चनको पिकार हो '।

> दोहा—कठिन प्राप्त संरक्ष्य ये, नश्वर धन पुत्रादि । इनसे सुसकी करपना, जिमि धृतसे ज्वर व्याधि ॥ १३॥

द्यंका—फिर भी शिष्य पृष्ठता है कि चड़े आव्यर्षकी चात है कि चच ' मुश्किलेंसे कमायी जाती ' आदि हेतुओंसे चनादिक सम्मति दोनों लोकोंमें हुःख देनेवाली है, तब ऐसी सम्मतिको लोग छोड़ क्यों नहीं देते ? आचार्य उत्तर देते हैं—

> विपत्तिमात्मनो मूढः, परेषामिव नेक्षते । दक्षमानम्रगाकीर्णवनान्तरतरुस्थवत् ॥ १४ ॥

अन्वय-दह्ममानमृगाकीर्णवनान्तरतस्त्रयवत् गृदः परेषामिन आत्मनो विषत्तिं नेक्षते ।

रीका — नेवरते न परवति । कोउती, नृते घनावास्तरम इतिविको कोकः । कां, विपत्ति वौद्यदिना किवमाणी धनापहारद्यापदां । कस्य, आत्मनः स्वस्य । चैत्रामित्व, परैशामित । वया इसे विषदा खाक्रपन्ते तथाहम्ययाकृतस्य इति व विवेचवत्तीक्षयः । क इत्, प्रदासानीः दावानक्ष्याधादिगिर्मामीक्रियसाणैकृमिर्कारातिमार्यकीर्यस्य संकुलस्य कनस्यान्तरे सम्ये वर्तमाने । च तर्व वृत्तमारुदो कनो यथा आत्मनो स्रागणीस्य विपत्ति न पस्यति ।

पुनराह शिष्यः कुत एतदिति, मगन् कस्मादेतीरिदं सनिविताया अपि विषदो अदर्शनं बनस्य । गुक्ताह । कीमादिति, बस्स बनादिनार्थार्र्श्वेतिरिनीमप्यापदं धनिनो न पश्यन्ति ॥ १४॥ वतः—

अर्थ—जिसमें अनेकों हिएण दानानरकी ज्वालांसे नल रहे हैं, ऐसे नंगलके मध्यमें बुक्षपर कैंडे हुए मनुध्यकी तरह वह संसारी प्राणी इसरोंकी तरह अपने उत्तर आनेवाली विपत्तियोंका स्याल नहीं करता है।

विदादार्थ—धनादिकमें आसित होनेके कारण जिसका विनेक नष्ट हो गया है, ऐसा यह मूढ़ प्राणी नोरादिकके द्वारा की जानेवाठी, धनादिक जुराये जाने आदिल्प अपनी आपत्तिको नहीं देखता है, अर्थात वह यह नहीं ख्याठ करता कि जैसे इसरे ठोग विपत्तियोंके शिकार होते हैं, उसी तस्ह में भी विपत्तियोंका शिकार कान सकता हूँ। इस वनमें ठगी हुई यह आग इस वृक्षको और सुबे भी जाठा देगी। जैसे उनाठानठकी ज्वाठाओंसे जहाँ अनेक स्थापण श्रुठम रहे हैं,—बठ रहे हैं, उसी वनके मध्यमें मीजूद वृक्षके उसर चढ़ा हुआ बादसी यह जानता है कि ये तमाम मुगगण ही घवरा रहे हैं—कटपटा रहे हैं, एवं मरते वा रहे हैं, इन विपत्तियोंका सुक्षसे कोई संबंध नहीं है, मैं तो सुरक्षित हूँ। विपत्तियोंका सम्बंध इसरों की सम्पत्तियोंसे हैं, मेरी सम्पत्तियोंसे मही है। १८।।

दोहा—परकी विषदा देखता, अपनी देखे नाहि । जलते पग्रु जा वन विषे, जड़ तरुपर ठहराहिं ॥ १४ ॥ इसल्यि समझो कि एकमात्र दुःखोंकी कारणीयृत विपत्तियोंका कभी भी अन्तर न पड़नेके कारण यह संसार अवस्य ही विनाश करने योग्य है। अर्थात् इसका अवस्य नाश करना चाहिए ॥ १२ ॥

> दोहा--जबतक एक विपद रहे, अन्य विपद बहु आय । पदिका जिसि घटियंत्र में, वार बार भरमाय ॥ १२ ॥

फिर शिष्यका कहना है कि, भगवन् ! सभी संसारी तो विपात्तवाले नहीं हैं, बहुतसे सम्पत्तिवाले भी दीखनेमें आते हैं। इसके विषयमें आचार्य कहते हैं:—

> दुरुचेंनासुरक्ष्येण, नश्चरेण धनादिना । स्वस्थंमन्यो जनः कोऽपि, ज्वरवानिव सर्पिषा ॥ १३ ॥

अन्वयः—ज्वरवान् सर्पिषा इव कोऽपि जनः दुख्वेंन असुरक्ष्येण धनादिना स्वस्थंमन्यः (भवति)।

टीका—मनति । कोसी, जनो लोकः । किंविशिष्टः, कोि निर्विवेको न सर्वः । किंविशिष्टे मनित् स्वस्थमन्यः स्वस्थमात्मानं मन्यमानो अहं सुलीति मन्यत इत्ययः । केन क्वत्वा, धनादिना द्रव्यकामिन्यादीष्टवस्तुकातेन । किंविशिष्टेन, दुरुवेन अपायबहुल्यात् हुध्योनावेशाच्च दुःखेन महता कष्टेनार्जित इति द्वरुव्येनें तथा असुरस्येण दुस्त्राणेन यत्ततो रक्षमाणस्याप्यप्यायस्यावस्थमावित्वात् । तथा नश्वरेण रक्षमाणस्यापि विनाश्वस्यमदशाश्वरेन । अत्र हृष्टान्तमाह । व्वरेत्यादि । इव शब्दो यथाये यथा कोऽपि सुःचो व्वरवान् अतिशयेन मतेविनाशात् सामच्वरातैः सर्पिषा पृतेन पानाद्यप्युक्तेन स्वर्धमन्यो भवति । निरामयमास्मानं मन्यते ततो बुद्धयस्य दुरुपार्थ्यंतुस्थणमष्ट्गुरह्व्यादिना दुःखमेव स्यात् । उक्तं च—

'' अर्थस्योपार्जने दुःखमर्जितस्य च रक्षणे । आये दुःखं व्यये दुःखं, घिगर्थे दुःखभाजनम् ॥ "

'' भूयोपि विनेयः पृच्छिति । " एवंतिवा सैपदां कर्य न त्यनतीति । अनेन दुःर्जस्वादिप्रकारेण लोकद्वयेऽपि दुःखदा धनादिसंपत्तिं कर्य मुखति न जनः । कथमिति विस्मयगर्भे प्रश्ने । अत्र गुरुस्त्वरमाहः—

अर्थ — जैसे कोई ज्वरवाला प्राणी घीको खाकर या चिपड़ कर अपनेको स्वस्य मानने लग जाय उसी प्रकार कोई एक मनुष्य मुख्तिकल्से पैदा किये गये तथा जिसकी रक्षा करना कठिन है और फिर भी नष्ट हो जानेवाले हैं, ऐसे धन आदिकोंसे अपनेको सुखी मानने लग जाता है।

विश्वदार्थ — जैसे कोई एक मोला प्राणी जो सामज्वर (ठंड देकर आनेवाले झुखार) से पीड़ित होता है, वह झुद्धिके ठिकाने न रहनेसे — बुद्धिके विगड़ जानेसे घी को खाकर या उसकी मालिश कर लेनेसे अपने आपको स्वस्थ-नीरोग मानने लगता है, उसी तरह कोई कोई (सभी नहीं) घन, दौलत, खी आदिक जिनका कि उपार्जित करना कठिन तथा जो रक्षा करते भी नष्ट हो जानेवाले हैं — ऐसे इष्ट वस्तुओंमें अपने आपको ' मैं सुखी हूँ ' ऐसा मानने लग जाते हैं, इसलिए समझो कि जो मुक्किलोंसे पैदा किये जाते तथा जिनकी रक्षा चड़ी कठिनाईसे होती है, तथा जो नष्ट हो जाते, स्थिर नहीं रहते ऐसे धनादिकोंसे दुःख ही होता है, जैसा कि कहा है — " अर्थस्योपार्जने दुःखं०"

अन्वय—यः अवित्तः श्रेयसे त्यागाय वित्तं संचिनोति स " स्नास्यामि " इति स्वरारीरं पङ्केन विकिम्पति ।

दीका — योऽविक्तो निर्धनः सन् संचिनोति सेवाकुल्यादिकर्मणोपार्जयति । किं तिहक्तं धनं । करमें, त्यागाय पात्रदानदेवपूजाद्यर्थं, त्यागायेत्यस्य देवपूजाद्युपलक्षणार्थंत्वात् । करमें त्यागः, श्रेयसे अपूर्वपुष्पाय पूर्वोपात्त्रपाध्याय । यस्य द्व चक्रवत्यिदित्यायत्नेन धनं तिष्यित स तेन श्रेयोऽयं पात्रदानादिकमित करोत्वित भाषः । स किं करोतित्याह—विक्रिमित (वल्यनं करोति । कोऽसी, सः । किं तत्त्वज्ञारीरं । केन, पङ्केन कर्दमेन । कयं मुत्वेत्याह् । स्नास्यामीति । अयमर्थो, यथा कश्चित्वमिलाङ्गं स्नानं किष्यामीति पञ्चेन विलिम्पलस्मीति तथा पापेन धनमुणार्व्य पात्रदानादिपुण्येन क्षपयिष्यामीति धनार्जने प्रवर्तमानोऽपि । न च शुद्धकृत्या कस्यापि धनार्जनं संभवति । तथा चौक्तम् —

" शुद्धैर्घनैविषयंत्वे, सतामिष न संपदः । न हि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णोः,कदाचिदिष िध्यवः" ।।४५।।-आत्मानुशासनं । पुनराह शिष्यः भोगोपभोगायेति । भगवन् यद्येवं धनार्जनस्य पापप्रायतया दुःखहेतुर्वा धनं निद्यं तर्हि धनं विना सुखहेतोभोरोगिभोगस्यासभवासदर्थे धनं स्यादिति प्रशस्यं भविष्यति । भोगो भोजनताम्बूलादिः । उपभोगो वस्तुकाभिन्यादिः । भोगाश्चोपभोगाश्च भोगोपभोगं तस्मै । अन्नाह गुरुः । तद्दिष नेति न केवलं पुण्यहेतुत्वा धनं प्रशस्यमिति यत्त्वयोक्तं तदुक्तरीत्या न स्यात् । किं तर्हि भोगोपभोगार्थं तस्याधनं प्रशस्यमिति । यत्त्वया संप्रसुक्यते तद्दि न स्यात् । कुत इति चेत्, यतः ॥ १६ ॥

अर्थ--जो निर्धन, पुण्यप्राप्ति होगी इसिल्ये दान करनेके लिये धन कमाता या जोड़ता है, वह 'स्नान कर कुँगा 'ऐसे ख्यालसे अपने ग्रारीरको की चड़से लेपेटता है।

अर्थ—जो निर्धन ऐसा ख्याल करे कि 'पात्रदान, देचपुजा आदि करनेसे नवीन पुण्यकी प्राप्ति और पूर्वोपार्जित पापकी हानि होगी, इसिलिये पात्रदानादि करनेके लिये धन कमाना चाहिये', नौकरी खेती आदि करके धन कमाता है, समझना चाहिये कि वह 'स्नान कर डालूँगा' ऐसा विचार कर अपने शरीरको कीचड़से लिस करता है। खुलासा यह है कि जैसे कोई आदमी अपने निर्मल अंगको 'स्नान कर लूँगा' का ख्याल कर कीचड़से लिस कर डाले, तो वह चेवक्रफ ही गिना जायगा। उसी तरह पापके द्वारा पहिले धन कमा लिया जाय, पीछे पात्रदानादिके पुण्यसे उसे नष्ट कर डालूँगा, ऐसे ख्यालसे धनके कमानेमें लगा हुवा व्यक्ति भी समझना चाहिये। संस्कृतिशक्तों यह भी लिखा हुआ है कि चक्रवर्ती आदिकोंकी तरह जिसको विना यल किये हुए धनकी प्राप्ति हो जाय तो वह उस धनसे कत्याणके लिये पात्रदानादिक करे तो करे।

फिर किसीको भी धनका उपार्जन, शुद्ध वृत्तिसे हो भी नहीं सकता जैसा कि श्रीगुणभद्रा-र्थ आत्सानुशासनमें कहा है—" शुद्धैर्धनैविंवर्धन्ते० "

अर्थ—" सलुरुगेंकी सम्पत्तियाँ, शुद्ध ही शुद्ध धनसे बढ़ती हैं, यह बात नहीं है। देखो, जलसेही परिपूर्ण नहीं हुआ करती हैं। वर्षामें गँदले पानीसे भी भरी रहती हैं"॥१६॥

> दोहा—पुण्य हेतु दानादिको, निर्धन धन संचेय । स्नान हेतु निज तन कुधी, कीचड़से क्रिम्पेय ॥ १६ ॥

फिर भी शिष्यका कहना है कि हे भगवन्! क्या कारण है कि लोगोंको निकट आई हुई भी विपत्तियाँ दिखाई नहीं देती ? आचार्य जवाब देते हैं—" लोभात् " लोभके कारण, हे वत्स! धनादिककी गृद्धता-आसक्तिसे धनी लोग सामने आई हुई भी विपत्तिको नहीं देखते हैं, कारण कि—

आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्षहेतुं, कारुस्य निर्ममम् । वाञ्छतां घनिनामिष्टं, जीवितात्सुतरां घनम् ॥ १५॥

अन्वय-आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्षहेतुं कालस्य निर्गमं वाञ्छतां धनिनां जीविताद् धनं सुतरां इष्टम्।

टीका- चर्तते । किं तद्धनं । किंविशिष्टं, इष्टमिमर्यं । कथं, युतरां अतिरायेन कस्मान्जीविताधाणेभ्यः । केवां, धिननां । किं कुर्वतां, बाञ्छतां । कं, निर्भयं अविदायेन गमनं । कस्य, काळस्य । किविशिष्टं, आयुरिसादि । आयुर्ध्ययस्य च काळान्तरबर्देनस्य कारणम् । अयमर्थां, धिननां तथा जीवितस्यं नेष्टं यथा धनं । कथमन्यथा जीवितस्यकारणमपि धनष्टदिदेशुं काळनिर्गमं बाञ्छन्ति । अतौ धिग्धनम् एवंविधस्यामिहहेतुत्वात् ॥ १५ ॥

अज्ञाह शिष्यः । कथं घनं निन्धं येन पुण्यसुपार्क्यते इति पात्रदानदेवार्चनादिक्षियायाः पुण्यहेतीर्घनं विना असमवात् पुण्यताधनं घनं कथं निन्धं, कि वर्हि प्रशस्यमेवातौ ययाकथंचिद्धनमुपार्क्यं पात्रादौ च नियुष्य मुखाय पुण्यमुपार्जनीयमित्यत्राह—

अर्थ —कालका व्यतीत होना, आयुके क्षयका कारण है और कालान्तरके माफिक न्याजके वढ़नेका कारण है, ऐसे कालके व्यतीत होनेको जो चाहते हैं, उन्हें समझना चाहिये कि अपने जीवनसे धन ज्यादा इष्ट है।

विश्वादार्थ — मतलब यह है कि धनियोंको अपना जीवन उतना इष्ट नहीं, जितना कि धन। धनी चाहता है कि जितना काल बीत जायगा, उतनी ही व्याजकी आमदनी बढ़ जायगी। वह यह ख्याल नहीं करता कि जितना काल बीत जायगा उतनी ही मेरी आयु (जीवन) घट जायगी। वह धनवृद्धिके ख्यालमें जीवन (आयु) विनाशकी ओर तिनक भी लक्ष्य नहीं देता। इसल्ये मालूम होता है कि धनियोंको जीवन (प्राणों) की अपेक्षा धन ज्यादा अच्छा लगता है। इस प्रकारके व्यामोहका कारण होनेसे धनको धिकार है। १५॥

दोहा—आयु क्षय धनवृद्धि को, कारण काल प्रमान । चाहत हैं धनवान धन, प्राणनिते अधिकान ॥ १५ ॥

यहाँपर शिप्यका कहना है कि धन जिससे पुण्यका उपार्जन किया जाता है, वह निंध-निंदाके योग्य क्यों है ? पात्रोंको दान देना, देवकी पूजा करना, आदि कियायें पुण्यकी कारण हैं, वे सघ धनके बिना हो नहीं सकती । इसिटिये पुण्यका साधनरूप धन निंध क्यों ? वह तो प्रशंसनीय ही है। इसिटिये जैसे बने वैसे धनको कमाकर पात्रादिकोंमें देकर सुखके टिये पुण्य संचय करना चाहिये। इस विषयमें आचार्य कहते हैं—

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः संचिनोति यः । स्वशरीरं स पङ्केन, स्नास्यामीति विढिम्पति ॥ १६॥ अन्वय—यः अवितः श्रेयसे त्यागाय वित्तं संचिनोति स " स्नास्यामि " इति स्वरारीरं पङ्केन विकित्पति ।

दीका —योऽवित्तो निर्धनः सन् संचिनोति सेवाक्रस्यादिकर्मणोपार्जयति । किं तिहत्तं धनं । कस्मै, त्यागाय पात्रदानदेवपूजाद्यर्थे, त्यागायेत्यस्य देवपूजाद्युपलक्षणार्थस्वात् । कस्मै त्यागः, श्रेयसे अपूर्वपुण्याय पूर्वोपात्तपायक्षयाय । यस्य द्व चक्रवत्यदिदिवायत्नेन धनं विध्यति स तेन श्रेयोऽयं पात्रदानादिकमपि करोत्वित्त भावः । स किं करोतीत्याह—विक्रिपति (विरुपत करोति । कोऽसी, सः । किं तस्वज्ञारीरं । केन, पङ्केन कर्दमेन । कयं क्रत्वेत्याइ । स्नास्यामीति । अयमर्थो, यथा कश्चित्वमेलाङ्गं स्नानं करिष्वामीति पञ्चेन विल्यास्तर्धमीसकारी तथा पापेन धनसुपार्क्य पात्रदानादिपुण्येन क्षपयिष्यामीति धनार्जने प्रवर्तमानोऽपि । न च शुद्धक्ष्या कस्यापि धनार्षनं संमवति । तथा चौक्तम्—

" शुद्धैर्घनैविषर्धन्ते, सतामिष न संपदः । न हि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णौः,कदाचिदिष सिन्धवः" ॥४५॥-आत्मानुशासनं । पुनराह शिष्यः भोगोपभोगायेति । भगवन् यद्येवं धनार्जनस्य पापप्रायतया दुःखहेतुर्वा धनं निद्यं तर्हि धनं चिना सुखहेतोभोंगोपभोगत्याक्षमवाच्दर्थे धनं स्यादिति प्रशस्यं भविष्यति । भोगो मोजनताम्बूलिहः । उपभोगो वस्तुक्षाभिन्यादिः । भोगाश्चोपभोगाश्च भोगोपभोगं सस्ते । अज्ञाह गुषः । तदिष नेति न कैवलं पुण्यहेतुतया धनं प्रशस्यमिति यस्त्योक्तं तदुक्तरीत्या न स्यात् । किं तर्हि भोगोपभोगार्थं तत्साधनं प्रशस्यमिति । यस्त्यया संप्रशुक्यते तदिष न स्थात् । कुत इति चेत्, यतः ॥ १६ ॥

अर्थ — जो निर्धन, पुण्यप्राप्ति होगी इसिल्ये दान करनेके लिये घन कमाता या जोड़ता है, वह 'स्नान कर दूँगा 'ऐसे ख्यालसे अपने अरीरको की चड़से लपेटता है।

अर्थ — जो निर्धन ऐसा स्याल करे कि 'पात्रदान, देवपूजा आदि करनेसे नवीन पुण्यकी प्राप्ति और पूर्वोपाजित पापकी हानि होगी, इसिल्ये पात्रदानादि करनेके लिये धन कमाना चाहिये', नौकरी खेती आदि करके धन कमाता है, समझना चाहिये कि वह 'स्नान कर डालूँगा' ऐसा विचार कर अपने शरीरको कीचड़से लिस करता है। खुलासा यह है कि जैसे कोई आदमी अपने निर्मल अंगको 'स्नान कर लूँगा' का स्याल कर कीचड़से लिस कर डालूँ, तो वह वेवकूफ ही गिना जायगा। उसी तरह पापके द्वारा पिहले धन कमा लिया जाय, पीछे पात्रदानादिके पुण्यसे उसे नष्ट कर डालूँगा, ऐसे स्यालसे धनके कमानेमें लगा हुवा व्यक्ति भी समझना चाहिये। संस्कृतदीकामें यह भी लिखा हुआ है कि चक्रवर्ती आदिकोंकी तरह जिसको चिना यत्न किये हुए धनकी प्राप्ति हो जाय तो वह उस धनसे कत्याणके लिये पात्रदानादिक करे तो करे।

' फिर किसीको भी धनका उपार्जन, शुद्ध वृत्तिसे हो भी नहीं सकता जैसा कि श्रीगुणभद्रा-चार्यने आत्मानुशासनमें कहा है—''शुद्धैधैनैविवर्धन्ते० "

अर्थ--- " सत्पुरुषोंकी सम्पत्तियाँ, ग्रुद्ध ही ग्रुद्ध धनसे बढ़ती हैं, यह चात नहीं है । देखो, नदियाँ स्वच्छ जलसेही परिपूर्ण नहीं हुआ करती हैं । वर्षामें गँदले पानीसे भी भरी रहती हैं "॥१६॥

> दोहा—पुण्य हेतु दानादिको, निर्धन धन संचेय । स्नान हेतु निज्ञ तन कुधी, कीचड़से छिम्पेय ॥ १६ ॥

उत्थानिका—फिर शिष्य कहता है कि मगवन् ! घनके कमानेमें यदि ज्यादातर पा होता है, और दुःखका कारण होनेसे घन निंच है, तो घनके विना भोग और उपभोग भी नहं हो सकते, इसिटिये उनके टिये घन होना ही चाहिये, और इस तरह घन प्रशंसनीय माना जान चाहिये। इस विषयमें आचार्य कहते हैं कि 'यह बात भी नहीं है' अर्थात् 'पुण्यका कार होनेसे घन प्रशंसनीय है, 'यह जो तुमने कहा था, सो वैसा ख्याट कर घन कमाना उचित नहीं यह पहिले ही बताया जा चुका है। 'मोग और उपभोगके टिये घन साधन है, 'यह जो तुम कह रहे हो, सो भी बात नहीं है, यदि कहो क्यों ? तो उसके टिये कहते हैं:—

आरम्भे तापकान्प्राप्तावऽतृप्तिप्रतिपादकान् । अन्ते सुदुरुत्यज्ञ।न्,ं कामान् कामं कः सेवते सुधीः ॥ १७ ॥

अन्वय---आरम्भे तापकान् प्राप्तौ अतृष्ठिप्रतिपादकान् अन्ते सुदुस्यजान् कः सुधीः कामं सेवते ।

दीका—को, न कश्चित् सुधीविंद्वान् सेवते इन्द्रियप्रणालिकयानुमवति । कान् , भोगोपभोगान् । उक्तं च—

" तदास्वे सुखसंत्रेषु, भावेष्वज्ञोऽनुरूपते । हितभेवानुरूपन्ते, प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः ॥ "

कथं भृतान्, तापकान् देहेन्द्रियमनः क्लेशहेत्न् । क, आसमे उत्पत्युपक्रमे । अन्नादिभोग्यद्रस्य-संपादनत्य कृष्यादिक्लेशबहुलताया सर्वजनसुप्रसिद्धत्यात्। तर्हि सुन्यमानाः कामाः सुखहेतवः संभृतिसैक्यास्ते इत्याह्, प्राप्तावित्यादि । प्राप्तौ इन्द्रियेण संबन्धे सति अनृप्तेः सुतृष्णायाः प्रतिपादकान् दायकान् । उक्तं च—

'' अपि संकिरियताः कामाः, संभवन्ति यथा यथा । तथा तथा मनुष्याणां, तृष्णा विश्वं विसर्पति ॥".

तिहैं यथेष्टं भुक्तवा तृप्तेषु तेषु तृष्णा संतापः साम्यतीति सेव्यास्ते इत्याह । अन्ते सुदुस्यज्ञान् भुक्तिप्रान्ते स्यवद्धम-शक्यकान् । सुभुक्तप्यपि तेषु मनोव्यतिषङ्गस्य दुनिवारतात् । उक्तं च—

'' दहनत्तृणकाष्ठसं वयैरिष, तृत्येदुद्धिनेदीशतैः । न तु कामसुखेः पुमानहो, वरुवता खल्छ कापि कर्मणः ॥ अपि च—किमपीद विषयमयं, विषमतिविषमं पुमानयं येन । प्रसममनुभूय मनोभवे भवे नैव चैतयते ॥ ॥ ॥ ४४॥ —अनगारधर्मामते षष्ठीऽध्यायः ।

ननु तस्विवदोपि भोगानभुक्तवन्तो न श्रूयन्त इति कामान् कः सेवते सुधीरिरयुपदेशः कथं श्रद्धीयत इत्याह । काममिति । अरयथं । इदमत्र तात्यथं चारित्रमोहोदयात् भोगान् त्यक्तुमधक्तुवन्नत्वे तस्वज्ञो हेयरूपतया कामान्यव्यवेव सेवते । मन्दीभवन्मोहोदयस्त्र ज्ञानवैरान्यभावनया करणग्रामं सयम्य सङ्घा स्वकार्यायोत्पदंत एव । तथा चोक्तम् ।

इदं फलसियं किया करणमेतदेष क्रमो व्ययोयमनुषङ्गं फलमिदं दशेयं मम । अयं सुहृदयं द्विषन् प्रयतिदेश-कालाविमाविति प्रतिवितर्कयन् प्रयतते बुधो नेतरः।—ज्ञानार्णवे ए० ७६, —क्षागारवर्मामृते ए० १०।

किंच यदर्थमेतदेविविधिति । मद्र यत्कायस्थाणं वस्तुवंतापाद्यपेतं कर्तुं प्रार्थ्यते तद्रस्यमाणस्थापित्यर्थः । स एवंविध इति पाठः तराया—

अर्थ—आरम्भमें सन्तापके कारण और प्राप्त होनेपर अनुप्तिके करनेवाले तथा अन्तमें जो वड़ी मुक्किलोंसे भी छोड़े नहीं जा सकते, ऐसे मोगोपमोगोंको कौन विद्वान—समझदार-ज्यादती व आसक्तिके साथ सेवन करेगा ?

विद्यादार्थ—मोगोपभोग कमाये जानेके समय, बरीर इंद्रिय और मनको हेच पहुँचानेका कारण होते हैं। यह सभी जन जानते हैं कि गेहूँ, चना, जौ आदि अन्नादिक भोग्य द्रव्योंके पैदा करनेके लिये खेती करनेमें एड़ीसे चोटीतक पसीना बहाना आदि दुःसह हेचा हुआ करते हैं। कदाचित यह कहो कि मोगे जा रहे भोगोपमोग तो सुखके कारण होते हैं! इसके लिये यह कहना है कि इन्द्रियोंके द्वारा सम्बन्ध होनेपर ये अतृप्ति यानी बढ़ी हुई तृष्णाके कारण होते हैं, जैसा कि कहा गया है:—"अपि संकल्पिताः कामाः "

" ज्यों ज्यों संकल्पित किये हुए मोगोपमोग, प्राप्त होते जाते हैं, त्यों त्यों मतुष्योंकी तृष्णा वहती हुई सारे लोकमें फैलती जाती है। मतुष्य चाहता है, कि अमुक मिले। उसके मिल जानेपर आगे बहता है, कि अमुक और मिल जाय। उसके भी मिल जानेपर मतुष्यकी तृष्णा विश्वके समस्त ही पदार्थोंको चाहने लग जाजी है कि वे सब ही मुझे मिल जायँ। परंतु यदि यथेष्ट मोगोपभोगोंको भोगकर तृष्ठ हो जाय तब तो तृष्णारूपी सन्ताप ठण्डा पह जायगा! इसल्ये वे सेवन करने योग्य हैं। आचार्य कहते हैं कि वे भोग लेनेपर अन्तमें छोड़े नहीं जा सकते, अर्थात उनके खूब मोग लेनेपर भी मनकी आसक्ति नहीं हटती," जैसा कि कहा भी है—

" दहनस्तृणकाष्ठसंचयैरपि० "

"यद्यपि अग्नि, घास, ठकड़ी आदिके ढेरसे तृप्त हो जाय । समुद्र, सैकड़ों नदियोंसे तृप्त हो जाय, परंतु वह पुरुष इच्छित सुखोंसे कभी भी तृप्त नहीं होता । अहो ! कमींकी कोई ऐसी ही सामर्थ्य या जबर्दस्ती है।" और भी कहा है:—" किमपीदं विषयमयं०"

" अहो ! यह विषयमयी विष कैसा गजबका विष है कि जिसे जबर्दस्ती खाकर यह मनुष्य, भव भवमें नहीं चेत पाता है।"

इस तरह आरम्भ, मध्य और अन्तमें क्लेश-तृष्णा एवं आसक्तिके कारणश्रत इन मोगोपमोगोंको कौन बुद्धिमान् इंद्रियस्पी नलियोंसे अनुभवन करेगा ? कोई भी नहीं।

यहाँपर शिष्य शंका करता है कि तत्त्वज्ञानियोंने भोगोंको न भोगा हो यह वात सुननेमें नहीं आती है। अर्थात बड़े बड़े तत्त्वज्ञानियोंने भी भोगोंको भोगा है, यही प्रसिद्ध है। तब 'भोगोंको कौन बुद्धिमान्-तत्त्वज्ञानी सेवन करेगा ?' यह उपदेश कैसे मान्य किया जाय ? इस वातपर कैसे श्रद्धान किया जाय ? आचार्य जवाब देते हैं—कि हमने उपर्शुक्त कथनके साथ "कामं अत्यर्थि०" आसक्तिके साथ क्तिपूर्वक यह भी विशेषण लगाया है। तात्र्पय यह है कि चारित्रमोहके उदयसे भोगोंको छोड़नेके लिये असमर्थ होते हुए भी तत्त्वज्ञानी पुरुष भोगोंको ल्याज्य-छोड़ने योग्य समझते हुए ही सेवन करते हैं। और जिसका मोहोदय मंद पढ़ गया है, वह ज्ञान-वैराग्यकी भावनासे

इन्द्रियोंको रोककर इन्द्रियोंको वशेमें कर शीघ ही अपने (आत्म) कार्य करनेके लिये कटिवद्ध-तयार हो जाता है—जैसा कि कहा गया है—" इदं फलमियं किया ?"

" यह फल है, यह किया है, यह करण है, यह कस-सिलिसला है, यह खर्च है, यह आनुषंगिक (ऊपरी) फल है, यह मेरी अवस्था है, यह मित्र है, यह शत्रु है, यह देश है, यह काल है, इन सन चातोंपर ख़्याल देते हुए झुद्धिमान पुरुष प्रयत्न किया करता है। मूर्छ ऐसा नहीं करता।"॥ १७॥

दोहा—भोगार्जन दुःखद महा, भोगत तृष्णा वाढ़ । अंत त्यजत गुरु कए हो, को दुध भोगत गाढ़ ॥ १७ ॥

उत्थानिका—आचार्य फिर और भी कहते हैं कि जिस (काय) के लिये सब कुछ (मोगोपमोगादि) किया जाता है वह (काय) तो महा अपवित्र है, जैसा कि आगे वताया जाता है—

> भवन्ति प्राप्य यत्सङ्गमशुचीनि शुचीन्यपि। स कायः संततापायस्तदर्थं प्रार्थना बृथा ॥ १८ ॥

अन्वय---यत्सङ्गं प्राप्य शुनीन्यपि अशुचीनि भवन्ति स कायः संततापायः तदर्ये प्रार्थना नृया।

टीका—वर्तते । कोऽसी, सः कायः घरीरं । किं विशिष्टः, संततापायः निस्यक्षुषान्नुपतायः । स क इत्याह । यस्य येन कायेन सह संबन्धं प्राप्य लब्धा कुर्नीन्यपि पवित्राण्यपि भोजनवस्त्रादिवस्त्यकुर्नीनि भवन्ति यत्रक्षैवं तंतस्तद्र्ये तं संततापायं कायं कुनिवस्तुभिक्षकर्ते प्रार्थना आकाङ्क्षा वृथा स्वर्था केनचिदुपायेन निवारितेऽपि एकसिमस्रपाये क्षणे स्वर्ण परापरापायोपनिपातसम्भवात ।

पुनरप्याह शिष्यः—तर्हि धनादिनाध्यातमोपकारो भविष्यतीति । भगवन् संततापायतया कायस्य धनादिना यद्यपकारो न स्यात्ति बनादिनाधि न केनलमनज्ञनादितपश्चरणेनत्यधि शब्दार्थः । आत्मनो जीवनस्योपकारोऽनुमही भविष्यतीर्थाः । गुरुराह तन्नेति । यस्यया धनादिना आत्मोपकारभवनं संभाव्यते तन्नास्ति ॥ १८ ॥ यतः—

अर्थ—जिसके सम्बंधको पाकर-जिसके साथ भिड़कर पवित्र भी पदार्थ अपवित्र हो जाते हैं, वह शरीर हमेशा अपायों, उपद्रवों, इंझटों, विघों, एवं विनाशों कर सिहत है, अतः उसको भोगोपमोगोंको चाहना व्यर्थ है!

विशादार्थ—जिस शरीरके साथ संबन्ध करके पवित्र एवं रमणीक मोजन वस्न आदिक पदार्थ अपवित्र िषनावने हो जाते हैं, ऐसा वह शरीर हमेशा भूख प्यास आदि संतापींकर सिहत है। जब वह ऐसा है तब उसको पवित्र अच्छे अच्छे पदार्थोंसे मला बनानेके लिये आकांक्षा करना व्यर्थ है, कारण कि किसी उपायसे यदि उसका एकाघ अपाय दूर भी किया जाय तो क्षण क्षणमें दूसरे अपाय आ खड़े हो सकते हैं ॥ १८॥

दोहा—शुचि पदार्थ भी संग ते, महा अशुचि हो जॉय । विद्या करण नित काय हित, भोगेच्छा विफलाय ॥ १८॥ उत्थानिका—फिर भी शिष्यका कहना है कि भगवन कायके हमेशा अपायवाले होनेसे यदि धनादिकके द्वारा कायका उपकार नहीं हो सकता, तो आत्माका उपकार तो केवल उपवास आदि तपश्चर्यासे ही नहीं बल्कि धनादि पदार्थोंसे भी हो जायगा।

आचार्य उत्तर देते हुए बोले, ऐसी बात नहीं है । कारण कि— यज्ञीवस्योपकाराय, तद्देहस्यापकारकम्। यद्देहस्योपकाराय, तज्जीवस्यापकारकम्॥ १९॥

अन्वय--यत् जीवस्य उपकाराय तद् देहस्य अपकारकं भवति, तथा यद् देहस्य उपकाराय तत् जीवस्य अपकारकं भवति ।

दीका—गदनशनादि त्योऽनुष्ठानं जीवस्य पूर्वापूर्वपायक्षपणिनवारणाभ्यासुपकाराय स्थान्तहेहस्यापकारकं खान्यादिनिमित्तत्वात् । यस्युनर्धनादिकं देहस्य भोजनाञ्चुपयोगेन क्षुषाञ्चपतायक्षयत्वाङ्यकाराय स्यान्त्रजीवस्थो-पार्जनादौ पापजनकावेन दुर्गतिः दुःखिनिमित्तत्वाद्यकारकं स्थादतो जानीहि जीवस्य धनादिना नोपकारगन्धोप्यस्ति धर्मस्येन तद्यपकारत्वात् ।

अन्नाह शिष्यः । तर्हि कायस्योपकारश्चित्त्यते इति भगवन् यद्येवं तर्हि " श्ररीरमाद्यं खल्ल धर्मेषाधनम् " इत्यभिधानात्तस्यापौयनिराष्टाय यस्तः क्रियते । न च कायस्यापायनिराष्टो दुष्करं इति वाच्यम् । ध्यानेन तस्यापि सुकरस्वात् ॥ १९ ॥ तथा चोक्तम्—

"यदात्रिकं फलं किंचित्फलमामुत्रिकं च यत्। एतस्य द्वितस्यापि, ध्यानमेवाश्रकारणम् ॥" २१०॥ तत्त्वानुशासनं झाणस्य ण दुछहं किंपीति च-अत्र गुदः प्रतिषेषमाह तन्निति । ध्यानेन कायस्योपकारी न चिन्त्य इस्यर्धः ।

अर्थ—जो जीन (आला) का उपकार करनेवाले होते हैं, वे शरीरका अपकार (बुरा) करनेवाले होते हैं । जो चीजें शरीरका हित या उपकार करनेवाली होती हैं, वही चीजें आत्माका अहित करनेवाली होती हैं ।

विश्रादार्थ—देखो जो अनशनादि तपका अनुष्ठान करना, जीवके पुराने व नवीन पार्गोको नाश करनेवाला होनेके कारण, जीवके लिये उपकारक है, उसकी भलाई करनेवाला है, वही आचरण या अनुष्ठान शरीरमें ग्लानि शियिलतादि भावोंको कर देता है, अतः उसके लिये अपकारक है, उसे कष्ट व हानि पहुँचानेवाला है। और जो धनादिक हैं, वे भोजनादिक उपयोग द्वारा क्षुधादिक पीड़ाओंको दूर करनेमें सहायक होते हैं। अतः वे शरीरके उपकारक हैं। किन्तु उसी धनका अर्जनादिक पापपूर्वक होता है। व पापपूर्वक होनेसे दुर्गतिके दुःखोंकी प्राप्तिके लिये कारणीभृत है। अतः वह जीवका अहित या खुरा करनेवाला है। इसलिये यह समझ रक्खो कि धनादिकके द्वारा जीवका लेशमात्र भी उपकार नहीं हो सकता। उसका उपकारक तो धर्म ही है। उसीका अनुष्ठान करना चाहिये।

१ रोगाद्यविनाशे ।

दोहा-आतम हित जो करत है, सो तनको उपकार। जो तनका हित करत है, सो जियको अपकार॥ १९॥

अथवा कायका हित सोचा जाता है, अर्थात् कायके द्वारा होनेवाले उपकारका विचार किया जाता है। देखिये कहा जाता है कि "शरीरमाधं खलु धर्मसाधनम्" शरीर धर्म-सेवनका पुल्य साधन-सहारा है। इतना ही नहीं, उसमें यदि रोगादिक हो जाते हैं, तो उनके दूर करनेके लिये प्रयत्न भी किये जाते हैं। कायके रोगादिक अपायोंका दूर किया जाना मुश्किल भी नहीं है, कारण कि ध्यानके द्वारा वह (रोगादिकका दूर किया जाना) आसानीसे कर दिया जाता है, जैसा कि तत्वानुशासनेमें कहा है—" यशादिकं फलं किंचित् "॥ १९॥

जो इस लोक सम्बन्धी फल हैं, या जो कुछ परलोक सम्बन्धी फल हैं, उन दोनों ही फलोंका प्रधान कारण ध्यान ही है। मतलब यह है कि " झाणस्स ण दुछहं किं पीति च " ध्यानके लिये कोई मी व कुछ भी दुर्लम नहीं है, ध्यानसे सब कुछ मिल सकता है। इस विवयमें आचार्य निवेध करते हैं, कि ध्यानके द्वारा कायका उपकार नहीं चिंतवन करना चाहिये—

इतश्चिन्तामणिर्दिःय, इतः पिण्याकखण्डकम् । ध्यानेन चेदुभे स्रभ्ये, काद्गियन्तां विवेकिनः ॥ २० ॥

अन्वय—इतो दिव्यश्चिन्तामणिः इतश्च पिण्याकखण्डकम् चेत् ध्यानेन उमे रुग्ये, विवेकितः वव आद्रियन्ताम् ।

टीका — अस्ति । कोऽसी, चिन्तामणिः चिनिततार्थप्रदो स्तिविशेषः । किविशिष्टो, दित्यो देवेनाधिष्ठितः । क, इत अस्मिन्नेकस्मिन् पक्षे । इतश्राम्यस्मिन् पष्टे विष्याकखण्डकं कुस्तितमस्यं वा खलखण्डकमस्ति । एते च उमे हे अपि यदि च्यानेन लभ्येते । अवश्यं लभ्येते तहिं कथय क ह्योमेंच्ये कतास्मिन्नेकस्मिन् विवेकिनो लोभच्छेदविचारचतुरा आद्रियन्ताम् आदरं कुर्वन्तु । तदिहिकफलामिलाधं स्यक्तवा आमुनिकफलसिद्ध्ययंमेवास्मा च्यातव्यः । उक्तं च —

'' यद्धवानं रीद्रमार्ते वा, यदेक्षिकप्तलाधिनाम्। तस्मादेतस्यरित्यवय, वार्ये बुक्कतुपास्यताम्''॥२२०॥-तस्त्रात्तवावनं अर्थेवसुद्धोवितश्रद्धानो विनेयः पुच्छति, स आस्मा कीदश इति यो बुष्मामिर्ध्यतस्ययोपदिष्टः पुमान् स किं— स्वरूप इत्यर्थः। गुरुराह—॥ २०॥

अर्थ—इसी ध्यानसे दिव्य चिंतामणि मिल सकता है, इसीसे खलीके दुकड़े भी मिल सकते हैं। जब कि ध्यानके द्वारा दोनों मिल सकते हैं, तब विवेकी लोग किस ओर आदरख़द्धि करेंगे ?

विश्वादार्थ — एक तरफ तो देवाधिष्ठित चिन्तित अर्थको देनेवाला चिन्तामणि और दूसरी ओर बुरा व छोटासा खलीका हुकड़ा, ये दोनों भी यदि ध्यानके द्वारा अवश्य मिल जाते हैं, तो कहो, दोनोंभेंसे किसकी ओर विवेकी लोमके नाश करनेके विचार करनेमें चतुर—पुरुष आदर केरेंगे? इसलिये इसलोक सम्बन्धी फल कायकी नीरोगता आदिकी अभिलायको छोड़कर परलोक सम्बन्धी फलकी सिद्धि-गासिके लिये ही आत्माका ध्यान करना चाहिये। कहा भी है कि, "यद ध्यान रोद्दमार्त वा०"॥ २०॥

" वह सब रोद्रघ्यान या आर्त्तघ्यान है, जो इसलोक सम्घन्धी फलके चाहनेवालेको होता है। इसलिये रोद्र व आर्त्तघ्यानको छोड़कर धर्म्यघ्यान व ग्रुक्लघ्यानकी उपासना करनी चाहिये।"

> दोहा—इत चिंतामणि है महत, उत खल ट्रक असार। ध्यान उभय यदि देत बुध, किसको मानत सार॥ २०॥

अब वह शिष्य जिसे समझाये जानेसे श्रद्धान उत्पन्न हो रहा है, पूछता है कि जिसे आपने ध्यान करने योग्य रूपसे बतलाया है वह कैसा है? उस आत्माका क्या स्वरूप है? आचार्य कहते हैं—

> स्वसंवेदनसुव्यक्तस्ततुमात्रो निरत्ययः । अत्यन्तसौख्यवानात्मा, छोकास्रोकविस्रोकनः ॥ २१ ॥

अन्वय—आत्मा, छोकालोकविलोकनः अत्यन्तसौक्यवान् ततुमात्रः निरत्ययः स्वसंवेदन-सुव्यक्तः (अस्ति)।

टीका—अस्ति । कोऽपौ, आत्मा । कीडगः, लेकालेकविलोकनः लेको नीवाद्याकीर्णमाकाशं ततोऽन्यदलोका तौ विशेषेण अशेषविशेषनिष्ठतैया लोकते परवित नानाति । एतेन " शानश्रत्यं नैतन्यमात्रमात्मा " इति सांस्यमतं सुद्धचादिगुणोजिक्षतः पुमानिति यौगमतं च प्रत्युक्तम् । प्रति-वस्तश्च नैरात्यंवादो बौद्धानाम् । पुनः कीडशः, अत्यन्त-सीख्यवान् अनन्तसुखस्वभावः । एतेन साख्यगैगतन्त्रं प्रत्याहतम् । पुनःपि कीडशःतुमात्रः स्वोपाचारीरपिमाणः । एतेन स्थापकं सटकणिकामात्रं नात्मानं सदस्ती प्रत्याख्यातौ । पुनःपि कीडशः, निरत्ययः द्रस्यस्यतया निर्यः । एतेन समीदि-मरणपर्यम्तं नीवं प्रतिनानौनश्चानोको निराकृतः । नतु प्रमाणिकदे वस्तुन्येवं गुणवादः श्रेयान्न नात्मनस्तथा प्रमाण-'सिद्धस्वमस्तीत्यारेकायामाह—स्वसंवेदनकुष्यक्त इति ।

" वेद्यस्वं वेदकत्वं च, यत्स्वस्य स्वेन योगिनः। तत्स्वसंवेदनं प्राहुरात्मनोऽनुभवं दृशम्॥१६१॥"—तत्त्वानुशासनम्। इत्येनंत्रक्षणस्वसंवेदनप्रत्यक्षेणें छकल्प्रभाणधुर्येणे सुष्ठु उक्तेश्च गुणैः संपूर्णतया व्यक्तः विश्वद्रतयानुभूतो योगिभिः स्वेकदेशेन।

अत्राह ज्ञिष्यः यद्येवमात्मास्ति तस्योपास्तिः कथमिति स्पष्टम् आत्मसेवोपायप्रक्षोऽयम् । गुरुराह— ॥ २१ ॥

अर्थ—आत्मा लोक और अलोकको देखने जाननेवाला, अत्यन्त अनन्त सुख स्वभाववाला, शरीरप्रमाण, नित्य, स्वसंवेदनसे तथा कहे हुए गुणोंसे योगिजनों द्वारा अच्छी तरह अनुभवेमें आया हुआ है।

विश्वदार्थ — जीवादिक द्रव्योंसे धिरे हुए आकाशको ठोक और उससे अन्य सिर्फ आकाशको अठोक कहते हैं। उन दोनोंको विशेषरूपसे उनके समस्त विशेषोंमें रहते हुए जो जानने देखनेवाठा है, वह आत्मा है। ऐसा कहनेसे "ज्ञानश्रन्यचैतन्यमात्रमात्मा " ज्ञानसे श्रन्य सिर्फ चैतन्यमात्र ही आत्मा है, ऐसा सांख्यदर्शन तथा " द्युद्ध्यादिगुणोज्झितः पुमान् " द्युद्धि दुःखादि गुणोंसे रहित पुरुष है, ऐसा योगदर्शन खंडित हुआ समझना चाहिये। और योद्योंका

१ परिपूर्णतया । २ अभावात्मको मोक्षः । ३ वृवन् । ४ प्रमाणेन । ५ मुख्येन ।

'नैसहस्य बाद ' भी खंडित हो गया । फिर चतलाया गया है कि 'वह आत्मा सीख्यवान अनंत सुख्य सावया है '। ऐसा कहनेसे सांख्य और योगदर्शन खंडित हो गया । फिर कहा गया कि वह "तनुमात्रः" 'अपने द्वारा श्रहण किये गये शरीर—परिमाणवाला है '। ऐसा कहनेसे जो लोग कहते हैं कि 'आत्मा व्यापक है ' अथवा 'आत्मा वृदकणिका मात्र है ' उनका खंडित हो गया । फिर वह आत्मा "निरत्ययः" 'द्रव्यरूपसे नित्य है ' ऐसा कहनेसे, जो चार्वाक यह कहता था कि "गर्भसे लगाकर मरणपर्यन्त ही जीव रहता है," उसका खण्डन हो गया ।

यहाँपर किसीकी यह शंका है कि प्रमाणसिद्ध वस्तुका ही गुण-गान करना उचित है। परन्तु आत्मामें प्रमाणसिद्धता ही नहीं है—वह किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं है। तव उत्तर कहे हुए विशेषणोंसे किसका और केसा गुणवाद ? ऐसी शंका होनेपर आचार्य कहते हैं कि वह आत्मा 'स्वसंवेदन—सुन्यक्त है, 'स्वसंवेदन नामक प्रमाणके द्वारा अच्छी तरह प्रगट है। "वेदलं वेदकलं च०"

" जो योगीको खुदका वेदाल व खुदके द्वारा वेदकल होता है, वस, वही स्वसंवेदन कहलाता है। अर्थात् उसीको आत्माका अनुमव व दर्शन कहते हैं। अर्थात् जहाँ आत्मा ही ज्ञेय और आत्मा ही ज्ञायक होता है, चैतन्यकी उस परिणितको स्वसंवेदन प्रमाण कहते हैं। उसीको आत्मानुभव व आत्मदर्शन भी कहते हैं। इस प्रकारके स्वस्वपवाले स्वसंवेदन—प्रत्यक्ष (जो कि सब प्रमाणोंमें सुख्य या अग्रणी प्रमाण है) से तथा कहे हुए गुणोंसे सम्पूर्णतया प्रकट वह आत्मा योगिजनोंको एक-देश विश्वदरूपसे अनुभवमें आता है। "॥ २१॥

दोहा—निज अनुभवसे प्रगट है, नित्य शरीर-प्रमान । लोकालोक निहारता, आतम अति सुखवान ॥ २१ ॥

यहाँपर शिष्य कहता है, कि यदि इस तरहका आत्मा है तो उसकी उपासना कैसे की जानी चाहिये ? इसमें आत्मध्यान या आत्मभावना करनेके उपायोंको पृछा गया है।

आचार्य कहते हैं-

संयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतसः। आत्मानमात्मवान् ध्यायेदात्मनैवात्मनि स्थितम्॥ २२॥

अन्वय-करण्यामं संयम्य चेतसः एकाग्रत्वेन आत्मवान् आत्मिन स्थितं आत्मानं आत्मना एव ध्यायेत् ।

टीका—ध्यायेत् । भावयेत् । कोऽसी, आसमान् गुप्तेन्द्रियमना अध्यस्तस्वायत्तर्शित्तर्गः । कं, आसमानं ययोक्तस्वमावं पुरुषम् । केन, आसमनेव स्वयंवेदनरूपेण स्वेनेव तच्यती करणान्तरामावास् । उक्तं च---

''स्वपरहृप्तिरूपत्वात् ,न तस्य कारणान्तरम् । ततश्चिन्तां परित्यच्य,स्वसंवित्येव वेद्यताम् ॥१६२॥''-तत्वानुदृशसनम् क तिष्ठन्तमित्याह् , आत्मिन हिंधतं वस्तुतः सर्वमावानां त्वरूपमात्राधारत्वात् । किं कृत्वा १ संयम्य रूपादिम्यो व्याकृत्य । किं, करणव्यामं चक्षुरादीन्द्रियगणम् । केनोपायेन, एकामरवेन एकं विवक्षितमात्मानं तद द्रव्यं पर्यायोवा अमं प्राधान्येनालम्बनं विषयो यस्य अथवा एकं पूर्वापरपर्यायाऽनुस्यूतं अग्रमात्मग्राह्यं यस्य तदेकाग्रं तद्भावेन । कस्य, चेतसो मनतः । अयमर्यो यत्र क्रचिदात्मन्येव वा श्रुतज्ञानावष्टम्मात् आलम्बितेन मनता इन्द्रियाणि निरुद्धय स्वात्मानं च भावियत्वा तत्रैकाग्रतामाताव चिन्तां त्यक्ता स्वयंवेदनेनैवात्मानमनुभवेत् । उक्तं च—

'' गहियं तं सुअणाणा, पञ्छा संवेयणेण मानिजा। जो ण हु सुयमवलंबह, सो सुरुसइ अप्यसन्मानो ॥ " —अनगरधर्मामृते तृतीयोऽध्यायः ए० १७० ॥

तथाच " प्रान्यान्य विषयेभ्योऽर्ड, मां मयैव मयि स्थितम् । वोधात्मानं प्रश्तोऽस्मि परमानन्दनिर्हेतम् "॥३२॥
---समाधिशतकम्

अथाह शिष्यः आस्मोपासनया किमिति भगवज्ञात्मसेननया किं प्रयोजनं स्यात् फळप्रतिपैत्तिपूर्वकःवास्प्रेक्षावस्प्र-कृतेरिति पृष्टः सज्ञाचष्टे—॥ २२ ॥

अर्थ—मनकी एकाप्रतासे इन्द्रियोंको वशमें कर घ्वस्त-नष्ट कर दी है स्वच्छन्द वृत्ति जिसने ऐसा पुरुष अपनेमें ही स्थित आत्माको अपने ही द्वारा घ्यावे ।

विद्यादार्थ—जिसने इन्द्रिय और मनको रोक िया है अथवा जिसने इन्द्रिय और मनकी उच्छृंखल एवं स्वैराचाररूप प्रवृत्तिको ध्वस्त कर दिया है, ऐसा आत्मा, जिसका स्वरूप पहिले (नं॰ २१ के क्ष्रोक्में) बता आये हैं, आत्माको आत्मासे ही यानी स्वसंवेदनरूप प्रत्यक्ष ज्ञानसे ही ध्याचे, कारण कि स्वयं आत्मामें ही उसकी ज्ञिति (ज्ञान) होती है। उस ज्ञिसमें और कोई करणान्तर नहीं होते। जैसा कि तत्वानुशासनमें कहा है—"स्वपद्मिस्वपत्वात्"

"वह आत्मा स्वपर-प्रतिमासस्वरूप है। वह स्वयं ही स्वयंको जानता है, और परको भी जानता है। उसमें उससे भिन्न अन्य करणोंकी आवश्यकता नहीं है। इसलिये चिन्ताको छोड़कर स्वसंवित्ति-स्वसं-वेदनके द्वारा ही उसे जानो, जो कि खुद में ही स्थित है। कारण कि प्रमार्थसे सभी पदार्थ स्वरूपमें ही रहा करते हैं। इसके लिये उचित है कि मनको एकाग्र कर चक्षु आदिक इंद्रियोंकी अपने अपने विषयों (रूप आदिकों) से व्यावृत्ति करे।" यहाँपर संस्कृतटीकाकार पंडित आशाधरजीने 'एकाग्र ' शब्दके दो अर्थ प्रदर्शित किये हैं। एक किहये विवक्षित कोई एक आत्मा, अथवा कोई एक द्रव्य, अथवा पर्याय, वही है अग्र किहये प्रधानतासे आलम्बनभृत विषय जिसका ऐसे मनको कहेंगे 'एकाग्र '। अथवा एक किहये प्रवीपर पर्यायोंमें अविच्छिन्न रूपसे प्रवर्तमान द्रव्य-आत्मा वही है, अग्र-आत्मग्राह्य जिसका ऐसे मनको एकाग्र कहेंगे।

सारांश यह है कि जहाँ कहीं अथवा आत्मामें ही श्रुतज्ञानके सहारेसे भावनायुक्त हुए मनके द्वारा इंद्रियोंको रोक कर स्वात्माकी भावना कर उसीमें एकाग्रताको प्राप्त कर चिन्ताको छोड़ कर स्वसंवेदनके ही द्वारा आत्माका अनुभव करे। जैसा कि कहा भी है—" गहियं तं सुअणाणा०"

अर्थ—" उस (आत्मा) को श्रुतज्ञानके द्वारा जानकर पीछे संवेदन (स्वसंवेदन) में अनुभव करे । जो श्रुतज्ञानका आलम्बन नहीं लेता वह आत्मस्वमावके विषयमें गड़वड़ा जाता है _।

१ अविन्छित्रं प्रवर्तमानं । २ फल ज्ञान ।

इसी तरह यह भी भावना करे कि जैसा कि पुज्यपादस्वामीक समाधिशतकों कहा है—'' प्राच्याव्य विषयेग्योऽहं० ''

" मैं इंद्रियोंके विषयोंसे अपनेको हटाकर अपनेमें स्थित ज्ञानस्वरूप एवं परमानन्दमयी आपको अपने ही द्वारा प्राप्त हुवा हूँ । " ॥ २२ ॥

> दोहा-मनको कर एकाम्र, सब इंद्रियधिषय मिटाय। आतमजानी आत्ममें, निजको निजसे ध्याय॥ २२॥

यहाँपर शिष्यका कहना है कि मगवन् ! आत्मासे अथवा आत्माकी उपासना करनेसे क्या मतलब संवेगा—क्या फल मिलेगा ? क्योंकि विचारवानोंकी प्रवृत्ति तो फलज्ञानपूर्वक हुआ करती है, इस प्रकार पृक्ते जानेपर आचार्य जवाब देते हैं—

> अज्ञानोपास्तिरज्ञानं, ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः । ददाति यस्रु यस्यास्ति, सुप्रसिद्धमिदं वचः ॥ २३ ॥

अन्वय-अज्ञानोपास्तिरज्ञानं, ज्ञानिसमाश्रयः ज्ञानं ददाति " शत्तु तस्य अस्ति तदेव ददाति " इदं सुप्रासिद्धं वचः ।

दीका—ददाति । कार्षी, अज्ञानस्य देहादेर्मृदभान्तः संदिष्मगुर्वादेवी उपस्तिः सेवा । किं १ अज्ञानं, मोहभ्रमसंदेद्दछर्णं । तया ददाति । कार्षी, ज्ञानिनः स्वभावस्यात्मनो ज्ञानसंपन्नगुर्वादेवी समाश्रयः । अनन्यपर्या सेवनं । किं १ ज्ञानं स्वार्थाववोधम् । उक्तं च,—

" ज्ञानमेव फर्क ज्ञाने, ननु स्त्राच्यमनश्वरम्। अहो मोहस्य माहात्म्य, मन्यदय्यत्र मृग्यतेगं।१९५९॥—आस्मानुकासनम् को अत्र हष्टान्त हत्याह यदित्यादि । ददातीत्यत्राणि योज्यं 'तुरवधाणे । तेनायमर्थः संपद्यते । वदोव यस्य स्वाधीनं विद्यते के सेव्यमानं तदेव ददातीत्येतद्वास्यं कोके सुप्रतीतमतो मद्र शानिनपुणस्य समुखंभितस्वरदिवेकः ज्योतिरज्ञस्यातमातमातमान सेव्यक्ष । अत्राप्याह शिष्यः—शानिनोष्यात्मस्वस्थस्य किं भवतीति निष्यत्रयोग्यपेक्षया स्वासम्यानफलप्रश्लोयम् । गुक्ताहः—॥ २३ ॥

अर्थ—अज्ञान कहिये ज्ञानसे रहित शरीरादिककी सेवा अज्ञानको देती है, और ज्ञानी पुरुषोंकी सेवा ज्ञानको देती है। यह बात प्रसिद्ध है, कि जिसके पास जो कुछ होता है, वह उसी को देता है, दूसरी चीज जो उसके पास है नहीं, वह दूसरेको कहाँसे देगा ?

विश्वादार्थ — अज्ञान शब्दके दो अर्थ हैं, एक तो ज्ञान रहित शरीरादिक और इसरे मिथ्याज्ञान (मोह-भ्रांति-संदेह) वाठे सृह-भ्रांत तथा संदिग्ध गुरु आदिक। सो इनकी उपासना या सेना अज्ञान तथा मोह-भ्रमन संदेह रुक्षणात्मक मिथ्याज्ञानको देती है। और ज्ञानी कहिये, ज्ञानस्वभाव आत्मा तथा आत्मज्ञानसम्पन्न गुरुओंकी तत्परताके साथ सेना, स्वार्थावनोधस्त्य ज्ञानको देती है। जैसा कि श्रीगुणसदाचार्यने आत्मानुशासनमें कहा है— " ज्ञानमेन फूठं ज्ञाने "

"ज्ञान होनेका फल, प्रशंसनीय एवं अविनाशी ज्ञानका होना ही है, यह निश्चयसे जानो । अहो ! यह मोहका ही माहात्म्य है, जो इसमें ज्ञानको छोड़ कुछ और ही फल हूँड़ा जाता है। ज्ञानात्मासे ज्ञानकी ही प्राप्ति होना न्याय है। इसल्पिये हे भद्र ! ज्ञानीकी उपासना करके प्रगट हुई है स्वपर विवेकरूपी ज्योति जिसको ऐसा आत्मा, आत्माके द्वारा आत्मामें ही सेवनीय है, अनन्यशरण होकर भावना करनेके योग्य है। "॥ २३॥

दोहा—अञ्चयक्ति अञ्चानको, ज्ञानभक्ति दे ज्ञान। लोकोक्ती जो जो घरे, करे सो ताको दान॥ २३॥

यहाँ फिर मी शिष्य कहता है कि अध्यात्मठीन ज्ञानीको क्या फठ मिठता है ? इसमें स्वात्मिह्य योगीकी अपेक्षासे स्वात्मध्यानका फठ प्रक्षा गया है । आचार्य कहते हैं—

परीपहाद्यविज्ञानादास्त्रवस्य निरोधिनी । जायतेऽध्यात्मयोगेन, कर्मणामाञ्ज निर्जरा ॥ २४ ॥

अन्वय-अध्यात्मयोगेन परीषहाद्यविज्ञानात् आस्रवस्य निरोधिनी कर्मणां निर्जरा आज्ञु जायते ।

दीका—नायते भवति । कासी, निर्णता एकदेशेन छक्षयो विस्ठेष इस्यथः । केषां, कर्मणां छिद्धयोग्य-पेक्षयाऽश्चमानां च श्चमानां खाध्ययोग्ययेक्षया त्वसद्वेद्यादीनाम् । कथमाश्च छदाः । केन, अध्यातमयोगेन अध्यातम-न्यातमनः प्रणिधानेन, किं केवछा, नेत्याइ-निरोधिनी प्रतिषेधयुक्ता । कस्यास्वस्यागमनस्य कर्मणामित्यत्रापि योज्यम् । कृत इत्याह, परीषद्दाणां झुधादिदुःखमेदानामादिशन्दाहेवादिकृतोपसर्गवाधानां चाविज्ञानादस्वेदनात् । तथा चोक्तम्—

'' यस्य पुण्यं च पापं च, निष्फलं गलति स्वथम् । स योगी तस्य निर्वाणं, न तस्य पुनरास्ववः''।।२४६॥-आत्मानुगासनम्

" तथा ह्यचरमाङ्गस्य, ध्यानमभ्यस्यतः सदा। निर्ज्या संवरश्चास्य सकलाञ्चमकर्मणाम् " ॥२२५॥-तस्वानुज्ञासनम्

" आत्मदेहान्तरज्ञानजनिवाल्हादनिर्शृतः । तपसा दुःप्कृतं घोरं भुज्ञानोऽपि न खिद्यवे " ॥३४॥—समाधिशतकम्

एतस्य स्पवहारनपादुन्यते । कुत इत्याशङ्कायां पुनराचार्यं एवाह—सा खल्छ कर्मणी भवति तस्य संबन्धस्तदा क्रथमिति । वस्य आकर्णयं खल्छ यसमारक्षा एकदेशेन विश्वेष्ठस्वष्ठणा निर्करा कर्मणः चिस्तामान्यानुविधायिपुद्ररूपिणामरूपस्य द्रव्यकर्भणः संबन्धसारक्ष एकदेशेन विश्वेष्ठस्वणा निर्करा कर्मणः चिस्तामान्यानुविधायिपुद्ररूपिणामरूपस्य द्रव्यकर्भणः संबन्धसार्वा द्रव्यकर्मणः संवन्धः योगिनः स्वरूपमात्रावस्थानकार्वे संबन्धः प्रत्यासित्तरात्मना सह । कथं केन सयोगादिप्रकारेण संभवति १ स्ट्रमिश्वकया समीक्षत्व न क्रथमि संभवतीत्थयः । यदा खल्बात्मेव ध्यानं ध्येयं च स्थाचदा सर्वास्मायः प्रयद्रव्याद् व्याद्यस्य स्वरूपमात्रवाद्यस्य द्रव्यान्तरेण संवन्धः र्याःचस्य द्विष्ठत्वात् । न चेतत्संवारिणो न संभवतीति वाच्यं । संस्यात्रवाद्यस्य योगिनो मुक्तस्यवत् पञ्चहस्वस्वरोचारणकाल यावन्तयावस्थानसंभवात् कर्मक्षपणामिष्ठस्यस्य लक्षणोन्तकृष्टगुक्करेश्यासंस्कारविवादानमात्रकर्मणस्वन्दरूपलव्दरणात् । तथा चोकं परमागर्म—

" सीलेविं संपत्तो, णिरुद्धणिस्सेषआसवो जीवो । वस्मस्यविष्यमुको, गरजोगो केवली होदि " ॥ ६५ ॥ —गोम्मरसारः जीवकांड । श्रूयतां चास्यैवार्थस्य संग्रहरुकोकः ॥ २४ ॥

अर्थ---आत्मामें आत्माके चिंतवनस्य ध्यानसे परीपहादिकका अनुभव न होनेसे कमेंकि आगमनको रोकनेवाठी कर्म-निर्वरा शीघ होती हैं। विश्वादार्थ — अध्यात्मयोगसे आत्मामें आत्माका ही ध्यान करनेसे कमोंकी निर्जरा (एकदेशसे कमोंका क्षय हो जाना, कमोंका सम्वंध छूट जाना) हो जाती है। उसमें भी जो सिद्धयोगी हैं, उनके तो अशुभ तथा शुभ दोनों ही प्रकारोंके कमोंकी निर्जरा होजाती है। और जो साध्ययोगी हैं, उनके असातावेदनीय आदि अशुभ कमोंकी निर्जरा होती है। कोरी निर्जरा होती हो सो बात नहीं है। अपि तु भुख-प्यास आदि हु:खके भेदों (परीषहों) की तथा देवादिकोंके द्वारा किये गये उपसर्गोंकी वाधाको अनुभवमें न ठानेसे कमोंके आगमन (आसव) को रोक देनेवाठी निर्जरा भी होती है। जैसा कि कहा भी है:—" यस्य पुण्यं च पाएं च०"

" जिसके पुण्य और पापकर्म, विना फल दिये स्वयमेव (अपने आप) गल जाते हैं—खिर जाते हैं, नहीं योगी है। उसको निर्वाण हो जाता है। उसके फिर नवीन कर्मोंका आगमन नहीं होता। इस क्लोक द्वारा पुण्य-पापलप दोनों ही प्रकारके कर्मोंकी निर्वरा होना वतलाया है। और भी तत्त्वानुशासनेमें कहा है—" तथा ह्य-समांगस्थ० "

चरमशरीरीके ध्यानका फल कह देनेके वाद आचार्य अचरमशरीरीके ध्यानका फल बतलाते हुए कहते हैं—कि जो सदा ही ध्यानका अग्यास करनेवाला है, 'परन्तु जो अचरमशरीरी है, (तद्भवमोक्षगामी नहीं है) ऐसे ध्याताको सम्पूर्ण अशुभ कर्मोंकी निर्जरा व संबर होता है। अर्थात वह प्राचीन एवं नवीन समस्त अशुभ कर्मोंका संवर तथा निर्जरा करता है। इस खलेक द्वारा पापरूप कर्मोंकी ही निर्जरा व उनका संबर होना बतलाया गया है। और भी प्रज्यपादस्वामीने समाधिशतकों कहा है—" आस्मेदहान्तरज्ञान०"

" आत्मा व शरीरके विवेक (भेद) ज्ञानसे पैदा हुए आनन्दसे परिपूर्ण (युक्त) योगी, तपस्याके द्वारा भयंकर उपसर्गों व योर परीषहोंको भोगते हुए भी खेद-खिन्न नहीं होते हैं।

यह सब व्यवहारनयसे कहा जाता है कि बन्धवाठे कर्मोंकी निर्जरा होती है, परमार्थसे नहीं । कदाचित तुम कहो कि ऐसा क्यों ? आचार्य कहते हैं कि वत्स ! सुनो, क्योंकि एकदेशसे सम्बन्ध झुटजाना, इसीको निर्जरा कहते हैं । वह निर्जरा कर्मकी (चित्सामान्यके साथ अन्वयव्यतिरेक रखनेवाठे पुद्रठोंके परिणामस्त्य द्रव्यकर्मकी) हो सकती है । क्योंकि संयोगपूर्वक विभाग दो द्रव्योंमें ही वन सकता है । अब जरा बारीक दृष्टिसे विचार करो कि उस समय जब कि योगी पुरुष खरूपमात्रमें अवस्थान कर रहा है, उस समय द्रव्यकर्मका आत्माके साथ संयोगादि सम्बन्धोंमेंसे कौनसा सम्बन्ध हो सकता है ? मतरुव यह है कि किसी तरहका सम्बन्ध नहीं वन सकता । जिस समय आत्मा ही व्यान और ध्येय हो जाता है, उस समय हर तरहसे आत्मा परद्रव्योंसे

1

च्यावृत होकर केवठस्वरूपमें ही स्थित हो जाता है। तव उसका दूसरे द्रव्यसे सम्बन्ध कैसा ? क्यों कि सम्बन्ध तो दोमें रहा करता है, एकमें नहीं होता है।

यह भी नहीं कहना कि इस तरहकी अवस्था संसारीजीवभें नहीं पाई जाती। कारण कि संसारस्त्री समुद्र-तटके निकटवर्ती अयोगीजनोंका मुक्तात्माओंकी तरह पंच हस्व अक्षर (अ इ उ ऋ छ) के बोछनेमं जितना काठ रुगता है, उतने काठतक वैसा (निर्वन्ध-बन्ध रहित) रहना सम्भव है।

शीघ्र ही जिनके समस्त कर्मीका नाश होनेवाला है, ऐसे जीवों (चौदहवें गुणस्थानवाले जीवों) में भी उत्कृष्ट गुक्तलेश्याके संस्कारके वशसे उतनी देर (पंच हस्व अक्षर बोलनेमें जितना समय लगता है, उतने समय) तक कर्मपरतन्त्रताका व्यवहार होता है जैसा कि परमागममें कहा गया है—" सीलेसिं संपत्तो॰"

" जो शीठोंके ईश्चल (स्वामित्व) को प्राप्त हो गया है, जिसके समस्त आस्रव ६क गये हैं, तथा जो कर्मस्वपी धूठीसे रहित हो गया है, वह गतयोग-अयोगकेवळी होता है "॥ २४॥

दोहा—परिषहादि अनुभव विना, आतम-स्यान प्रताप । शीद्य ससंवर निर्करा, होत कर्मकी आप ॥ २४ ॥ उपरितिखित अर्थको बतलानेवाला और भी श्लोक सुनो— कटस्य कर्त्ताहामिति, संबन्धः स्याद द्वयोर्द्वयोः ।

ध्यानं ध्येयं यदात्मैव, संबन्धः कीदृशस्तदा ॥ २५ ॥
अन्वय-अहं कटस्य कर्ता इति द्वयोर्द्वयोः संबन्धः स्यात्, यदा आत्मैव ध्यानं ध्येयं तदा
कीदृशः संबन्धः ।

टीका—स्याद् भवेत् । कोषी, संकथः द्रव्याविना प्रत्यावितः । कथिईयोः कथिद् भिन्नयोः पदार्थयोः इति अनेन छोकप्रसिद्धेन प्रकारेण कथिमिति यथाहमस्मि । कीहराः, कर्तां निर्माता । कस्य, कटस्य वंशादलानां जलादि-प्रतिकथाद्यर्थस्य परिणामस्य । एवं संकथस्य द्विष्ठतां प्रदर्भ प्रकृतेन्वेतिरेकमाह । व्यावमित्यादि व्यायते येन व्यायति वा यस्तद्वयानं व्यातिक्रियां प्रति करणं कर्तां वा । उत्ते च—

" ध्यायते येन तद्धधानं, यो ध्यायति स एव वा । यत्र वा ध्यायते यद्वा, ध्यातिर्वा ध्यानमिध्यते ?" ॥६७॥ —तस्यानुशासनम्

ध्याय इति ध्येयं वा ध्यातिक्रियया ध्याव्यं । यदा यस्मिन्नास्मनः परमास्मना सहैकीकरणकाले आसीन निन्मात्रमेव स्थातदा कीहर्शः संयोगादिष्रकारः संबन्धो द्रव्यकर्मणा सहात्मनः स्थात् येन नायतेध्यास्मयोगेन कर्मणामाशु निर्नेरित परमार्थतः कथ्यते । अत्राह शिष्यः—तिष्ट् कथं अप्रतिपक्षश्च मोक्ष इति भगवन् यद्यात्मकर्मनन्वस्ते, द्रव्ययोरध्यात्मयोगेन निर्केषः कियते । तिष्ट् कथं केनोपायप्रकारेण त्योवन्यः परस्पत्रदेशानुप्रवेशलक्षणः संस्त्रप्र स्यात् । तत्पूर्वकावाद्विकेपस्य कथं च तत्प्रतिपक्षो यन्विवरोधी मोक्षः सकलकर्मिनिरुप्रलक्षणो जीवस्य स्थात्तस्यवानन्त-सुखहेतुत्वेन योगिमिः प्रार्थनीयत्वात् । गुक्सह्—॥ २५ ॥ अर्थ:—" में चटाईका वनानेवाला हूँ " इस तरह जुदा जुदा दो पदार्थेमिं सम्वन्ध हुआ करता है। जहाँ आत्मा ही ध्यान, ध्याता (ध्यान करनेवाला)और ध्येय हो जाता है, वहा सम्बंध कैसा ?

चिश्रादार्थ—लोकप्रसिद्ध तरीका तो यही है, कि किसी तरह भिन्न (खुदा छुदा) दो पदार्थों में संवन्य हुआ करता है। जैसे वांसकी खपचियोंसे जलादिक में संवंधसे वननेवाली चटाईका में कर्ता हूँ—जनानेवाला हूँ। यहाँ वनानेवाला 'मैं' खुदा हूँ और वननेवाली 'चटाई' खुदी है। तभी उनमें 'कृतक में 'नामका सम्वंव हुआ करता है। इस प्रकार सम्वंव द्विष्ठ (दो में रहनेवाला) हुआ करता है। इसको वतलाकर, प्रकृतमें वह वात (भिन्नता) विलक्षल भी नहीं है इसको दिखलाते हैं।

"ध्यायते येन, ध्यायति वा यस्तद् ध्यानं, ध्यातिकियां प्रति करणं कर्ता च "-जिसके द्वारा ध्यान किया जाय अर्थात् जो ध्यान करतेमें करण हो—साधन हो उसे ध्यान कहते हैं। तथा जो ध्याना है—ध्यानका कर्ता है, उसे भी ध्यान कहते हैं, जैसा कि कहा भी है—"ध्यायते थेन तद ध्यानं०"

" जो ध्येञ् चिन्तायाम्" घातुका व्याप्य हो अर्थात् जो ध्याया जावे, उसे ध्येय कहते हैं। परंतु जव आत्माका परमात्माके साथ एकिक्तण होनेके समय, आत्मा ही चिन्मात्र हो जाता है, तव संयोगादिक प्रकारोंमेंसे द्रव्यकमोंके साथ आत्माका कौनसे प्रकारका सम्बन्ध होगा ? जिससे कि "अध्यात्मयोगसे कमोंकी ग्रीघ निर्जरा हो जाती है" यह बात परमार्थसे कही जावे। भावार्थ यह है कि आत्मासे कमोंका सम्बन्ध छूट जाना निर्जरा कहठाती है। परंतु जव उद्ध्वष्ट अद्दैत ध्यानावस्थामें किसी भी प्रकार कर्मका सम्बन्ध नहीं, तब छूटना किसका ? इसिटिये सिद्धयोगी कहो या गतयोगी अथवा अयोगकेविंग कहो, उनमें कर्मोंकी निर्जरा होती है, यह कहना व्यवहारनयसे ही है, परमार्थसे नहीं। "॥२५॥

दोहा— ' करका मैं कर्तार हूँ '' यह है द्विष्ठ सम्बन्ध । आप हि ध्याता ध्येय जहूँ, कैसे भिन्न सम्बन्ध ॥ २५ ॥

यहाँपर शिष्यका कहना है कि भगवन ! यदि आत्मद्रव्य और कर्मद्रव्यका अध्यालयोगके बल्य न होना बतलाया जाता है, तो फिर किस प्रकारसे उन दोनोंमें (आत्मा और कर्मस्य पुद्रगल द्रव्योंमें) परस्पर एकके प्रदेशोंमें इसरेके प्रदेशोंका मिलजाना रूप बंध होगा ? वयोंकि बन्याभाव तो बंधपूर्वक ही होगा । और वंधका प्रतिपक्षी, संपूर्ध कर्मोंकी विभुक्तावस्या रूप मोक्ष भी जीवको कैसे बन सकेगा ? जो कि अविच्लिन अविनाशी सुखका कारण होनेसे योगियोंके द्वारा प्रार्थनीय हुआ करता है ? आचार्य कहते हैं—

वध्यते मुच्यते जीवः, समसो निर्मसः क्रमात्। तस्मात्सर्वश्रयत्नेन, निर्ममत्वे विचिन्तयेत्॥ २६॥ अन्वय—सममः निर्ममः जीवः क्रमात् बध्यते सुच्यते तस्मात् सर्वत्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिन्तयेत् ।

दीकाः :---ममेत्यन्वयं ममेद्रिमत्यिमिनिवेशार्थमन्वयानामनेकार्थत्वात् तेन सममो ममेद्रिमत्यिमिनिवेशाविष्टी अहमस्येत्यभिनिवेशाविष्टश्चोपलक्षणत्वात् जीनः कर्ममिर्वच्यते । तथा चोक्तम् ---

" न कर्मबहुळ जगज्ञचलनात्मकं कर्म्म वा न नैककरणानिवान चिदचिद्विषो बन्बङ्कत । यदैक्यमुपयोगसः समुर्गात रागादिभिः, स एव किल केवलं भवति बन्बहेतुर्नृणाम् " ॥२॥—नाटकसमयसारकल्शाः बन्धोऽधिकारः । —अनगारधर्मामृते षक्षोऽप्यायः पु० २०५

यदैक्यमुपयोगभूसमुपरी अतिरागादिमिः स एव फिल केवलं भवति बन्धहेतुर्नृणम् । तथा र एव जीवो निर्मेमस्तिदिपरीतस्तैर्भुच्यत इति यथासंख्वेन योजनार्थे क्रमादित्युपासाम् । उक्तं च—

" अकिचनोऽहमित्यास्व, त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः । योगिगम्यं तव प्रोक्तं, रहस्यं परमातमः "॥ ११०॥
—आत्मानुशासनम्

अथवा "रागी बधाति कर्माणि, वीतरागो विमुखति । जीवो जिनोपदेशोऽयं, संक्षेपाद्दन्त्रमोक्षयोः"॥ ——ज्ञानार्णवः पृ० २४२

यसादेर्वे तस्मात्वर्वप्रयत्नेन त्रताचवघानेन मनोवाक्कायप्रणिधानेन वा निर्ममत्वं विचिन्तयेत् ।

मत्तः कायादयो भिन्नास्तेभ्योऽहमपि तस्वतः । नाहमेषा किमप्यस्मि समाप्येते न किचन ॥ इत्यादि तज्ञानभावनया सुमुक्षचिरोषेण भावयेत् । उक्तं च---

"निवृत्तिं भावयेद्याविक्षर्थितं तदभावतः । न वृत्तिर्ने निवृत्तिक्ष, तदेव पदमव्ययं" ॥ २२६ ॥-आस्मानुशासनम् अथाह् शिष्यः —कथं नु तदिति निर्ममस्विविचन्तनोपायप्रश्रोऽयम् अथ गुरस्तत्प्रक्षियां मम विवस्य का स्पृहेति यावदुपदिशति —॥ २६ ॥

अर्थ---" ममतावाठा जीव वॅधता है और ममता रहित जीव मुक्त होता है। इसिटिये हर तरहसे पूरी कोशिशके साथ निर्ममताका ही ख्याठ रक्खे।"

विश्वादार्थ — अन्ययों के अनेक अर्थ होते हैं, इसिलिये, "मम" इस अन्ययका अर्थ 'अभिनिवेश 'है, इसिलिये 'समम ' किहये 'मेरा यह है ' इस प्रकारके अभिनिवेशवाला जीव भी कमोंसे बँधता है। उपलक्षणसे यह भी अर्थ लगा लेना कि 'मैं इसका हूँ ' ऐसे अभिनिवेशवाला जीव भी बँधता है, जैसा कि अस्तचन्द्राचार्यने समयसारकलशर्में कहा है—

" न कर्मबहुलं जगन्न० "

अर्थ—न तो कर्मस्कंघोंसे मरा हुआ यह जगत् बंघका कारण है, और न हलन-चलनादिस्प किया ही, न इन्द्रियाँ कारण हैं, और न चेतन अचेतन पदार्थोंका विनाश करना ही बन्धका कारण है। किन्तु जो उपयोगस्त्पी जमीन रागादिकोंके साथ एकताको प्राप्त होती है, सिर्फ वही अर्थात् जीवोंका रागादिक सिहत उपयोग ही बन्धका कारण है। यदि वही जीव निर्मम-रागादि रहित-उपयोगवाला हो जाय, तो कर्मोंसे झुट जाता है। कहा भी है कि—"अर्किचनोऽह॰" मैं अर्किचन हूँ, मेरा कुछ भी नहीं, बस ऐसे होकर बैठे रहो और तीन छोकके स्वामी हो जाओ । यह तुम्हें बड़े योगियोंके द्वारा जाने जा सकने छायक परमात्माका रहस्य वतछा दिया है।

और भी कहा है—"रागी चध्नाति कर्माणि०" रागी जीव कर्मोंको बाँधता है। रागादिसे रहित हुआ जीव मुक्त हो जाता है। वस यही संक्षेपमें वंध मोक्ष विषयक जिनेन्द्रका उपदेश है। जब कि ऐसा है, तब हरएक प्रयत्नसे व्रतादिकोंमें चित्त लगाकर अथवा मन, वचन, कायकी सावधानतासे निर्ममताका ही ख्याल रखना चाहिये "मतः कायादयो मिन्नास्०"

" शरीरादिक, मुझसे भिन्न हैं, मैं भी परमार्थसे इनसे भिन्न हूँ, न मैं इनका कुछ हूँ, न मेरे ही ये कुछ हैं।" इत्यादिक श्रुतज्ञानकी भावनासे मुमुक्षुको भावना करनी चाहिये। आत्मानुशासनमें गुणभद्रस्वामीने कहा है।—" निवृत्तिं भावयेत्०"

जबतक मुक्ति नहीं हुई तबतक परद्रव्योंसे हटनेकी भावना करे। जब उसका अभाव हो जायगा, तब प्रवृत्ति ही न रहेगी। वस वही अविनाशी पद जानो ॥ २६॥

> दोहा—मोही वॉधत कर्मको, निर्मोही छुट जाय। यातें गाड़ प्रयत्नसे, निर्ममता उपजाय॥२६॥

यहाँपर शिष्य कहता है कि इसमें निर्ममता कैसे होने ? इसमें निर्ममताके चिंतवन करनेके उपायोंका सवाल किया गया है। अब आचार्य उसकी प्रक्रियाको "एकोऽई निर्ममः " से प्रारंभ कर "मम विज्ञस्य का स्पृहा " तकके रलोकों द्वारा बतलाते हैं।

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो, ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः । बाह्याः संयोगजा भावा, मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा ॥ २७ ॥

अन्वय-अहं एकः निर्ममः शुद्धः ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः संयोगजाः सर्वेऽपि भावा मत्तः सर्वया वाह्याः ।

दीका — द्रव्यार्थिकनयादेकः पूर्वापरपर्यायानुस्यूतो निर्ममो समेदमहमस्वेस्यमिनिवेशसून्यः ग्रद्धः श्रद्धनयादे-श्राव् द्रव्यभावकमीनिर्मुक्तो शानी स्वपरप्रकाशस्त्रमायो योगीन्द्रगोचरोऽनन्तपर्यायिविश्वष्टस्या केवलिनां श्रद्धोपयोगमात्रम-यादेन श्रुतकेलिनां च संवेद्योहमात्मास्मि ये तु संयोगाद् द्रव्यकर्मसंबन्धायाता मया संह संवान्धं प्राप्ता भावा देहादयस्ते सर्वेऽपि मक्तो मत्सकाशास्त्रवैया सर्वेण द्रव्यादिप्रकारेण बाह्या मिन्नाः सन्ति पुनर्भावक एवं विमृशति संयोगान्तिमिति देहादिमिः संवन्धादेहिनां कि फलं स्यादित्यर्थः। तत्र स्वयमेव समावक्ते,—॥ २७॥

अर्थ—में एक, ममता रहित, शुद्ध, ज्ञानी, योगीन्होंके द्वारा जानने ठायक हूँ । संयोगजन्य जितने भी देहादिक पदार्थ हैं, वे मुझसे सर्वथा चाहिरी-मिन्न हैं ।

विश्रादार्थ-में द्रव्यार्थिकनयसे एक हूँ, पूर्वापर पर्यायोंमें अन्वित हूँ । निर्मम हूँ-' मेरा यह '' मैं इसका ' ऐसे अभिनिवेशसे रहित हूँ । शुद्ध हूँ, शुद्धनयकी अपेक्षासे, द्रव्यकर्म भावकर्मसे

रहित हूँ, केविलियोंके द्वारा तो अनन्त पर्याय सिहत रूपसे और श्रुतकेविलियोंके द्वारा शुद्धोपयोगमात्र-रूपसे जाननेमें आसकने ठायक हूँ, ऐसा मैं आत्मा हूँ, और जो संयोगसे-द्रव्यकमींके संग्वन्धसे प्राप्त हुए देहादिक पर्याय हैं, वे सभी मुझसे हर तरहसे (द्रव्यसे गुणसे पर्यायसे) विन्कुल 'छुंदे हैं ॥२७॥

दोहा—में इक निर्मम ग्रुद्ध हूँ, ज्ञानी योगीगस्य । कर्मोंदयसे भाव सब, मोते पूर्ण अगस्य ॥ २७ ॥

फिर भावना करनेवाला सोचता है कि देहादिकके सम्बंधसे प्राणियोंको क्या होता है ? क्या फल मिलता है ? उसी समय वह स्वयं ही समाधान भी करता है कि—

> दुःखसंदोहभागित्वं, संयोगादिह देहिनाम् । त्यज्ञाम्येनं ततः सर्वं, मनोवाकायकर्मभिः ॥ २८ ॥

अन्वय—इह संयोगात् देहिनां दुःखसंदोहभागित्वं ततः एनं सर्वमनोवायकायकर्मभिः त्यजामि ।

दीका — दुःखानां संदोहः समूहस्तद्भागित्व देहिनामिह संसरे संयोगाहेहादिसंबन्धान्तवेत् । यत्रधैवं तत एनं संयोगं सर्वं निःशेषं त्यनामि । कैः क्रियमाणं, मनोवाकायकर्ममिर्मेनोवर्गणाद्यालम्बर्गरात्मप्रदेशपरिस्यन्दैस्तेव त्यनामि । अयमभिप्रायो मनोवाकायान्मतिपरिस्यन्दमानानात्मप्रदेशान् भावतो निस्न्थामि । तन्नेदाभेदाभ्यासमूल्स्ना-सुखदुःखैकफलनिर्दृतिसंस्रयोः । तथा चोक्तम्—

"स्वबुद्धा यतु गृह्णीयात्कायवाक्चेतला त्रयम् । संसारस्तावदेतेषां, तदाभ्यासेन निर्वृतिः" ॥ ६ २॥ -समाधिशतकम्

पुनः स एवं विमृश्यति—पुद्रलेन किल संयोगस्तदपेक्षा मरणादयस्तद्वयथाः कथं परिह्रियन्त इति । पुद्रलेन देहासम् मूर्ततद्वयण स् किल आगमे श्रूयमाणो जीवस्य संबन्धोऽस्ति तदपेक्षाश्च पुद्रलसंयोगनिमित्ते मरणादयो मृत्युरोगादयः संभवन्ति । तद्यथा मरणादयः संभवन्ति । सरणादि संवन्धिन्यवाषा । कयं, केन भावनाप्रकारेण मया परिह्यिन्ते। तद्यिम्मयः कथं निवार्यत इत्यर्थः । स्वयमेव समाधत्ते;—॥ २८॥

अर्थ—इस संसारमें देहादिकके सम्बंधसे प्राणियोंको दुःख-समृह भोगना पड़ता है—अनन्त क्षेत्र भोगने पढ़ते हैं, इसिलिये इस समस्त सम्बंधको जो कि मन, वचन, कायकी िक्यासे हुआ करते हैं, मनसे, वचनसे, कायसे छोड़ता हूँ। अभिप्राय यह है कि मन, वचन, कायका आलम्बन लेकर चचल होनेवाले आल्माके प्रदेशोंको भावोंसे रोकता हूँ। 'आल्मा, मन वचन कायसे भिन्न है, ' इस प्रकारके अग्याससे सुखल्प एक फलवाले मोक्षकी प्राप्ति होती है, और मन, वचन, कायसे आल्मा अभिन्न है, इस प्रकारके अग्याससे दुःखल्प एक फलवाले संसारकी प्राप्ति होती है, जैसा कि प्रज्यादस्वामीने समाधिशतकमें कहा है—" स्वद्धद्वाया यतु गृह्णियात् "

" जबतक शरीर, वाणी, और मन इन तीनोंको ये 'स्व हैं-अपने हैं ' इस रूपमें गृहण करता रहता है। तबतक संसार होता है, और जब इनसे भेद-खुद्धि करनेका अभ्यास हो जाता है, तब मुक्ति होजाती है। "॥ २८॥ दोहा — प्राणी जा संयोगते, दुःख समृह लहात । याते मन पच काय युत, हूँ तो सर्व तजात ॥ २८॥

फिर भावना करनेवाला सोचता है कि पुद्रल-शरीरादिकरूमी मूर्तद्रव्येक साथ जैसा कि आगममें सुना जाता है, जीवका सम्बंध है। उस सम्बंधके कारण ही जीवका मरण व रोगादिक .होते हैं, तथा मरणादि सम्बंधी वाधायें भी होती हैं। तब इन्हें कैसे व किस भावनासे हटाया जावे? वह भावना करनेवाला स्वयं ही समाधान कर लेता है।कि—

> न में मृत्युः कुतो भीतिर्न में न्याधिः कुतो न्यथा । नाहं नास्रो न मुद्धोहं, न युवैतानि पुद्गले ॥ २९ ॥

अन्वय—मे मृत्युर्न, कुतः मीतिः मे व्याधिर्न व्यया कुतः, वहं न पालः, नाहं वृद्धः, न युवा, एतानि पुरुले ।

दीका—न मे एकोऽहिमित्यदिना निश्चितात्मस्षरूपस्य मृत्युः प्राणत्यामो नास्ति । विच्छक्तिळक्षणभावप्राणानां कदा विदिष् त्यागाभावात् । यतश्च से मरणं नास्ति ततः कुतः करमात्मरणकारणाकृष्णवर्गदेमीतिभैयं सम स्यात्र कृतिश्चिद् विभेमीत्ययः । तथा व्याधिर्वातादिदोषवेपस्य सम नास्त्रि मूर्णंद्वविद्यत्वाद्वातादीनाम् । यतश्चैयं ततः कस्मात् व्याद्यत्वादितात् सम्याद्या यालायवस्या नाहमस्मि ततः कर्यं यालायवस्याप्रमवैः दुःवेरितभूयेय अहमिति वामर्थ्याद्व दृष्ट्वस्य । तिर्हे क सृत्यु अस्मिति वामर्थ्याद्व दृष्ट्वस्य । तिर्हे क सृत्यु अस्मिति वामर्थ्याद्व दृष्ट्वस्य । तिर्हे क सृत्यु विद्याद्व विद्याद्व प्राण्याद्व । सृत्यु व्याधियाल्याद्व विद्याद्व विद्याद विद्य विद्याद विद्याद विद्याद विद्याद विद्याद विद्याद विद्याद विद्य विद्याद विद्या

अर्थ — मेरी मृत्यु नही तव डर किसका १ मुझे व्याधि नहीं, तव पीड़ा कैसे १ न में वालक हूँ, न बूड़ा हूँ, न जवान हूँ । ये सब बातें (दशाएं) पुत्रलमें ही पाई जाती हैं।

विश्वादार्थ—"एकोहं निर्ममः शुद्धः" इत्यादिरूपसे जिसका स्वस्वरूप निश्चित हो गया है, ऐसा जो मैं हूँ, उसका प्राणत्यागरूप मरण नहीं हो सकता, कारण कि चिवशक्तिरूप माव-प्राणोंका कभी भी विछोह नहीं हो सकता। जब कि मेरा मरण नहीं, तब मरणके कारणस्त काले नाग आदिकोंसे मुझे मय क्यों ? अर्थात् मैं किसीसे भी नहीं डरता हूँ। इसी प्रकार वात, पित्त, कक्त आदिकी विषमताको व्याधि कहते हैं, और वह मुझे है नहीं, कारण कि बात आदिक मूर्त-पदार्थिसे ही सम्बंध रखनेवाले हैं। जब ऐसा है, तब ज्वर आदि विकारोंसे मुझे व्यथा तकलीफ कैसी ? उसी तरह मैं बाल युद्ध आदि अवस्थाओंसे पैदा होनेवाले दुःखों-क्लेशोंसे मैं कैसे दुःखी हो सकता हूँ ? अच्छा यदि मृत्यु क्योस आत्मामें नहीं होते, ता किसमें होते हैं ? इसका जवाब यह है कि 'एतानि पुद्धले' ये मृत्यु-व्याधि और बाल युद्ध

आदि दशाएं पुदल-मृतं शरीर आदिकोंमें ही हो सकती हैं। कारण कि ये सब मृतिमान पदार्थोंके धर्म हैं। मैं तो अमृतं हूँ, मुझमें वे कदापि नहीं हो सकतीं।

> दोहा—मरण रोग मोमें नहीं, तातें खदा निशंक । बाल तरुण नहिं नृद्ध हुँ, ये सब पुद्रल अंक ॥ २९॥

फिर भी भावना करनेवाला खुद शंका करता है, कि यदि कही हुई नीतिके अनुसार मुझे भय आदि न होवे न सही परन्तु जो जन्मसे लगाकर अपनाई गई थी और भले ही जिन्हें मैंने भेद-भावनाके बल्से छोड़ दिया है, ऐसी देहादिक वस्तुएँ, चिरकालके अन्यस्त-अभेद संस्कारके बशसे पश्चात्ताप करनेवाली हो सकती हैं कि 'अपनी इन चीजोंको मैंने क्यों छोड़ दिया?'

भावक-भावना करनेवाला स्वयं ही प्रतिबोध हो सोचता है कि नहीं, ऐसा नहीं हो सकता है, कारण कि---

> भुक्तोिङ्झता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गठाः । उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य, मम विज्ञस्य का स्पृहा ॥ ३० ॥

अन्वय—मोहात् सर्वेऽपि पुद्रलाः मया सुहुर्भुक्तोज्झिताः उच्छिष्टेप्विव तेषु अद्य विज्ञस्य मम का स्पृहा ।

दोका—मोहादिवद्यावेशवशादनादिकाळं कर्मादिभावेनोशादाय सर्वे पुद्रळा मया संसारिणा जीवेन वारं वारं पूर्वेमनुभूताः पश्चाच नीरसीकृत्य त्यक्ताः यतश्चेवं तत उच्छिष्टेचिय मोजनगन्धमात्यादिषु स्वयं भुक्तवा त्यक्तेषु यथा छोकस्य तथा में नंप्रति विश्वस्य तस्वशानगरिणतस्य तेषु फेळाकस्य तथा में नंप्रति विश्वस्य तस्वशानगरिणतस्य तेषु फेळाकस्य तथा में नंप्रति विश्वस्य तस्वशानगरिणतस्य तेषु फेळाकस्य तथा में नंप्रति विश्वस्ति पश्चे केम प्रकारेण पुद्रळा जीवेन नियतसुगदीयन्ते इत्यर्थः । गुक्ताइ ना ३० ॥

अर्थ—मोहसे मैंने समस्त ही पुद्धलोंको बार वार भोगा, और छोड़ा । भोग भोगकर छोड़ दिया । अब चुठनके लिए (मानिन्द) उन पदार्थोंमें मेरी क्या चाहना हो सकती है ? अर्थात् उन भोगोंके प्रति मेरी चाहना-इच्छा ही नहीं है ।

विश्वदार्थ—अविद्याने आवेशके वशसे अनादिकालसे ही मुझ संसारीजीवने कर्म आदिके रूपमें समस्त पुद्रलोंको बार बार पहिले मोगा, और पीछा उन्हें नीरस (कर्मत्वादि रहित) कर करके छोड़ दिया। जब ऐसा है, तब स्वयं भोगकर छोड़ दिये गये जुँठन-उच्छिष्ट मोजन, गन्य, मालादिकोंमें जैसे लोगोंको फिर मोगनेकी स्पृहा नहीं होती, उसी तरह इस समय तत्वज्ञानसे विशिष्ट हुए मेरी उन छिनकी हुई रेंट (नाक) सरीखे पुद्रलोंमें क्या आमलापा हो सकती है ? नहीं नहीं, हरगिज नहीं। भैया! जब कि तुम मोक्षार्थी हो तब तुन्हें निर्ममत्वकी ही भावना करनी चाहिये॥ ३०॥

९ फेलाभुक्तसमुन्सितम् । अ. । मुक्तवा त्यक्तमित्यर्थः ।

दोहा—सव पुत्रलको मोहसे, भोग भोगकर त्याग । में बानी करता नहीं, उस उच्छिप्टमें राग ॥ ३०॥

यहाँपर शिष्य कहता है कि वे पुद्रल क्यों वेंध जाते हैं ? अर्थात् जीवके द्वारा पुद्रल क्यों और किस प्रकारसे हमेशा बन्यको प्राप्त होते रहते हैं ?

आचार्य उत्तर देते हुए कहते हैं:--

कर्म कर्मिहितावन्धि, जीवो जीवहितस्पृहः । स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे, स्वार्थ को वा न वाञ्छति ॥ ३१ ॥

" कत्यिव यिल्ओ जीवो, कत्यिव कम्माइ हुंति यिलयाइ । जीवस्य य कम्मस्य य, पुञ्चिवदद्धाइ वहराइ ॥ प्र इत्यभिधानात्पूर्वीपार्जितं वरुवत्कर्मे कर्मणः स्वस्यय हितमाबझाति जीवस्यौदयिकादियावसुद्धाव्य नवनवकर्माधायकत्वेन स्वसंतानं पुरुणातीत्पर्यः । तथा चोक्तम्—

" जीवकृतं परिणामं, निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये । स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्ममावेन " ॥ १२ ॥
— पुरुषार्थसिद्धग्रपायः

''गरिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमिष स्वकैभावैः। भवति हि निमित्तमात्रं, पौद्रलिकं कमे तस्यापि' ॥१३॥ —पुरुषार्येभिद्रशुपायः

तथा जीवः कालादिल्रव्या बलवानारमा जीवस्य स्वस्यैव हित्तमनन्तमुखहेतुत्वेनोपकारकं मोधामाकाङ्क्षति । अत्र दृष्टान्तमाह्-स्वस्वेत्यादि निज निजमाहारम्यवृहुतरत्वे छति स्वायं स्वस्योपकारक वरतु को न वञ्ड्छति छवींप्यमिल्य-तीत्यर्यः । ततो विद्धि कमीलेष्ठो जीवः कर्म सचिनोतीति । यतस्रैवं ततः—॥ ३१॥

अर्थ—कर्म कर्मका हित चाहते हैं। जीव जीवका हित चाहता है। सो ठीक ही है, अपने अपने प्रभावके बढ़नेपर कौन अपने स्वार्थको नहीं चाहता। अर्थात सब अपना प्रभाव बढ़ाते ही रहते हैं।

विश्रादार्थ—कभी जीव बलवान होता तो कभी कर्म बलवान हो जाते हैं। इस तरह जीव और कमींका पहिलेसे (अनादिसे) ही कैर चला आरहा है। ऐसा कहनेसे मतल्य यह निकला कि पूर्वीपार्जित बलवान द्रव्यकर्म, अपना यानी द्रव्यकर्मका हित करता है अर्थात द्रव्यकर्म, जीवमें औदियक आदि भावोंको पैदा कर नये द्रव्यकर्मोंको ग्रहणकर अपनी संतानको पुष्ट किया करता है, जैसा कि अमृतचन्द्राचार्यने पुरुषार्थिसद्धचुपार्यमें कहा है—" जीवकृतं परिणामं०" "परिणममानस्य०"

जीवके द्वारा किये गये परिणाम जो कि निमित्तमात्र हैं, प्राप्त करके जीवसे विभिन्न पुद्रल, खुद ब-खुद कर्मस्त्र परिणम जाते हैं। और अपने चेतनात्मक परिणामोंसे स्वयं ही परिणमनेवाले

जीवके लिये वह पौद्गलिककर्म सिर्फ निमित्त बन जाता है । तथा कालादि लिब्धसे बलवान हुआ जीव अपने हितको अनन्त सुखका कारण होनेसे उपकार करनेवाले स्वात्मोपलिब्धस्य मोक्षको चाहता है। यहाँपर एक स्वमावोक्ति कही जाती है कि "अपने अपने माहात्म्यके प्रभावके बढ़नेपर स्वार्थको अपनी अपनी अपनी उपकारक वस्तुको कौन नहीं चाहता ? समी चाहते हैं ॥ ३१॥

ġę

दोहा—कर्म कर्महितकार है, जीव जीवहितकार। निज प्रभाव बळ देखकर, को न स्वार्थ करतार॥ ३१॥

इसल्पिये समझो कि कमोंसि वाँधा हुवा प्राणी कमोंका संचय किया करता है। जबिक ऐसा है तब—

परोपकृतिमुत्सुच्य, स्वोपकारपरो भव । उपकुर्वन्परस्याज्ञो, दृश्यमानस्य स्रोकवत् ॥ ३२ ॥

अन्वय—प्रोप्कृतिं उत्पुज्य स्वोपकारपरो भव दृश्यमानस्य प्रस्य उपकुर्वन् अञ्चः लोकवत् ।

द्वीका—परस्य कर्मणो देहादेवां अविद्यावद्यात् क्रियमाणपुरकारं विद्याभ्यासेन स्वक्त्वास्मानुग्रहप्रधानो भव
त्वम्। किं कुर्वन्तन्, उपकुर्वन् । कस्य, परस्य चर्षया स्वस्ताद्वाद्यस्य इस्यमानस्थिन्द्रयेरनुम्ध्यमानस्य देहादेः। किंविशिष्टो
यतस्त्वं अक्तरतत्वानभिज्ञः किंवक्कोकवत्। यथा कोकः परं परत्वेनाजानंस्तस्योपकुर्वजपि तं तरवेन ज्ञात्या तदुपकारं
स्पक्तः स्वोपकारपरो भवत्येवं त्वमपि भवेत्यर्थः। अथाह शिष्यः। कथं तथोविशेष इति केनोपायेन स्वपरयोभेदो
विज्ञायेत । तद्धि ज्ञातुश्च किं स्यादित्यर्थः । गुरुषह्—॥ ३२ ॥

अर्थ—परके उपकार करनेको छोड़कर अपने उपकार करनेमें तत्पर हो जाओ । इंद्रियोंके द्वारा दिखाई देते हुए शरीरादिकोंका उपकार करते हुए तुम अज्ञ (वास्तविक वस्तुस्थितिको न जाननेवाले) हो रहे हो। तुम्हें चाहिये कि दुनियाँकी तरह तुम भी अपनी मलाई करनेमें लगो।

विद्यादार्थ—पर कहिये कर्म अथवा शरीरादिक, इनका अविद्या-अज्ञान अथवा मोहके वशसे जो उपकार किया जाता रहा है, उसे विद्या सम्यग्ज्ञान अथवा वीतरागताके अभ्याससे छोड़कर प्रधानतासे अपने (आत्माके) उपकार करनेमें तत्पर हो जाओ। तुम सर्वधा अपने (आत्मा) से वाह्य इन्द्रियोंके द्वारा अनुमवमें आनेवाले इन शरीरादिकोंकी रक्षा करना आदि रूप उपकार करनेमें लगे हुए हो। इसिलिय मालूम पहता है कि तुम अज्ञ (वस्तुओंके वास्तविक स्वरूपसे अजान) हो। सो जैसे दुनियाके लोग जबतक दूसरेको दूसरे रूपमें नहीं जानते, तवतक उनका उपकार करते हैं। परन्तु ज्यों ही वे अपनेको अपना और दूसरेको दूसरा जानते हैं, उनका (दूसरोंका) उपकार करना छोड़कर अपना उपकार करनेमें लग जाते हैं। इसी प्रकार तुम भी तत्त्वज्ञानी वनकर अपनेको स्वाधीन शुद्ध बनाने रूप आत्मोपकार करनेमें तर्पर हो जाओ। ३२।।

दोहा—प्रगट अन्य देहादिका, मृद्ध करत उपकार। सञ्जनवत् या भूछ को, तज कर निज उपकार॥ ३२॥ यहाँपर शिष्य कहता है कि किस उपायसे अपने और पर्से विशेषता (भेद) जानी जाती है, और उसके जाननेवालेको क्या होगा ? किस फलकी प्राप्ति होगी ? आचार्य कहते हैं—

गुरूपदेशादभ्यासात्संवित्तेः स्वपरान्तरम् । जानाति यः स जानाति, मोक्षसौख्यं निरन्तरम् ॥ ३३ ॥

अन्वय-यः गुरुपदेशात् अभ्यासात् संवित्तेः स्वपरान्तरं जानाति स मोक्षसीख्यं निरन्तरं जानाति

टीका—यो जानाति । किं तत्स्वपरान्तरं आत्मपरयोमेंदं यः स्वातमानं परसमिद्धन्नं पद्यतीत्पर्यः। कृतः संवित्तेलेक्षणतः स्वट्दपानुभवात् । एपोपि कृताः, अभ्यासात् अभ्यासमावनातः । एपोऽपि गुरूपदेशात् धर्मावार्यस्या-त्मनश्च सुदृदश्यपरिवेकशानोत्पादकवाक्यात् स तथान्यापोदस्वात्मानुभविता मोक्षसीरूपं निरत्तरमिविच्छिन्नमनुभवित । कर्मविविकानुभाव्यविनाभावित्वात्तस्य । तथा चोक्त तस्वानुशासनै,—

'' तदेवानुभवंश्वायमेकामं परमुच्छति । तथात्याधीनमानन्दमेति वाचामगोचरम्"॥१७०॥-तत्त्वानुशाधनम्॥ अथ शिष्यः पृच्छति-कस्तत्र गुरुरिति तत्र मोक्षमुखानुभवनिपये। गुरुराह—॥ ३३॥

अर्थ-- जो गुरुके उपदेशसे अभ्यास करते हुए अपने ज्ञान (स्वसंवेदन) से अपने और परके अन्तर को (भेदको) जानता है। वह मोक्षसम्वंधी गुरुका अनुभवन करता रहता है।

विद्यादार्थ—गुरु किह्ये धर्माचार्य अथवा गुरु किह्ये स्वयं आत्मा, उसके उपदेशसे सुदृष्ट स्वयः विवेक ज्ञानके पैदा करनेवाले वाक्योंके और उसके अनुसार अग्यास करना चाहिये। वार वार अग्यास करनेसे संवित्ति-अपने लक्ष्यका अनुभव होने लगता है। उस संवित्ति (स्वसंवेदन) के द्वारा जो स्वात्माको परसे भिन्न जानता देखता है, भिन्न आत्माका अनुभव करनेवाला मोक्ष-सुखको निरन्तर-हमेशा विच्छेद रहित अनुभव करनेवालोंको होता है। क्योंकि वह मोक्ष-सुखका अनुभव, कर्मोंसे भिन्न आत्माका अनुभवन करनेवालोंको होता है, अन्योंको नहीं। जैसा कि तत्त्वानुशासनमें कहा है—'' तदेवानुभंवश्चाय॰,"

उस आत्माका अनुभवन करते हुए यह आत्मा, उत्कृप्ट एकाग्रताको प्राप्त कर लेता है, और इसी तरह मन तथा वाणीके अगोचर अथवा वचनोंसे भी न कहे जा सकनेवाले स्वाधीन आनन्दको प्राप्त कर लेता है ॥ ३३॥

> दोहा—गुरु उपदेश अभ्याससे, निज अनुअवसे मेद। निज पर को जो अनुअने, लहैं स्वसुख वेखेद॥ ३३॥

आगे शिष्य पृछता है कि मोक्ष-सुखके अनुभवके विषयमें कौन गुरु होता है? आचार्य कहते हैं—

स्वस्मिन् सद्भिलापित्वादभीष्टशापकत्वतः । स्वयं हितप्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मनः॥ ३४॥

अन्वय—स्वयं स्वस्मिन् सद्भिलापिलात् अभीष्ट्रजापकलतः हितप्रयोक्नुत्वात् आत्मनः आत्मा एव गुरुः अस्ति । टीका—यः खढ शिष्यः घदा अभीश्णं कल्याणममिल्यति तेन निज्ञास्य तहुपायं तं ज्ञापयिति । तत्र चाप्रवर्तमानं तं प्रवर्तयिति स किल गुरुः प्रसिद्धः । एवं च सत्यात्मनः आत्मैव गुरुः स्यात् । कृत इत्याह—स्वयमात्मना स्विह्ममोश्रम्रसामिल्यति । मोश्रमुखं मे संपद्यतामिल्यति । मोश्रमुखं मे संपद्यतामिल्याकाल्यतीत्येनं भयात् । तथामीष्टस्यात्मना निज्ञास्यमानस्य मोश्रमुखोपायस्यात्मविषये ज्ञापकत्वादेष मोश्रमुखोपाये मया सेव्य इति बोधकत्वात् । तथादि तं मोश्रमुखोपाये स्वयं स्वस्य प्रयोगतृत्वात् । अस्मिन्युदुर्लमे मोश्रमुखोपाये दुरात्मज्ञातमन्त्ययम् मद्यापि न प्रवृत्त इति । तज्ञावर्त्तमानस्यात्मनः प्रवर्त्तकत्वात् । अय शिष्यः साक्षेपमाइ । एवं नान्योपास्तिः प्राप्नोतीति भगवज्ञुक्तनीत्या परस्वरगुक्तवे निश्चिते सितं प्रमीचार्योदिसेवनं प्राप्नोति मुमुद्धः । मुमुद्धाण धर्माचार्योदिः सेव्यो न भवतीति भावः । न चैवमेतिदिति वार्य्यपपिद्धान्तप्रवह्वादिति वदन्तं प्रत्याह्,—॥ ३४ ॥

अर्थ—जो सत्का कत्याणका वांछक होता है, चाहे हुए हितके उपायोंको जतलाता है, तया हितका प्रवर्तक होता है, वह गुरु कहलाता है। जब आत्मा स्वयं ही अपनेमें सत्की —कल्याणकी यानी मौक्ष-युखकी अभिलाषा करता है, अपने द्वारा चाहे हुए मोक्ष-युखके उपायोंको जतलानेवाला है, तथा मोक्ष-युखके उपायोंको अपने आपको प्रवर्तन करानेवाला है, इसल्पिये अपना (आत्माका) गुरु आप (आत्मा) ही है।

विशादार्थ—यह आला स्वयं ही जब मोक्ष सुखामिलाषी होता है, तब सत्की यानी मोक्ष-सुखकी हमेशा अमिलाषा करता रहता है कि मुझे मोक्ष-सुख प्राप्त हो जावे। इसी तरह जब स्वयं आत्मा मोक्ष-सुखके उपायोंको जानना चाहता है, तब यह स्वयं मोक्षके मुखके उपायोंको जतलानेवाला बन जाता है कि यह मोक्ष-सुखके उपाय मुझे करना चाहिये। इसी तरह अपने आपको मोक्ष-उपायमें लगानेवाला भी वह स्वयं होजाता है, कि इस सुदुर्लम मोक्ष सुखोपायमें हे दुरात्मन, आत्मा! तुम आजतक अर्थात् अमीतक भी प्रवृत्त नहीं हुए। इस प्रकार अभीतक न प्रवर्तनेवाले आत्माका प्रवर्तक भी हुआ करता है। इसलिये स्वयं ही आत्मा अपने कल्याणका चाहनेवाला, अपनेको सुखोपाय बतलानेवाला, और सुखोपायमें प्रवृत्ति करनेवाला होनेसे अपना गुरु है। ३४॥

दोहा—आपर्हि निज हित चाहता, आपिंह क्षाता होय । आपिंहें निज हित प्रेरता, निज गुरु आपिंह होय ॥ ३४ ॥

यहाँपर शिष्य आक्षेप सहित कहता है कि इस तरह तो अब अन्य दूसरोंकी क्यों सेवा करनी होगी? बस जब आपसमें खुदका खुद ही गुरु बन गया, तब धर्माचार्यादिकोंकी सेवा सुमुक्षुओंको नहीं करनी होगी। ऐसा भी नहीं कहना चाहिये, कि हाँ ऐसा तो है ही, कारण कि वैसा माननेसे अपसिद्धान्त हो जायगा। ऐसे बोठनेवाठे शिष्यके प्रति आचार्य जवाब देते हैं—

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति, विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति । निमित्तमात्रमन्यस्तु, गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥ ३५ ॥ अन्वय---- अज्ञः विज्ञलं न आयाति त्रिज्ञः यज्ञत्वं न ऋच्छति गतेर्धर्मास्तिकायवत् अन्यस्त् निभित्तमात्रम् ।

टीका—भद्र । अञ्चलकानोत्तस्ययोग्योऽभव्यादिविज्ञकं तत्वञ्ञतं घर्माचार्याद्यपदेशसहरूणापि न गच्छति । तथा चोक्तम्—

" स्वाभाविकं हि निष्पत्ती, कियागुणमपेक्ष्यते । न व्यापारशतेनापि-शुक्तवत्पारुवते वकः " ॥
तथा विश्वस्तव्यञ्ञानपरिणतो अञ्चल तत्त्वज्ञानात्परिभ्रंशसपायसहस्त्रेणापि न गच्छति । तथा चीक्तम्—
" वज्रे पतत्यपि भयदुतविश्वलोके, गुक्ताध्वनि प्रशमिनो न चलन्ति योगात् ।
वोधप्रदीपहतमोहमहान्यकाराः, सम्यग्दशः किस्त शेषपरीषदेष " ॥ ६३ ॥-पद्मनन्दिपञ्चविश्वतिका प्र० ३३

मन्वेवं बाह्यनिभिक्षवेषः प्राभ्रोतीत्वत्राह् । अन्यः पुनर्गुविवयद्यादिः प्रकृतार्थकमुरादभ्रंशयोिनीभिक्तमात्रं स्यात्तत्र योग्येताया एव साक्षात्वाधकावात् । कस्याः को ययेत्यत्राह् , गतिरित्यादि । अय्यस्यां-यया युगपद्राविगित-परिणासोन्मुखानां भावाना स्वकीया गतिहाक्तिरेव गतेः साक्षात्व्वानिका तद्वैक्टये तस्याः सहकारिकारणमात्र स्यादेवं प्रकृतेऽपि क्रतो व्यवहारादेव गुर्वादेः शुभूवा प्रविपक्तया । अयाह शिष्यः—अभ्यासः क्यमिति । अभ्यास्यान्यामेगोगाय-प्रभीऽयम् । अभ्यासः कृष्यत् इति क्रवित्वादः । तत्राभ्यासः स्यात् भूयोभूषः प्रवृत्तिकक्षणत्वेन सुप्रविद्धत्वात्तस्य स्यानिवयमादिकयेणोगदेशः क्रियत हत्ययः । एवं संवित्तिकच्यत इत्युत्तरपातिकाया अपि व्याख्यानमेतत्यात्रपेक्षया प्रस्वयम् । तथा च गुरोरवेते वावये व्याख्येये । शिष्यवोषार्थं गुरुराह—॥ ३५ ॥

अर्थ:—तत्त्वज्ञानकी उत्पत्तिके अयोग्य अभव्य आदिक जीव, तत्त्वज्ञानको धर्मा-चार्यादिकोंके हजारों उपदेशोंसे भी नहीं प्राप्त कर सकता है। जैसा कि कहा गया है "स्वाभाविकं हि निष्यत्ती॰"

" कोई भी प्रयत्न कार्यकी उत्पत्ति करनेके लिये स्वामानिक गुणकी अपेक्षा किया करता है। सैकड़ों व्यापारोंसे भी बगुला तोतेकी तरह नहीं पढ़ाया जा सकता है।"

इसी तरह तत्त्वज्ञानी जीन, तत्त्वज्ञानसे छ्टकर हजारों उपायोंके द्वारा भी अज्ञत्वको प्राप्त नहीं कर सकता। जैसा कि कहा गया है—" वज्रे पतत्पि "

" जिसके कारण मयसे घवराई हुई सारी दुनियाँ मार्गको छोड़कर इघर उघर भटकने लग जाय, ऐसे नज़के गिरनेपर भी अतुल ज्ञांतिसम्पन्न योगिगण योगसे (ध्यानसे) चलायमान नहीं होते। तब ज्ञानरूपी प्रदीपसे जिन्होंने मोहरूपी महान् अन्यकारको नष्ट कर दिया है, ऐसे सम्यन्दिष्ट जीव क्या शेष परीषहोंके आनेपर चलायमान हो जाँगों ? नहीं, वे कभी भी चलायमान नहीं हो सकते हैं।"

यहाँ शंका यह होती है कि यों तो बाह्य निमित्तोंका निराकरण ही हो जायगा ? इसके विषयमें जवाब यह है कि अन्य जो गुरु आदिक तथा शत्रु आदिक हैं, वे प्रकृत कार्यके उत्पादनमें तया विष्यंसनमें सिर्फ निमित्तसात्र हैं। वास्तवमें किसी कार्यके होने व . विगड़नेमें उसकी योग्य ही साक्षात् सायक होती है। जैसे एक साथ गतिरूप परिणामके ठिये उन्सुख हुए पदार्थोंमें गतिवं साक्षात् पैदा करनेवाली उन पदार्थोंकी ही गमन करनेकी शक्ति है। क्योंकि यदि पदार्थोंमें गमन करनेकी शक्ति न होवे तो उनमें किसीके द्वारा भी गति नहीं की जा सकती। धर्मास्तिकाय तो गित करानेमें सहायकरूप द्रव्यविशेष है। इसिटिये वह गतिके टिये सहकारी कारणमात्र हुआ करता है। यही बात प्रकृतमें भी जाननी चाहिये। इसिटिये व्यवहारसे ही गुरू आदिकोंकी सेवा शुश्रृषा आदि की जानी चाहिये।। ३५॥।

दोहा—सूर्ध न झानी हो सके, झानी मूर्ख न होय। निभिक्त मात्र पर जान, जिमि गति धर्मतें होय॥३५॥

अब शिष्य कहता है कि 'अन्यास कैसे किया जाता है ?' इसमें अन्यास करनेके उपायोंको पूछा गया है। सो अन्यास और उसके उपायोंको कहते हैं। वार चार प्रवृत्ति करनेको अन्यास कहते हैं। यह चात तो अलीमाँति प्रसिद्ध ही है। उसके लिये स्थान कैसा होना चाहिए ? कैसे नियमादि रखने चाहिये ? इत्यादि रूपसे उसका उपदेश किया जाता है। इसी प्रकार साथमें संवित्तिका भी वर्णन करते हैं।

अभवचित्तविक्षेप, एकान्ते तत्त्वसंस्थितः । रि अभ्यस्येदभियोगेन, योगी तत्त्वं निजात्मनः ॥ ३६ ॥

अन्वय-अभविच्यत्तिब्र्षेपः तत्वत्संस्थितः योगी निजात्मनः तत्त्वं एकान्ते अभियोगेन अभ्यस्थेत् ।

दीका—अभ्यरिद्धावयेकोसी, शोमी संयमी । कि, तत्त्वं वाधारायं । कर्य, निकासमाः । केन, अभियोगेन आर्कस्यनिद्धादिनरासेन । क, एकान्ते योग्ययून्ययहादौ । किविश्वास स्वत्, अभवस्वायमावश्चित्तस्य समसो विश्वेषो रागादिसंजोभो वस्य छोऽयमिर्श्वभूतः सन् । क्रियुत्ते भूत्वा, तथाभूत इत्याद । तत्त्वरंदियतस्वत्ते हैये उपादेशे च गुरुपदेशानिश्चक्षीः यदि वा तत्त्वेन साथे वस्तुनि सम्पक् स्थितो यथोककायोस्यादिना व्यवस्थितः । जयाह शिष्यः सेवित्तिरिति । अभ्यासः क्षयमिरयनुवर्त्तेतं नायमधैः सैवग्यते । मगवन्नुक्तस्थाम संवित्तः प्रवर्तमाना केनोपादेन योगिनो विज्ञायते कर्यं च प्रतिक्षणं प्रकर्षमाथवते । अन्यानायो विक्ता उच्यत इति । धीमन्नाकण्य वर्ष्यते विक्तं त्रवर्तायस्यस्यः ॥ ३६ ॥

अर्थ—जिसके चित्तमें क्षोम नहीं है, जो आला स्वस्य स्ट्रामें स्थित है, ऐसा योगी सावधानीपूर्वक एकान्त स्थानमें अपने आल्पाके स्वस्थाका अभ्यास करे।

विश्रादार्थ — नहीं हो रहे हैं चित्तमें विक्षेप-रागादि विकल्प जिसको ऐसा तथा हेय-उपादेय तत्त्वोंमें गुरुके उपदेशसे जिसकी द्युद्धि निश्चल हो गई है, अथवा परमार्थरूपसे साध्यपूत वस्तुमें मले प्रकारसे—यानी जैसे कहे गये हैं, जैसे कायोन्सर्गादिकोंसे व्यवस्थित हो गया है, ऐसा योगी अपनी आत्माके ठीक ठीक स्वरूपका एकान्त स्थानमें-योगीके लिये योग्य ऐसे ग्रन्य गृहाँमें ? पर्वतींकी गुहा कंदरादिकोंमें, आलस्य निद्रा आदिको दूर करते हुए अन्यास करे ॥ ३६ ॥

दोहा—सोभ रहित एकान्त में, तत्त्वग्रान चित धाय । सावधान हो संयमी, निज स्वरूपको भाय ॥ २६ ॥

यहाँपर शिष्य पूछता है, कि भगवन् ! जिसका रुक्षण कहा गया है ऐसी ' संचिति हो रही है।' यह बात योगीको किस तरहसे मालूम हो सकती है ? और उसकी हरएक क्षणमें उन्नति हो रही है, यह भी कैसे जाना जा सकता है ? आचार्य कहते हैं कि हे धीमन् ? छुनो मैं उसके चिन्हका वर्णन करता हूँ—

यया यया समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् । तथा तथा न रोचन्ते, विषयाः सुरुभा अपि॥ ३७॥

अन्वय-यया यथा संवित्तौ उत्तमं तत्त्वं समायाति तथा तथा सुरुमा अपि विपया न रोचन्ते।

टीका—येन येन प्रकारेण संवित्ती विद्यदात्मस्वरूपं संवुख्येनागच्छति योगिनः तथा तथानायास्त्रस्या अपि रग्येन्द्रियार्था भोग्यवुद्धं नोत्यादयन्ति।महासुखलञ्जावऽल्युखकारणानां लोवेऽप्यनादरणीयत्वदर्शनात्। तथा चोक्तम्—

"शामसुखरीलितमनसामधनमिव द्वेषमिति किंतु कामाः । स्यलमिव दहित क्षपाणां किमङ्ग पुनरङ्गमङ्गापः ॥ ।॥" अतो विषयारचिरेव योगिनः स्वात्मसंवित्तर्गमिका तदभावे तदभावात् प्रकृप्यमाणायां च विषयारची स्वात्मसंवित्तिः प्रकृप्यते । तदाया—॥ ३७॥

अर्थ—ज्यों ज्यों संविध्ति (स्वानुभव) में उत्तम तत्वरूपका अनुभवन होता है, त्यों त्यों उस योगीको आसानीसे प्राप्त होनेवाले भी विषय अच्छे नहीं रूगते ।

विश्वादार्थ — जिस जिस प्रकारसे योगीकी संवित्तिमें (स्वानुभवस्त संवेदनमें) शुद्ध आत्माका स्वस्त झलकता जाता है, सम्मुख आता है, तैसे-तैसे विना प्रयाससे, सहजमें ही प्राप्त होनेवाले रमणीक इन्द्रिय विषय भी योग्य बुद्धिको पैदा नहीं कर पाते हैं। ठीक ही है, दुनियाँमें भी देखा गया है कि महान सुखकी प्राप्ति होजानेपर अल्प सुखके पैदा करनेवाले कारणोंके प्रति कोई आदर या-प्राह्म-भाव नहीं रहता है। ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है—
" शमसख्बशीलितमनसा॰"

"जिनका मन शांति-सुखसे सम्पन्न है, ऐसे महापुरुषोंको भोजनसे भी हेप हो जाता है, अर्थात् उन्हें मोजन भी अच्छा नहीं लगता। फिर और विषय भोगोंकी तो क्या चलाई? अर्थात् जिन्हें। भोजन भी अच्छा नहीं लगता, उन्हें अन्य विषय-भोग क्यों अच्छे लग सकते हैं? अर्थात् उन्हें अन्य विषय-भोग क्यों अच्छे लग सकते हैं? अर्थात् उन्हें अन्य विषय-भोग सचिकर प्रतीत नहीं हो सकते। हे वत्स ! देखो, जब मछलीके अंगोंको जमीन ही जला देनेमें समर्थ है, तब अग्निके अंगारोंका तो कहना ही क्या? वे तो जला ही देंगे। इसलिये विषयोंकी अरुचि ही योगीकी स्वात्म-संविचिको प्रकट कर देनेवाली है।"

स्वात्म-संवित्तिके असाव होनेभर विषयोंसे अरुचि नहीं होती और विषयोंके प्रति अरुचि बहनेपर स्वात्म-संवित्ति भी बहु जाती है।। ३७॥

> दोहा — जस जस आतम तत्त्वमें, अनुमन आता जाय ॥ तस तस विषय सुरुभ्य भी, ताको नहीं सुहाय ॥ ३७॥

उपरिठिखित मानको और भी स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं-

यथा यथा न रोचन्ते, विषयाः सुरुमा अपि । तथा तथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ॥ ३८ ॥

अन्वय—यथा यथा सुलभा अपि विषयाः न रोचन्ते तथा तथा उत्तमं तत्वं संवित्तौ समायाति। शशांप प्रवेषद्रयास्यानम् । तथा चोकस्—

" विसी किमपरेणादार्थकोळाहरून, स्वयमपि निमृतः सन्पश्य वण्मासमेकम् ।

हृदयसरी पुंचः पुद्रकाद्भिक्षामो, नतु किमनुष्ठन्यिभीति किं चौपळन्यः "॥ २ ॥-नाटकसमयसर-फ्लाः जीवानीवाधिकारः।

प्रक्रथमाणायां च स्वात्मसंवित्तौ याति चिहानि स्युस्तान्याकर्णय । यथा—॥ ३८ ॥

अर्थ—ज्यों ज्यों सहजमें भी प्राप्त होनेवाले इन्द्रिय विषय भोग रुचिकत प्रतीत नहीं होते यों त्यों स्वारम संवेदनमें निजात्मानुभवनकी परिणति वृद्धिको प्राप्त होती रहती है।

चिदादार्थ—विषय भोगोंके प्रति अरुचि भाव ज्यों ज्यों वृद्धिको प्राप्त होते हैं त्यों त्यों योगोंके स्वाल-संवेदनमें निजालानुभवनकी परिणति वृद्धिको प्राप्त होती रहती है। कहा भी है— "विस्म किसमेणा॰"

आचार्य शिष्यको उपदेश देते हैं, हे वस्त ! ठहर, व्यर्थके ही अन्य कोठाहरुँसे क्या छास ? निश्चित्त हो छह मास तक एकान्त में, अपने आपका अवलोकन तो कर । देख, हृदयस्पी सरोकर में पुहल्से भिन्न तेजवाली आसाकी उपलब्ध (प्राप्ति) होती है, या अनुपल्पिच (अप्राप्ति)॥ ३८॥

> दोहा--जस जस विषय सुलभ्य भी, ताको नहीं सुहाय । तस तस खातम तत्वमें, अनुमव बढ़ता जाय ॥ ३८॥

हे वत्स !—स्वात्मसंवित्तिके बढ़नेपर क्या क्या वार्ते होती हैं, किस स्प परिणति होने रुगती है, आदि वार्तोको सुक्

र 'बिरम किमरोणा o'बा कितना सुन्दर माथपूर्ण वसैया रन. कवितर बनारसीदास्वानि समयसारनाटकमें बहा है— " भैया बनावासी त् उदासी वहै के जगत वीं, एक का महीना उपदेख मेरी मानुरे। और संकल्प विकलप्रके विकार तांच, बैठके एकत मन ठीर आनुरे॥ तेरी घट-सर वामें तृही है कमल तानी, तृही समुक्त सुनास पहिचानु रे। प्रापति न वहै है कलु ऐसी तृ विचारतु है, यही वहै है प्रापति सरूप वों ही जानु रे॥ ३॥

निशामयति निश्शेषसिन्द्रजाळोषमं जगत् । स्षृह्यस्यारमळाभाय, गरवान्यत्रातुतप्यते ॥ ३९ ॥

अन्वय—योगी निक्शेषं जगत् इन्द्रजालोपमं निशामयति, आत्मलामाय स्पृह्यति अन्यत्र मन्ता अनुतन्यते।

द्रीका — योगीयन्तरीपक्रवासर्वित्र योच्यः । स्वारमध्वित्तिरिक्षे ध्याता चराचरं विद्वेत्तुनातमवस्योपेकणीय-तया हात्रोपादानबुद्धिवयपन्तादिन्द्र नाक्ष्किपदिक्षितवर्धहारादियदार्थयदर्धं परपति । तथाकारणभाव रहस्यति चिदानन्द स्वरूपमारामानं सेचेदियत्तिमच्छति । तथा अन्यत्र स्वारमव्यतिरिक्ते यत्र क्षापि वस्तुति पूर्वेशस्कारिदवशासमीत्राकार्थेगांवा व्याष्ट्रस्य अनुतय्यति स्वयमेव आ क्ष्यं मयेदमनास्त्रीतमत्त्रात्रितिमित पक्षाचार्यं करोति । तथा,—॥ १९ ॥

अर्थ-योगी समस्त संसारको इन्द्रजालके समान समझता है। आलस्त्रस्पकी प्राप्तिके लिये अभिलाषा करता है। तथा यदि किसी अन्य विषयमें उल्झ जाता, या लग जाता है तो पक्षात्ताप करता है।

विश्वादार्थः — क्लोक नं. ४२ में कहे गये "योगी योगपरायणः" अन्दको अन्यवीपक होनेसे सभी "निशासयित स्पृहयति" आदि कियापदोंके साथ ठमाना चाहिये। स्वाल-संवेदन करनेमें जिसे आनन्द आया करता है, ऐसा योगी इस चर, अचर, स्याचर, जंगमरूप समस्त चाहिरी वस्तु-समृहको त्याग और गृहण विपयक झुढिका अविषय होनेसे अवस्य उपेश्वणीय रूप इन्द्रज्ञालियाके द्वारा दिखलाये हुए सर्प हार आदि पदार्थोंके समृहके समान देखता है। तया चिदानन्द—स्वरूप आलाके अनुभवकी इच्छा करता है। और अपनी आलाको छोड़कर अन्य किसी भी वस्तुमें पहिले संस्कार आदि कारणोंसे यदि मनसे, वचनसे, वा कायसे, प्रवृत्ति कर बेठता है, तो वहाँसे हटकर खुद ही पथात्ताप करता है, कि ओह! यह मैंने कैसे आलाका अहित कर डाला। ३९॥

दोहा—इन्द्रजाल सम देख जग, निज अनुभव रुचि लात । अन्य विषय में जात यदि, तो मनमें पलतात ॥ ३९ ॥

आत्मानुभवीके और भी चिन्होंको दिखाते हैं-

इच्छरयेकान्तसंवासं, निर्जनं जनितादरः। निजकार्यवशार्दिकंचिदुक्त्वा विस्मरति द्वृतम्॥ ४०॥

अन्यप—(योगी) निर्वनं जनितादरः एकान्तसंवासं इच्छति निवकार्यवसात् किचितुनला द्वृतं विस्परति ।

टीका—प्रकान्ते स्वभावतो निर्वते स्थिरगहनादौ संवारं सुर्वोदिभिः सहावस्थानमित्रवर्षते । विविधिश स्व, चनितादरो वनमनोरक्षनचमस्कारि-मन्त्रादि-प्रयोगवार्चोगिनृष्ठचौ कृतप्रवनः । कस्मै निर्वतं व्यनामावाय स्वायंवशाः छाभाकामादिप्रशार्षे कोकसुरस्वयंतं निर्वेचयमित्ययै । ध्यानादि कोकसमस्कारिष्यः प्रत्ययाः स्यः । तथा चोत्तम्— " गुरूपदेशमासादा, समम्परमञ्जनारतम् । धारणासीष्टवाच्यानप्रत्ययानपि वस्यति ^ग ॥

. . .]

तथा स्वस्वावस्यकरणीयमोजनादिपास्तन्त्र्यास्किचिद्यंमस्कार्यं आवकादिकं प्रति अही हृति अही हृदमिति अही इ.द. कुवैक्रित्यादि माषित्वा तस्थण एव विस्मरति । मगवन् किमादिस्यत हृति आवकादौ पृच्छति स्वति । किमप्युत्तरं दराति । तथा—

अर्थ—निर्जनताको चाहनेवाला योगी एकान्तवासकी इच्छा करता है, और निज कार्यके वजसे कळ कहे भी तो उसे जब्दी ही सुखा देता है।

चित्रादार्थ—लोगोंके मनोरंजन करनेवाले चमकारी मन्त्र तन्त्र आदिके प्रयोग करनेकी वात्तीएं न हुआ करें, इसके लिये अर्थात अपने मतलबसे लाग-अलाम आदिकके प्रका पुल्नेके लिये आनेवाले लोगोंको मना करनेके लिये किया है प्रयत्न जिसने ऐसा योगी स्वभावसे ही जनवहन्य ऐसे पहाड़ोंकी ग्रहा कन्दरा आदिकोंमें गुरुओंके साथ रहना चाहता है। ध्यान करनेसे लोक-चमकारकारी बहुतसे विश्वास व अतिशय हो जाया करते हैं, जैसा कि कहा गया है—
"गुरुपदेशमासाध्य "

"गुरुसे उपदेश पाकर हमेशा अच्छी तरह अभ्यास करते रहनेवाला, पारणाओं से श्रेष्टता प्राप्त हो जानेसे ध्यानके अतिश्वयोंको भी देखने लग जाता है।" अपने शरीरके लिये अवक्य करने योग्य जो मोजनादिक, उसके वशसे कुछ योहासा आवकादिकोंसे "अहो, देखो, इस प्रकार ऐसा करना, अहो, और ऐसा, यह इत्यादि " कहकर उसी क्षण मुल जाता है। मगवन ! क्या कह रहे हो ? ऐसा आवकादिकोंके द्वारा पुछे जानेगर योगी कुछ भी जवाब नहीं देता ! तथा—॥४०॥

दोहा — निर्जनता आदर करत, एकांत सवास विचार। विज कारजवश कुछ कहे, भूळ जात उस बार॥ ४०॥ ष्रुवन्नापि हि न वृते, गच्छन्नपि न गच्छति। स्थिरीकृतास्मतस्वस्तु, पश्यन्नपि न पश्यति॥ ४१॥

अन्यय—स्थिरीष्ट्रतात्मतत्त्वतु वृत्तन् अपि न तृते गच्छन् अपि न गच्छति पश्यन् अपि न पश्यिति हितान्ति । हीका — स्थिरीकृतात्मत्त्वचे हृद्धात्ति प्रोचित्रकृत्यत्त्वस्त्वात्त्वर्षे । न तृते हि न भाषत् एव । त्याभिष्ठस्यमावात् । उक्तं च— " आत्मशानात्त्र कार्ये । न हृते हि न भाषत् एव । त्याभिष्ठस्यमावात् । उक्तं च— " आत्मशानात्त्र कार्ये , न इद्धी वार्योवस्य, । इ्योदर्येनशान्तिच्यक्षायात्मात्त्वरुपः" ॥५०॥—स्माधिशतकम् तथा भोजनार्ये मनन्नि न मनत्यि । तथा छिद्धप्रतिमादिकम्मर्लोक्ष्यक्षि नाष्ट्रकेस्यये । उत्तर्याः । तथा प्रद्धप्रतिमादिकम्मर्लोक्ष्यक्षि नाष्ट्रकेस्यये । उत्तर्याः । तथा—४१॥ अर्थ—विस्ते नात्म-त्यस्यके विषयमें स्थित्ता प्राप्त करः ठी है, ऐसे योगी बोस्ते हए भी नहीं चेत्रता, चरना हिए भी नहीं वेस्ताः है।

विद्यदार्थ — जिसने अपनेको ब्ह् प्रतीतिका विषय वना लिया है, ऐसा योगी संस्कारोंके वज्ञसे या इसरोंके संकोचसे पर्मोदिकका व्याख्यान करते हुए भी नहीं बोठ रहा है, ऐसा समझना चाहिये, वयोंकि उनको वोठनेकी ओर झुकाव या स्थाठ नहीं होता। जैसा कि कहा है— "आलज्ञानात्सरं कार्यै०"

" आत्म-ज्ञानके सिवा इसरे कार्यको अपने प्रयोगमें चिरकाल-तक ज्यादा-देरतक न टहारे देवे। किसी प्रयोजनके वश्च यदि कुछ करना पड़े, तो उसे अतत्मर होकर-अनासक्त होकर वाणी व शरीरके द्वारा करें। इसी प्रकार भोजनके लिये जाते हुए भी नहीं जा रहा है, तथा सिद्ध प्रतिमादिकोंको देखते हुए भी नहीं देख रहा है, यही समझना चाहिये। फिर—-11 ४१॥

> दोहा—देखत भी निर्द देखते, बोलत बोलत नार्दि । इह प्रतीत आतममयी, चालत चालत नार्दि ॥ ४९ ॥ किभिद्रं कीदरां कस्य, कस्मात्क्वरयदिशेषयन् । स्वदेहमपि नार्वेति योगी योगपरायणः ॥ ४२ ॥

अन्वय—योगपरायणः योगी किम इदं, कीद्यं, करंग, करमात, क इति अविशेष्यन् स्वदेहर् अपि न अवैति ।

टीका—इदमध्यासमन्भ्यमानं तस्त्रं कि किर्त्यं कीट्यं केन स्टशं कस्य स्वामिकं कस्मान्सस्य सकाशास्त्रः करिनवर्तीसम्बद्धीयम् अधिकस्यमस्य योगस्यस्यः समस्यासमापवा योगी स्वदेशमि न चेतपति का क्या डिताहितदेशांतिरिकारखचेतमायाः। तथा चोकम्—

तदा च परमैकान्याह्यस्येषु छत्त्वपि । अग्यन विंचनामाति, खमेनासित वस्पतः "॥१०२॥-तवाह्याधनम् अत्राह शिष्यः-कथमेतदिति । अग्यन् विरमयो ये कथमेतद्यस्थान्तरं संमवति । गुरुपह-चीमिलवोष ॥१४॥
अर्थ-च्यानमें लगा हुआ योगी यह क्या है १ कैसा है १ किसका है १ क्यों है १ कहाँ है १ इत्यादिक विकरपोंको न करते हुए अपने अर्रास्को भी नहीं जानता ।

विशादार्थ—यह अनुभवमं आ रहा अन्तस्तत्व, किस स्वरूपवाला है? किसके सहय है? इसका स्वामी कीन है? किसके होता है? कहाँपर रहता है? इत्यादिक विकत्योंको न करता हुआ किन्तु समरसीमावको प्राप्त हुआ योगी जो अपने अरीरतकका मी ख्याल नहीं स्वता, उसकी चिन्ता व परवाह नहीं करता, तब हितकारी या अहितकारी शरीरसे भिन्न वस्तुओंकी चिन्ता करनेकी वात ही क्या ? जैसा कि कहा गया है—"तहा च परमैका "

यहाँ पर शिष्य कहता है कि मगवन् ! मुझे आश्रर्य होता है कि ऐसी विरुक्षण विभिन्न देशाका होजाना कैसे सम्भव है ?

उस समय आत्मामें आत्माको ही देखनेवाले योगीको बाहिरी पदार्थीके रहते हुए भी परम एकाग्रता होनेके कारण अन्य कुछ नहीं माञ्रम पड़ता है ॥ ४२ ॥

दोहा--क्या कैसा किसका किसमें, कहाँ यह आतम राम । तज विकल्प निज देह न जाने, योगी निज विश्राम् ॥ ४२ ॥

आचार्य कहते हैं, धीमन् ! सुनो समझो-

यो यत्र निवसन्नास्ते, स तत्र कुरुते रतिम् । यो यत्र रमते तस्मादन्यत्र स न गच्छति ॥ ४३ ॥

अन्वय—यो यत्र निवसन् आस्ते स तत्र रितं कुरुते यो यत्र रसते स तस्मान्न मच्छिति ।
टीका—यो जनी यत्र नगरादी स्वार्थे विद्वसद्भावेन बद्धनिकंश्वास्तव्या भवन् विष्ठवि च तिस्मान्यस्मान्निः
कृत्वीचक्तवान्निकंशित्वं कमते। यत्र यश्च त्या निर्वाति च वतोऽन्यत्र न यातीवि प्रविद्धं प्रतीवम् । अतः प्रतीवि
योगिनोऽत्यासं निवस्तोऽन्तर्म्यापूर्वानन्दान्त्रस्तवत्त्र नृत्यमायः स्वादिते । अन्यत्राध्वर्वमानश्चेद्दं स्थात्—॥४३॥

अर्थ—जो जहाँ निवास करने त्या जाता है, वह वहाँ रमने त्यम जाता है। और जो जहाँ
त्या जाता है, वह वहाँ से फिर हटता नहीं है।

चिश्रदार्थ—जो मनुष्य, जिस नगरादिकों स्वार्थकी सिद्धिका कारण होनेसे बन्धुजनोंके आग्रहसे निवासी बनकर रहने टम जाता है, वह उसमें अन्य तरफ़से चित्त हटाकर आनन्दका अनुभवन करने टम जाता है। और जो जहाँ आनन्दका अनुभव करता रहता है, वह वहाँसे इसरी जगह नहीं जाता, यह सभी जानते हैं। इसिटिये समझो कि आत्मामें अध्यातममें रहनेवाटे योगी अमनुमृत (जिसका पहिन्ने कमी अनुभव नहीं हुआ) और अपूर्व आनन्दका अनुभव होते रहनेसे उसकी अध्यातमके सिवाय इसरी जगह प्रश्नि नहीं होती॥ ४३॥

दोहा—जो जामें वसता रहे, सो तामें रुचि पाय। जो जामें रम जात है, सो ता तज नहिं जाय॥ ४३॥

जब इसरी जगह प्रवृत्ति नहीं करता तब क्या होता है? उसे आगेके क्लोकमें आचार्य कहते हैं—

> भगच्छंस्तद्विशेषाणामनाभिज्ञश्च जायते । अज्ञाततद्विशेषस्तु, वध्यते न विमुच्यते ॥ ४४ ॥

अन्यय-अगच्छन् तदिशेषाणां अन्भिज्ञ्ञ जायते अज्ञाततद्विशेषत् न वध्यते, विगुच्यते । टीका-स्वाप्तव्यक्तिष्टोऽन्यत्र अगच्छन्यवर्वेनानस्तरः स्वाप्तनाऽन्यस्य देहाद्विशेषाणां कीन्द्यांतीन्द्यांति-धर्माणामनभिज्ञ आभिमुख्नेनागित्वता च भवति । अज्ञातविद्दिशेषः पुनस्तवाज्यव्यानरागदेष्ट्यास्त्रमेपिनै बच्यते । कि तर्ति ! विशेषण वृतावनुष्ठातुन्योऽतिरेकेण वैर्तुच्यते । कि च ॥ ४४ ॥

अर्थ- अध्यालसे इसरी जगह प्रवृत्ति न करता हुआ योगी, सरीरादिककी छुन्दरता अछुन्दरता आदि क्मोंकी ओर विचार नहीं करता। और जब उनके विशेषोंको नहीं जानता, तब वह वंधको प्राप्त नहीं होता, किन्तु विशेष रूपसे छूट जाता है।

विश्वदार्थ—स्वात्मतत्त्वमें स्थिर हुआ योगी जब अध्यात्मसे मिन्न दूसरी जगह प्रवृत्ति नहीं करता, तम उस स्वात्मासे मिन्न श्ररीरादिके सौन्दर्य असीन्दर्य आदि विशेषोंसे अनुभिन्न हो जाता , है। और जब उनकी विशेषताओंपर स्थाल नहीं करता, तब उनमें राग हेष पैदा न होनेके कारण कर्मोंसे बंधता नहीं है, किन्तु जतादिकका आचरण करनेवालोंकी अपेक्षा मी कर्मोंसे ज्यादा स्टाता है। ४४॥

दोद्या-चस्तु विशेष विकर्ष को, निर्दे करता मतिमान। स्वात्मनिष्ठता से छुटत, निर्दे वैंघता गुणवान॥ ४४॥

और भी कहते हैं—

परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखम् । अत एव महात्मानस्तन्निमित्तं क्रतोद्यमाः॥ ४५॥

अन्वय—परः परः ततो दुःखं, आत्मा आत्मा एव ततः सुखम् अतएव महात्मानः तन्निमित्तं कृतोद्यमाः ।

द्दीका—परो देहादिरथैः पर एव कथेविदिष तस्पात्मीकर्तुमञ्चनयस्वात् । यत्तश्चैवं ततस्तरमादात्मन्यारीयमाणो दुःखमेव स्पान् दुःखनेव स्पान् दुःखनेव स्पान् । तस्य कदानिदिष देहादिरूपत्वानु-पादानात् । यत्त्रचैवं ततस्त्रास्मासुखं स्यादुःखनिमित्तानां तस्याविषयत्वात् । यत्तर्यवम् अत एव महातमानस्तीर्धकरादय-स्तरिमन्निमित्तमात्मार्थं कृतोद्यमा विनिहितत्रयोत्तर्षानामियोगा संजाताः । अय परद्रन्यानुरागे दोषं दर्शयति;—।।४५॥

अर्थ—इसरा इसरा ही है, इसिक्ये उससे दुःख होता है, और आत्मा आत्मा ही है, इसिक्ये उससे सुख होता है। इसिक्यि महात्माओंने आत्माकेकिये ही उद्यम किया है।

विद्यादार्थ—पर देहादिक अर्थ, पर ही है। किसी तरहसे भी उन्हें आत्मा या आत्माके सहश नहीं चनाया जा सकता। जब कि ऐसा है तब उनसे (आत्मा या आत्माके मान ठेनेसे) दुःख ही होगा। कारण कि दुःखके कारणोंकी प्रयृत्ति उन्होंके द्वारा हुआ करती है। तथा आत्मा आत्मा ही है, वह कभी देहादिकरूप नहीं चन सकता। जब कि ऐसा है, तब उससे सुख ही होगा। कारण कि दुःखके कारणोंको वह अपनाता ही नहीं है। इसी ठिये तीर्थंकर आदिक बढ़े बढ़े पुरुषोंने आत्माके स्वरूपमें स्थिर होनेके ठिये अनेक प्रकारके तपोंके अनुष्ठान करनेमें निद्रा आरुस्यादि रहित अप्रमत्त हो उद्यम किया है॥ ४५॥

> दोहा — पर पर तातें दुःख हो, निज निज ही सुखदाय। महापुरुप उद्यम किया, निज हिताथ मन छाय ॥ ४५ ॥

परद्रव्योंमें अनुराग करनेसे होनेवाले दोषको दिखाते हैं-

अविद्वान् पुद्रुस्द्रुव्यं, योऽभिनन्दति तस्य तत् । न जातु जन्तोः सामीण्यं, चतुर्गतिषु मुखति ॥ ४६ ॥

अन्वय---यः आविद्वान् पुद्रलद्भयं अभिनन्दित तस्य जन्तोः तत् चतुर्गतिषु सामीप्यं जातु न मुझति ।

दीका--यः पुनरिवद्वान् हैयोपादैयतःचानिमञः पुद्रलद्वयं देहादिकमिमनन्दति श्रव्हते आस्तासीयभावेन प्रतिपचते तस्य चन्तोर्जीवस्य वस्पुद्रलद्वयं चतस्यु नारकादिगतिषु सामीप्यं प्रत्यासत्ति संयोगसंबन्धं जातु कदाचिदिष न त्यजति । अयाह द्वाच्या--स्वस्तप्परस्य किं भवतीति सुगम् । गुस्सह--।। ४६ ॥ [ب

अर्थ—जो हेगोपादेयके स्कल्पको न समझनेनाला. शरीरादिक पुद्रल द्रव्यको आप (आत्म) स्प तथा अपनेको (आत्माके) मानता है, उस जीवके साथ नरकादिक चार गतियोंमें वह पदल अपना सम्बंध नहीं छोहता है. अर्थात भव-भवमें वह प्रहलद्रव्य जीवके साथ वेंघा ही रहता है। उससे पिंड नहीं छूट पाता ॥ ४६ ॥

रोहा-पुद्रलको निज जानकर, अहानी रमजाय। चहुँगतिमें ता संगको, पुद्गल नहीं तजाय ॥ ४६॥ आत्मस्वरूपमें तत्पर रहनेवालेको क्या होता है ? आचार्य कहते हैं-

> आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य, व्यवहारवहिःस्थितेः। जायते परमानन्दः, कश्चिद्योगेन योगिनः ॥ ४७ ॥

अन्वय-आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहिःस्थितेः योगिनः योगेन कृष्टिचत् परमानन्दी जायते। **टीका**—आरमनोऽन्हानं देहादेर्च्यावर्त्यं स्वात्मन्येवावस्थापनं तत्परस्य न्यवहारात्प्रवृत्तिवृत्तिवृत्तव्यवणाह्रहिः हिथते। बाह्यस्य बोबिनो ध्यातुर्योगेन स्वासम्बानेन हेतुना कश्चिद् बाचामगोचरः परमोऽनन्यसमवी आनन्द उत्पद्यते । तत्कार्यसञ्चते—॥ ४७ ॥

अर्थ-देहादिकसे हटकर अपने आत्मामें स्थित रहनेवाले तथा प्रवृत्ति-निवृत्ति-लक्षण-वाले व्यवहारसे बाहिर दर रहनेवाले ध्यानी योगी प्रस्कितो आत्म-ध्यान करनेसे कोई एक वचनोंके अगोचर परम जो इसरोंको नहीं हो सकता ऐसा आनन्द उत्पन्न होता है ॥ ४७ ॥

दोहा-ग्रहण त्यागसे शून्य जो, निज आतम रुपछीन। योगीको हो ध्यानसे, कोइ परमानन्द नवीन ॥ ४७ ॥

उस आनन्दके कार्यको बताते हैं-

बानन्दो निर्दहत्युद्धं, कर्मेन्धनमनारतम्। न चासी खिद्यते योगी, बहिर्द्खेष्यचेतनः ॥ ४८॥

अन्वय-(सः) आनन्दः उद्धं कर्मेन्यनम् अनारतं निर्दहति योगी असौ च बहिर्द्रः लेष्ट अचेतनः न खिद्यते ।

टीका-ए पुनरानन्द उद्धं प्रभूतं कर्मसंतिति निर्देहति । विहिरिन्धनं यथा । कि च असावानन्दाविष्टो योगी बहिर्दु:खेषु परिषद्वोपसर्गक्छेशेषुअचेतनोऽसंबेदनः स्यात्तत एव न खिद्यते न संक्छेशं याति । यस्मादेवं तस्मात्—॥४८॥

अर्थ-जैसे अप्ति. ईन्यनको जला ढालता है, उसी तरह आत्मामें पैदा हुआ परमानन्द, हमेशासे चले आए प्रचर क्योंको अर्थात कर्म-सन्ततिको जला डालता है, और आनन्द सहित योगी, बाहिरी द:खोंके-परीषह उपसर्ग संबंधी डेखोंके अनुभवसे रहित हो जाता है। जिससे खेदके (संक्षेत्राको प्राप्त नहीं होता) ॥ ४८ ॥

> दोहा-निजानंद नित वहत है, कर्मकाष्ट अधिकाय। बाह्य दःस नहिं वेदता, योगी सेद न पाय ॥ ४८ ॥

इसलिये--

अविद्याभिदुरं ज्योति , परं क्वानगयं महत् । तत्प्रप्रत्यं तदेष्टच्यं, तद् द्रप्टच्यं सुमुक्षुभिः ॥ ५९॥

अन्यय—अविद्यामिदुरं महत् परं ज्ञानमयं ज्योतिः मुमुधुमिः तत् प्रष्ट्यं तत् पृष्ट्यं तद् द्रष्टव्यम् ।

डीका —तदानन्दस्वभावं ज्ञानमयं स्वायांवभाशासमकं परमुख्कृष्टमविद्याभिदुरं विभ्रमस्केदकं महत् विषुष्टम् हम्द्रादोनां पूरुपं वा क्योतिः प्रष्टकं मुख्युभिर्मुवंदिस्माऽनुयोक्तक्यम् । तथा तदेव एष्टकं स्रभित्यणीयं तदेव च द्रष्टक्षः सभवनीयम् । एवं व्युत्पाय विस्तरतो व्युत्पाय उक्तार्थतत्त्वं परमक्रकण्या कंश्वः वन्मनिष्ठं रंस्याणियनुकामः सुरित्यमाह किं बहुनेति । हे सुमते किं कार्ये बहुनोक्तंन हैयोपादेयतत्त्वयोः कंक्षेपेणापि प्राञ्चेतसि निवेशियद्वं श्वयवादिति

अर्थ—अविद्याको दूर करनेवाली महान् उत्कृष्ट ज्ञानमयी ज्योति है। सो सुमुक्षुओं (मोक्षाभिकाषियों) को उसीके विषयमें पृष्ठना चाहिये, उसीकी वांछा करनी चाहिये, और उसे ही श्रमुभवर्में लाना चाहिये।

विश्वादार्थ—वह आनन्द स्वभावज्ञाठी, महान् उत्कृष्ट, विश्वमको नष्ट करनेवाठी, स्वार्थको प्रकाशन करनेवाठी, अथवा इन्द्रादिकोंके द्वारा पूज्य ऐसी ज्योति है। मोक्षकी इन्छा रखनेवाठोंको चाहिये कि वे गुरु आदिकोंसे उसीके विषयमें पूछ-ताछ करें। तथा उसीको चाहें, एवं उसीका अनुभव करें। ४९॥

दोहा--पूज्य भनिचा-दूर यह, ज्योति झानमय सार । मोसार्थी पूछो चहो, अनुभव करो विचार ॥ ४९ ॥

इस प्रकार शिष्यको निस्तारके साथ समझाकर आचार्य अब परम करुणासे उस कहे हुए अर्घस्तरूपको संक्षेपके साथ शिष्यके मनमें बैठालनेकी इच्छासे कहते हैं कि "हे कुमते-अच्छी बुद्धिबाले! बहुत कहनेसे क्या ? हेथ-उपादेय तत्त्वोंको संक्षेपमें भी बुद्धिमानोंके हृदयोंमें उतारा जा सकता है। उन्हें साररूपमें बतलाया जा सकता है।"

जीवोऽन्यः पुद्रस्रश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः। यदन्यदुच्यते किंचित्, सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः॥ ९०॥

अन्वय—जीवः अन्यः, पुद्ररुष्य अन्यः इति असौ तत्वसंग्रहः यत् अन्यत् किञ्चित् उच्यते स तस्यैव विस्ताः अस्तु ।

दीका — जीवो देहादिर्भिन्नो देहादिश्च जीवाद्भिन्न इतीयानेव असी विधीयते आसमस्तरस्य भूतायस्य संग्रहः सामस्त्येन ग्रहणं निर्णयः स्यात् । यत्तुनरितत्तत्तर्वसंग्रहाः ्त्रितिकं क्षित्रदेहप्रमेदादिकं क्रिन्नरस्तिकाणोष्ट्रणाच्छीः स्वयते स तत्येव विस्तरो व्यासो यस्तु तमीय वयमि

आचार्यः शास्त्राध्ययनस्य साधात्यारंपर्येण च फल

अर्थ—' नीन जुदा है, पुदल जुदा है,' कुछ आ गया। इसके सिनाय जो कुछ विश्वदार्थ—'जीव, अरीरादिकसे भिन्न है 'अरीरादिक जीवसे भिन्न है ' वस इतना ही कहना है कि सत्यार्थ आत्मरूप तत्वका सम्पूर्ण रूपसे ग्रहण (निर्णय) हो जाय। और जो कुछ इस तत्व-संग्रहके सिवाय मेद प्रमेद आदिक विस्तारमें सुननेकी रुचि-इच्छा रखनेवाठे शिप्योंके छिये आचार्योंने कहा है, वह सब इसीका विस्तार है। इसी एक बातको 'जीव जुदा है, और पुद्रछ जुदा है, 'समझानेके छिये ही कहा गया है। जो विस्तार किया है। उसको भी हम श्रद्धाकी दृष्टिसे देखते हैं। ५०॥

दोहा—जीव जुदा पुद्रल जुदा, यही तत्त्वका सार। अन्य कछू व्याख्यान जो, याहीका विस्तार ॥ ५० ॥

आचार्य शास्त्रके अध्ययन करनेका साक्षात् अथवा परम्परासे होनेवाले फलको बतलाते हैं— इष्टोपदेशमिति सम्यगधीत्य घीमान्, मानापमानसमतां स्वमताद्दितन्य । मुक्ताग्रहो विनिवसन् सजने वने वा, मुक्तिश्रियं निरुपमासुपयाति मन्यः॥ ५१॥

अन्वय—इति इप्टोपदेशं सम्यक् अधीत्य धीमान् भव्यः स्वमतात् मानापमानसमतां वितन्य मुक्ताग्रहः सजने वने वा निवसन् निरुपमां मुक्तिश्रियम् उपयाति ।

दीका—इत्यनेन प्रकारेण इष्टोपदेशं इष्टं सुखं तकारणस्वानमेश्वस्ततुपायस्वाच स्वासम्यानम् उपदिश्यते यथावस्प्रतिपायते अनेनास्मिन्निति वा इष्टोपदेशे नाम ग्रन्थस्तं सम्यव्यवदारिनश्चयाभ्यामधीत्य पिठत्वा चिन्तियस्वा च धीमान् हिताहितपरीक्षादक्षो भव्योऽनन्तशानाद्याविभीवयोग्यो जीवः मुक्तिश्चयमनन्तशानादिर्धपदं निरुपमामनौपग्यां प्राप्नोति । किं कुवैन्मुक्ताग्रहो वर्जितवहिर्याभिनिवेशः सन् सजने ग्रामादी वने वाऽरण्ये विनिवसन् विचिपूर्वकं तिष्ठन् । कि कुत्वा, वित्तय विशेषणं विस्तार्यं । का, माने महत्त्वाधाने अपमाने च महत्त्वरूप्तवे समता रागद्वेषयोरमावम् करमाद्वेदोः, स्वमतात् इष्टोपदेशाध्ययनचिन्तनजनितादास्मशानात् । उक्तं च—॥ ५१॥

" यदा मोहास्प्रजायेते, रागद्वेषी तपस्विनः । तदैव भावयेस्वस्थमात्मानं साम्यतः क्षणात् " ॥ ३९ ॥-समाधि-द्यतकम् ।

अर्थ—इस प्रकार 'इप्टोपदेश ' को मली प्रकार पड़कर-मनन कर हित-अहितकी परीक्षा करनेमें दक्ष-निषुण होता हुआ मन्य अपने आत्म-ज्ञानसे मान और अपमानमें समताका विस्तार कर छोड़ दिया है आग्रह जिसने ऐसा होकर नगर अथवा वनमें विधिप्र्वक रहता हुआ उपमा रहित मुक्तिल्पी लक्ष्मीको प्राप्त करता है।

विशादार्थ—इप्ट कहते हैं सुखको-मोक्षको और उसके कारणभूत स्वात्मध्यानको । इस इप्टका उपदेश यथावत प्रतिपादन किया है जिसके द्वारा या जिसमें इसिटिये इस प्रन्यको कहते हैं 'इप्टोपदेश '। इसका मठी प्रकार व्यवहार और निश्चयसे पठन एवं चिन्तन करके हित और अहितकी परीक्षा करनेमें चतुर ऐसे भव्य प्राणी, जिससे अनन्त-ज्ञानादिक प्रगट हो सकते हैं—इस इप्टोपदेशके अध्ययन-चिन्तन करनेसे उत्पन्न हुए आत्मज्ञानसे मान-अपमानमें राग-देपको न करना रूप समताका प्रसार कर नगर-प्रामादिकोंमें अथवा निर्जन-वनमें विधि-पूर्वक ठहरते हुए छोड दिया है

इसलिये-

अविद्याभिदुरं ज्योतिः, परं ज्ञानमयं महत् । तत्प्रष्टन्यं तदेष्टन्यं, तद् द्रष्टन्यं सुमुक्षुभिः॥ ५९॥

अन्यप---अविद्यासिदुरं महत् परं ज्ञानमयं ड्योतिः सुमुक्षुाभिः तत् प्रष्टव्यं तत् एष्टव्यं तद् द्रष्टव्यम् ।

द्दीका —तदानन्दरवभावं ज्ञानमयं स्वार्थावभागासकं परमुख्युष्टमिविद्याभिद्धरं विभ्रमच्छेदकं महत् विप्रुष्टम् इन्द्रादीनां पूरुपं वा ज्योतिः प्रष्टस्यं मुखुद्धिमिर्गुर्वादिस्योऽनुयोक्तव्यम् । तथा तदेव एष्टव्यं क्षित्रद्यणीयं तदेव च द्रष्टस्यम् दुभयनीयम् । एवं ब्युपाद्य विस्तरतो ब्युपाद्य उक्तार्थतत्त्वं परमक्ष्यप्या वंग्रह्म तन्मस्य संस्थाविद्युक्तामः सूरिरिदमाष्ट् कि बहुनिति । हे सुमते कि कार्यं बहुनोक्तेन हेयोपादेयतत्त्वयोः शंद्योगापि प्राज्ञनेतसि निवेद्ययिद्वं शक्यस्वादिति भावः ॥ ४९ ॥

अर्थ—अविधाको दूर करनेवाली महान उत्कृष्ट ज्ञानमयी व्योति है। सो मुमुक्कुओं (मोक्षाभिलापियों) को उसीके विषयमें पृष्ठना चाहिये, उसीकी वांका करनी चाहिये, और उसे ही अनुभवमें लाना चाहिये।

विद्यादार्थ—वह आनन्द स्वभावजाली, महान उत्कृष्ट, विभ्रमको नष्ट करनेवाली, स्वार्थको प्रकाशन करनेवाली, अथवा इन्द्रादिकोंके द्वारा पुल्य ऐसी ज्योति है। मोक्षकी इच्छा रखनेवालोंको चाहिये कि वे गुरु आदिकोंसे उसीके विषयमें पुछ-ताछ को । तथा उसीको चाहि, एवं उसीका अनुभव को ॥ ४९॥

दोहा--पूज्य अविद्या-दूर यह, ज्योति झानमय सार । मोक्षार्थी पूछो चहो, अनुभव करो विचार ॥ ४९ ॥

इस प्रकार शिष्यको विस्तारके साथ समझाकर आचार्य अब परम करुगासे उस कहे हुए अर्थस्वरूपको संक्षेपके साथ शिष्यके मनमें वैठालनेकी इच्छासे कहते हैं कि "हे सुमते-अच्छी बुद्धिवाले! बहुत कहनेसे क्या ? हेय-उपादेय तत्त्वोंको संक्षेपमें भी बुद्धिमानोंके हृदयोंमें उतारा जा सकता है। उन्हें साररूपमें बतलाया जा सकता है।"

> जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः। यदन्यदुच्यते किंचित्, सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः॥ ९०॥

अन्वय—जीवः अन्यः, पुद्गलश्च अन्यः इति असौ तत्त्वसंग्रहः यत् अन्यत् किञ्चित् उच्यते स तस्येव विस्तरः अस्त ।

टीका — जीनो देहादेभिनो देहादिश्च जीनाद्भिन्न इतीयानेन असी विधीयते आसमस्तत्वस्य भूतार्थस्य संग्रहः सामस्त्येन ग्रहणं निर्णयः स्थात् । यस्पुनरितस्तत्वसंग्रहादस्यदितिरक्तं किन्द्रिद्यमेदादिकं विस्तररुचिशिष्यापेक्षयानार्थे-रूच्यते च तस्यैन विस्तरो ज्यासो यस्तु तमिष नयमिमनन्दास इति भानः ॥ ५० ॥

आचार्थः शास्त्राध्ययनस्य साक्षात्पारंपर्येण च पछं प्रतिपादयति;—्

अर्थ—' जीव छुदा है, पुहल छुदा है,' नस इतना ही तत्त्वके कथनका सार है, इसीमें सब इंग्ड भा गया। इसके सिवाय जो कुछ भी कहा जाता है, वह सब इसीका विस्तार है। विश्वादार्थ—'जीव, श्वरीरादिकसे भिन्न है 'श्वरीरादिक जीवसे भिन्न है 'वस इतना ही कहना है कि सत्यार्थ आत्मरूप तत्त्वका सम्पूर्ण रूपसे ग्रहण (निर्णय) हो जाय। और जो कुछ इस तत्त्व-संग्रहके सिवाय भेद प्रभेद आदिक विस्तारमें सुननेकी रुचि-इच्छा रखनेवाले शिप्योंके लिये आचार्योंने कहा है, वह सब इसीका विस्तार है। इसी एक बातको 'जीव जुदा है, और पुद्रल जुदा है, 'समझानेके लिये ही कहा गया है। जो विस्तार किया है। उसको भी हम श्रद्धाकी दृष्टिसे देखते हैं। ५०॥

होहा—जीव जुदा पुद्रल जुदा, यही तत्त्वका सार। अन्य कछू व्याख्यान जो, याहीका विस्तार ॥ ५०॥

आचार्य ग्रास्त्रके अध्ययन करनेका साक्षात् अथवा परम्परासे होनेवारे फलको बतलाते हैं— इष्टोपदेशमिति सम्यगधीत्य धीमान्, मानापमानसमतां स्वमताद्वितन्य । सुक्ताग्रहो विनिवसन् सजने वने वा, मुक्तिश्रियं निरुपमासुपयाति मन्यः॥ ५१॥

अन्वय—इति इष्टोपदेशं सम्यक् अधीत्य धीमान् भव्यः स्वमतात् मानापमानसमतां वितन्य मुक्ताग्रहः सजने वने वा निवसन् निरुपमां मुक्तिश्रियम् उपयाति ।

टीका—इत्यनेत प्रकारेण इष्टोपदेशं इष्टं सुखं तत्कारणत्वाम्मोक्षस्तदुषायत्वाच स्वात्मप्यानम् उपिद्वयते यथावत्प्रतिपायते अनेनारिमन्तिते वा इष्टोपदेशो नाम प्रन्थरतं सम्यग्व्यवहारनिश्चयाभ्यामधीत् पठित्वा चिन्तियत्वा च धीमान् हिताहितपरीक्षादक्षो भव्योऽनन्तज्ञानाद्यांविभीवयोग्यो जीवः मुक्तिश्चियमनन्तज्ञानादिर्धपदं निरुपमामनौष्यथां प्राप्तोति । किं कुवैन्युक्ताग्रहो वर्जीववहिर्थाभिनवेदाः सन् सजने प्रामादौ वने वाऽरण्ये विनिवसन् विचिष्वंकं तिष्ठन् । कि कृत्वा, वितन्य विशेषेण विस्तार्यं । का, माने महत्त्वाधाने अपमाने च महत्त्वष्यने समता रागद्वेषयोरभावम् करमाद्वेतोः, स्वमतात् इष्टोरदेशाध्ययनचिन्तनजनितादात्मज्ञानात् । उक्तं च—।। ५१॥

" यदा मोहाःप्रजायेते, रागद्वेषी तपस्त्रिनः । तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मानं साम्यतः क्षणात् " ॥ ३९ ॥-समाधि-शतकम् ।

अर्थ—इस प्रकार 'इष्टोपदेश ' को भठी प्रकार पढ़कर-मनन कर हित-अहितकी परीक्षा करनेमें दक्ष-निपुण होता हुआ भव्य अपने आत्म-ज्ञानसे मान और अपमानमें समताका विस्तार कर छोड़ दिया है आग्रह जिसने ऐसा होकर नगर अथवा वनमें विधिष्ठर्वक रहता हुआ उपमा रहित मुक्तिक्पी ठक्ष्मीको प्राप्त करता है।

विश्रादार्थ—इष्ट कहते हैं सुखको-मोक्षको और उसके कारणभूत स्वात्मध्यानको । इस इष्टका उपदेश यथावत प्रतिपादन किया है जिसके द्वारा या जिसमें इसिलये इस अन्यको कहते हैं 'इष्टोपदेश '। इसका मली प्रकार व्यवहार और निश्चयसे पठन एवं चिन्तन करके हित और अहितकी परीक्षा करनेमें चतुर ऐसे भव्य प्राणी, जिससे अनन्त-ज्ञानादिक प्रगट हो सकते हैं—इस इष्टोपदेशके अध्ययन-चिन्तन करनेसे उत्पन्न हुए आत्मज्ञानसे मान-अपमानमें राग-देषको न करना रूप समताका प्रसार कर नगर-प्रामादिकोंमें अथवा निर्जन-वनमें विधि-पूर्वक ठहरते हुए छोड़ दिया है

वाहिरी पदार्थोंमें में और भेरेपन का आग्रह अथवा हठाग्रह जिसने ऐसा वीतराग होता हुआ प्राणी अनुपम तथा अनन्त ज्ञानादि गुणोंको और सम्पत्तिस्य मुक्ति-रुक्ष्मीको प्राप्त कर लेता है। जैसा कि कहा गया है "यदा मोहारअजायेते॰"॥

जिस समय तपस्वीको मोहके उदयसे मोहके कारण राग द्वेप पेदा होने टगें, उस समय शीघ ही अपनेमें स्वित आत्माकी समतासे मावना करे, अथवा स्वस्य आत्माकी मावना मावे, जिससे क्षण-भरमें वे राग द्वेप शान्त हो जावेंगे ॥ ५१॥

> दोहा—इष्टरप उपदेशको, पढ़े सुबुद्धी भन्य । मान अमानमें साम्यता, निज मनसे कर्तेच्य ॥ ५१ ॥ आग्रह छोड़ स्वग्राम में, वा चनमें सु वसेय । उपमा रहित स्वमोक्षशी, निजकर सहजहि छेय ॥ ५२ ॥

आगे इस ग्रन्थके संस्कृतटीकाकार पंडित आशाधरजी कहते हैं कि-

प्रशस्ति :

विनयेन्द्रमुनेर्वाक्याद्भस्यानुग्रहहेतुना । इष्टोपदेशटीकेयं कृताशाधरधीमता॥
अर्थ-विनयचन्द्र नामक मुनिके वावयोंका सहारा लेकर भव्य प्राणियोंके उपकारके लिये
मुझ आशायर पंडितने यह इष्टोपदेश नामक ग्रन्यकी टीका की है।

उपराम इव मूर्तः सागरेन्द्रोमुनीन्द्रादजनि विनयचन्द्रः सञ्चकारैकचन्द्रः। जगदमृतसगभी शास्त्रसद्भेगभीः, शुचिचरितवरिणोर्यस्य धन्वन्ति वाचः॥२॥

अर्थ—सागरचन्द्र नामक सुनीन्द्रसे विनयचन्द्र हुए जो कि उपशमकी (शांतिकी) मानो मृतिं ही थे, तथा सजन पुरुषस्थी चकोरोंके ठिये चन्द्रमाके समान थे, और पवित्र चारित्रवाठे जिन सुनिके अमृतमयी तथा जिनमें अनेक शास्त्रोंकी रचनाएँ समाई हुई हैं, ऐसे उनके वचन जगतको तृति व प्रसन्नता करनेवाठे हैं।

जयन्ति जगतीवन्द्या, श्रीमन्नेमिजिनाङ्कयः । रेणघोऽपि शिरोराश्चामारोहन्ति यदाभिताः ॥३॥

अर्ध—जगद्वंद्य श्रीमान् नेमिनाय जिनमगवानके चरणकमल जयवन्त रहें, जिनके आश्रयमें रहनेवाली धृत्रि मी राजाओं के मस्तकपर जा बैठती है।

इति श्रीपूज्यपादस्वामिविरचित रद्योपदेशः समाप्तः। इस श्रकार श्रीपूज्यपादस्वामीके द्वारा वनाया हुआ 'इग्रोपदेश' नामक ग्रन्य समाप्त हुआ ।

परिशिष्ट नं १

श्रीपूच्यपादस्वामीकृत श्लोकांचा श्रीअज्ञात कविकृत मराठी पद्मानुवाद

इष्टोपदेश।

---:0:---

कर्मा समूळ नाशुनि प्रगटविती जे स्वयं स्वभावार्वे । वंदन त्या हो माझे सम्यग्शन-स्वरूपि आत्याते ॥	Ş
स्वर्णजरें वरेंत हो त्या दमडांतून मानिती कनक । आत्मत्व मिळवि आत्मा होता द्रव्यादि चार तें एक ॥	ą
वत सुरवद दे म्हणुनी इष्टिच परि अवतें मिळें नरक । छायेंत मित्र जेवीं बघत उमे वाट आर्तेपीं एक ॥	3
ज्या चिंतवितां लाभे शिव, त्याते स्वर्ग दूर किति राही । क्रोशाढें खेद कसा, जो सहजवि भार कोष दों नेई ॥	¥
स्वर्गिय पुरसुख अवर्ते निरोगि ते अक्षैजन्य नाकांतें । यहुकाळ भोगतां येते सुख त्यानांच योग्य लोकांत ॥	ų
फक्त बासना असती संसारीचे जगांत सुख-दुःख । दाबिति आपरकालीं रोगासम अक्षमोग मय देख ॥	Ę
र्वंदुर्ते मोहे ज्ञान न जाणी द्रश्यस्त्रमाव, मत्त वने । द्रव्यें मद्योत्पादक पदार्थमावा तका न नर जाणें ॥	19
घर, धन, शरीर, दारा शत्रू मित्रादि पुत्र वस्तूंना। धन्यस्त्रभावि सगळें परि मानी मूढ आपुले स्यांना ॥	6
निधि खग येउनि वस्ती, दिग्देशाद्धन नगानगावरती । निज निजकार्यवर्शे ते देशोदेशी उजाडतां जाती ॥	9
केर्चि विराधर्क मारिति त्यातें, करि त्या जनावरी कोष । ऋंगुळैपदीं घरोनी पाडी, दण्डे पढे अपीआप ॥	₹٥
रागद्वेपें मिवतां कर्माचें वव निवेचि नवनीर्त । जीवातमा अञ्चानें त्या चिर संसार-सागरीं भ्रमत ॥	११
विषदा भवपथवैती पथिकेसम जाति सारळी दूर । जोविर तोंबिर दुसरी विषदा, जीवासमोर ये प्रचुर ॥	१२
रक्षाया मिळवाया घनादि नश्वर कठीण जे असती । मानी सुखी तर्वे नर पिउनि घृता चवर इरावया बघती ॥	₹₹
इतरांसम अपणातें येति विपन्ति न विचार मूढांस। पशु जळती वनि वधुनी तरवर वसुनि न विचारि निजनाश ॥	188
आयुक्षय घनवृद्धिस कारण निर्गमन होय कालाचे । तत्प्रेमी धनिकातें जीवाहुन अधिक इष्ट पैशाचे ॥	१५
निर्धन करि धनसंचय, कर्मा श्रेयेंचि प्राप्त स्थागाया । स्नान करावें म्हणुनी पंकें ⁵ लिंपन करीच देहा या ॥	१६
आरंभि तापदायक मिळतां अनुप्ति वाढते जाण । भोगून, हैयमोगी अधिकचि मोगीळ तो सुधी कवण ? ॥	१७
ज्याच्या संगतिनें जिंग बनती वस्तूं पवित्र अपवित्र । त्या इच्छिणें दृथा हो काया संतत अपाय जी करित ॥	१८
उपकारक जें जीवा अपकारक तेंच होय देहास जें उपकारक होतें अपकारक तें ठरेचि जीवास ॥	१९
चितामणि दिव्य तस खेंडे पेंडिचा तथापि निःसार। छामति उभयध्याने कोणा बुघ मानतील बघ सीरे ॥	२०

१ मूळ स्वरूपवाला २ उन्होंत ३ इन्द्रियजन्य ४ स्वर्गात ५ वेष्टित ६ वदला घेणारा ७ एक माती खांदणेचें यंत्र अर्थात् कुदाल फावले या सारखे ८ लोणी ९ संसारांत पदींपदी येणारी १० चिखलानें ११ तुकडा १२ श्रेष्ट

म्हानपर्ये हो प्रग्रंट प्राप्त हेट सम चया असे मार्ची। अत्यंत मर्खा आत्मा लोकालोकानलेकि वह जाण ॥ 28 एषः।प्राप्तें देहिय-विपयार्ते स्वजनि संबर्धे जाती । आधानी आसा आस्यामानी वसे तथा चिती ॥ 35 अद्भावित अञ्चल करवा जानप्रक्ति है हान । में ह्या जवलीं हो है सबि है प्रख्यात हैं असे वचन ॥ 23 क्षायास्त्राच्या बोगें। परीवदादिक न तेच व्यवस्थतां । बालव निरोधिकर्मा येड निर्वरा संशीव की संगेतां ॥ २४ यहाँ चर्रंजा भी यांत्रचि संबंध भिन्न दोघांचा । ध्यान ध्येयचि आत्मा केवीं संबंध भिन्न वट स्याचा ॥ **ર**ધ્ भौकी कभी गांधी निभोदी तो स्थातनी सुटन । ब्हणूनी सुगळ्या बरने निर्मय माबार मावण स्वत ॥ २६ क्षितीहर एकटा भी विजय योगींडगोर्स्टर जानी । बाह्यमान संयोगस ते मजहन बाह्य सर्व नं जाणी **॥** 26 प्राण्या रा:मसमहा संयोगे भोगणें वहे सुवर्ती । म्हणूनी त्यनिती स्यातें सगळ्या मन वचन काय-कमोनी ॥ 26 भागं न भरण केवी भय ना, व्याची कवी व्यथा होय । मी बृद्ध न बाल न मी तरण न है भेद पुटलीं पाय ॥ शाहि संतत समर्थ स्था पढ़ल योग भोगनी त्यनिलें। वद मण तत्त्वज्ञान्या त्या उच्छिपंत राग केवि गळे १ ॥ क्रांचि हितकर कर्मा आत्मा आत्मास हो हितावह तो। स्वरवप्रसाय जाणनि, स्वार्यो वद कोण **ना नवीं** वहतो ॥३१ षरीयकृति ती त्यज्ञनी सञ्चासम हो स्वतास उपकारी । दृश्यमानदा। अञ्च करि उपकार न असे परा भारी ॥ 35 अस्यारें टपदेशें गरूपा तो अनमवन आत्यातें ! निवार मेदा वाणनि, मोगी विस्ताल मोक्ष सीस्यातें !! 33 रया ही यह अभिन्नाया इष्ट वस्तर्चे तथा असे ज्ञान । आस्त्राच गुरू आस्म्या प्रेरक निवहित असे खता चाण ॥ ३४ अप्र स असतो जाता विशास मर्ख से कार्य जसते । दसरें निमित्त केवळ गतितें धर्मस्तिकाय के होतो ॥ िरक्षेप न गर्नि वसनी सतीं पंस्थित वचन एकांतीं । अभियोगें त्या स्थातियस तस्या अध्यासणें मुने जगतीं ॥ 38 ं आसारस्य उसम स्वानभवाने जर्से वसे येते । विषय सबभ ते असनी कटा न जीवा ठसे वसे रचते ॥ 319 इंडिय-विषय न जेवी सहम असोनी न रचति परवाते । तेवी उत्तम तत्त्वचि. रचते निव अनुभवार येतां ते॥ ३८ जारमलाग तो इच्छी इंद्रजालसम जगास निःशेष । बहुनी, विषयांत दुवया स्मतां, मनि खेद होइ वह स्यास ॥ ३९ प्रश्वदी अधिप्रयालें निर्वत प्रकांतवासि हो स्थाते । निर्मादार्वकों किचित बोलन विस्तन त्यास तो जातो ॥ ग्रीकरा अमृति न बोले चालत असतां करां न तो चाले। पाइत अस्ति न पाडी आस्मित तत्त्वीं रियरत्व मेळविलें ।)४९ कोण क्रणाचे कैसे क्रमणें कोठें असेच हा राम । त्याग्रीत विकल्प देहा, जाणि न निजयोगि योग विश्राम ॥ ΥŶ भी भेषें पराति करी, तेथें तो जीय फरियसे फ्रीति । रमभाण दियें होतो तेथन कोठे न जात तो जगतीं ॥ ΥŞ सीरान कुठे न जाती राहि, निरोषा तदीय अनुसिख । तहिरोष अञ्चलें हो वह न सक्त होय परि सुज ॥ YY पर ते पर दु:खद हो आरम्या आरमेंच सीख्य मानवते। तद्व प्राप्तिस्तव उद्यम करिती म्हणूनी महान सानव ते 🛭 🛂 करि पुद्रल वस्तुंचें अभिनंदन जो जगीं अविद्वान । सहवास जंतचा त्या सींडी चारी गरींत ते किंध न ॥ Y ध्यवहार-बाह्य होउन आत्मध्यानांत होह लव-लीन । योगाच्या योगबळे त्या वरमानंद एक वे जनन ॥ 80 अधिकवि जाळिवसे हा, अनंत कर्मेंघनाए आनंद । बहिरंग दुःख योगी मुळि अनुभवतां न पावतो खेद ॥ 76 पर अविधेहन ती शांनमयी श्रेष्ठ परमशी स्वोति । प्रश्न करी सनमब से विचार त्याचा करींच मोधार्यी ॥ ٧ę है। संग्रह तत्वांचा यम प्रहरू जीव दोन ते भिन्न । जे अन्य नाह कथिले त्याचा विस्तार तो ठरे जाग ॥ 41 इष्टोपदेश हुए बाचुन चितवून । मानापमानि समता स्वमते वरून ॥ मुक्तांत्रेंहीं जनि बनी विधिने वैद्यन। मुक्तिक्षिया निरूपमा करि प्राप्त जाण ॥

११ प्रमाण १४ चर्बुदिवाली, फेबल्यानी १५ गोचर-बाणलें लातें-तें शानांत जातें वें १६ लोकून टाक्टेर १७ मुकीच्या आगरात. १८ विविद्वेक.

परिशिष्ट नं० २

श्रीमत्पूज्यपाद्स्वामिकृत श्लोकोंना

श्रीरावजीभाई देसाई श्रीमद् राजचंद्र आश्रम अगासकृत गुजराती पद्यानुवाद ।

इष्टोपदेश।

मंगलाचरण अनुष्टुप छंद

अपूर्व तत्त्वदिष्टना, दाता सद्गुरु राजने; नमी इष्टोपदेशे जा, रमुं, साधुं स्वकाजने ॥ वृज्यवाद स्तिवर्वे, रच्यो इष्टोपदेश आ; रमावी आत्मवृत्ति त्यां, मोक्षार्थी श्रेय साधता॥

> अवतरण ग्रन्थारंभ

सर्व कर्मों हणी पोते, पाम्या आत्मस्वभावनेः केवलज्ञानरूपी ते, नम् सत् परमात्मने ॥ १ ॥ स्वर्णपापाण सुहेत पामी सोनं वनी रहे; सुद्रव्यादि तणा योगे, आत्मा शुद्धात्मता रहे ॥ २ ॥ वतो आपे सुखो स्वर्गे, अवतो नरके दःखोः छांगे तापे उमा बेनो, भेद मोटो अहो छखो । ॥ ३॥ आतमभाव यदि मोक्ष आपे स्वर्भ विसात नाः कोश वे जे छई जाये, कोशार्धे थाय म्हात ना ॥ ४ ॥ स्वर्गमां अमरोने जे सुखो इन्द्रिय जन्य ए. निरामधी चिरस्थायी देवोने योग्य भोग्य ते ॥ ५ ॥ जीवोनी वासना मात्र ए इन्द्रिय सुखो दु:खो: भोग ते रोगवत पीडा. आपे आपत्तिमां जुओ ॥ ६ ॥ मोहाच्छादित जो ज्ञान, जाणे ते न स्वभावनेः मेणो चढ्ये खये प्राज्ञो, शृद्धि, युद्धि-प्रभावने ॥ ७॥ देह गेहादि स्त्री पुत्रो, शत्रु मित्रो घनादि तो: स्वभावे सर्वधा न्यारां, मूढ माने स्वकीय जो ॥ ८ ॥ भिन्न देश दिशामांथी पक्षी आवी तरू वसे: प्रभाते सौ स्वकार्यार्थे, ऊडी जाये दिशे दिशे ॥ ९ ॥ विराधे अस्यते तं तो, अन्य ते तुजने हणे; करे हे कोध त्यां शाने ? वावे तेवं जगे रूणे ॥ १०॥ अक्षाने राग ने द्वेष, नेतरां कप्र नोतरे; खेंचातां, दंडवत जीवो, भवाव्धिमां भम्या करे ॥ ११ ॥ विपत्ति एक ज्यां जाये, आवे तेवी बीजी घणीः संस्तारे प्राणीने एवी, घटमाळ विपत्तिनी ॥ १२ ॥ कमातां रक्षतां कष्ट धनादि नाशवंतने; सुखी तेथी गणे तो, शं, सुख घीशी ज्वरार्तने ? ॥ १३ ॥ विपत्ति अन्यनी जोतां, पोतानी न विचारतो; वने ज्यां सौ बळे प्राणी, मुर्ख वृक्षे रह्यो छतो ॥ १८ ॥ आय-भोगे वधे उद्मी, धनिको तोय ते चही, धनार्थे आयु गाळी दे, प्राणथी इष्ट श्री तहीं ॥ १५॥ दान के पुण्यता नामे, निर्धनो धन संग्रहे। तो ते 'स्नाने थरां शुद्ध ' चही पंके वृथा पडे ॥ १६ ॥ पमाये कप्रथी भोगो, पाम्ये तृप्ति न आपता; त्यागतां दुःख दे अंते, तेमां सुहो ग्रुं राचता ? ॥ १७ ॥ जेना संगे शुचि पदा, पदार्थी अशुचि बने; ते दुःखमूर्ति देहार्थे, भोगनी चाह शुं तने ? ॥ १८॥ आत्माने श्रेयकारी जे, देहने अपकारी ते; कित देहोपकारी जे, आत्माने अपकारी ते ॥ १९ ॥ दिप्य चिंतामणि एक, काचनो कटको बीजो: मळे जो प्यानशी बन्ने, घिनेकी इच्छाई क्यो ?॥ २०॥ स्पष्ट स्वातुभवे व्यक्त, अक्षयी देहव्यापकः आनंदधाम आ आत्मा, लोकालोक-प्रकाशक ॥ २१ ॥ चित्त-पकात्रता साधी, रोकी इन्द्रिय-प्रामने: आत्माश्री संयमी ध्यावे, आत्ममां स्थित आत्मने ॥२२॥ हानीना आश्रमे हान, अहयी अहता मळे; 'होय जेनी कने जे ते, आपे ' छोकोक्ति ए फळे ॥ २३ ॥

परीपदो जणाये ना. मझ अध्यात्ममां थतां, आसवी रोकती थाये कर्मनी शीव्र निर्जरा ॥ २८ ॥ फर्ता हं सादडीने त्यां छे संबंध जवे। कह्यो। ध्यान-ध्येय स्वयं आत्मा त्यां संबंध कये। रह्यो रे॥२५॥ ममताथी जीवने वंध, मुक्ति निर्ममता थकी, माटे सर्व प्रयत्ने ए, ध्यावी निर्ममता नकी ॥ २६ ॥ निर्मम एक हं राद्ध, बानी योगीन्द्रगोसर; सर्वे संयोगी भावो ते, स्वातमाथी सर्वथा पर ॥ २७ ॥ दःखना इंगरी वेदे, जीवो संयोग कारणे; मन घाणी तनु कर्मे तजुं संयोग सर्धने ॥ २८ ॥ मने ना सत्य, भीति शी र मने ना राग, शी व्यथा र ना हुं तरुण, ना वृद्ध, वाळ ना पुहुले वर्धा ॥२९॥ मोहथी भोगवी छोड्यां, पदलो सी फरी फरी, हवे ए एंठमां मारे, ब्रानीने जी स्वहा वर्ला ? ॥ ३०॥ कमों कमीहित ताके जीघो इच्छे स्वश्रेयने; स्व स्व प्रभावयोगे सी, साघे कोण न स्वार्थने ? ॥ ३१ ॥ देहादि अन्यना अह उपकारे भी वर्तना । लोकवत स्वार्थ साधी ले. त्याद्य अन्योपकार हा । ॥३२॥ गुरुवोधे, स्वअभ्यासे, स्वानभृतिधी जाणताः आत्मा ने अन्यनो मेद, ते मुक्ति-सख मानता ॥३३॥ स्वयं सत्ती करे इच्छा, स्वयं ज्ञापक श्रेयनोः स्वयं स्वश्रेयमां वर्ते, स्वयमेव गुरु स्वनो ॥ ३४ ॥ पामे ना बानता अब, बानी ना अबता बहे; निमित्तमात्र वीजा तो, गतिमां धर्मवत, बने ॥ ३५ ॥ शमावी चित्तविक्षेपो. एकांते छीन आत्ममां; अभ्यासे उद्यमे योगी, सहजातमतत्वता ॥ ३६ ॥ थनुभृति निजात्मानी, जेम जेम प्रकाशतीः तेम तेम छता भोगे, स्वयं रुचि विरामती ॥ ३७ ॥ जैस जैस छता भोगे. स्वयं रुचि विरामतीः तेम तेम अनुभृति परात्मानी थती छती ॥ ३८ ॥ समस्त विश्वने भाळे, इन्द्रजाळ सम् वृथाः भारम-लाभ सदा इच्छे, पस्ताये परमां जतां ॥ ३९ ॥ इच्छे एकांतमां वास. चाहे निर्जनता सदाः पदे कार्यघरो किंचितः तेय शीघ्र भूली जता ॥ ४० ॥ घोळे तोये न बोळे ते. बाळे तो ये न बाळता, स्थिएता आत्मतस्वे जो, देखे तो ये न देखता ॥४१॥ विचारे ना शूं आ केंद्रं कोनं क्यांथी वळी कहीं ? योगी तो योगमां ठीन, देहभानेय ज्यां नहीं ॥४२॥ जेमां जे बसी रहे छे, त्यां ते रति करे अति; जेमां रमणता जेनी, त्यांथी अन्यत्र ना गति ॥ ४३ ॥ अन्यत्र ना गति तेथी, अन्यने ना अनुभने, अनन्य उपयोगी ते, अवंध मुक्ति भोगने ॥ ४४ ॥ अन्य ते अन्य, त्यां दुःख, आत्मा आत्माज ते सुखीः आत्मार्थेज महात्मानी, साधना सर्वतोमखी॥४५ थक्ष जे पुद्रलद्भव्ये राचे ते पुद्रलो पछीः तेनो पीछो तजे नांहीं कदी चतुर्गतिमहीं ॥ ४६ ॥ ध्यानमां मग्नता ज्यां त्यां, वाह्य व्यापारशृत्यताः, ध्यानथी योगी आस्वादे, सिंधवानंद व्यक्तता ॥४७॥ कर्म-राशि दहे नित्य, ते आनंद हताशन: खेद ना पामता योगी, बाह्य दःखे अचेतन ॥ ४८ ॥ अविद्या भेदती ज्योति, परंत्रानमयी महाः सुमुक्ष मात्र ए पूछे, इच्छे, अनुभवे खदा ॥ ४२ ॥ आत्मा ने पुरस्तो जुदां, मात्र था सार तत्त्वनोः अन्य जे कांई शास्त्रोक्त, आनो विस्तार ते गणो॥५०॥

बसन्ततिलका

इष्टोपदेश मितमान भणी यथार्थ, मानापमान समताथी सहे इतार्थ; निराग्रही बन विषे जनमां घसे वा, पामे अनुप शिवसंपद भन्य तेवा ॥ ५१ ॥ सद्बोध सहुरुतणो जीव जे उपासे, तेने विजात्म थकी पुद्रल भिन्न भासे; स्वानुभने सहज आत्मस्वरूप राजे, ते सीस्थ-धाम परमात्मपदे विराजे ॥

परिशिष्ट नं. ३

ॐ तमः

श्रीपूज्यपादस्वामिकृत

इष्टोपदेश ।

THE DISCOURSE DIVINE

Late Mr. Champatrai Jain, Bar-at-Law Vidyāvāridhi.

यस्य स्वयं स्वभावाधिरभावे कृत्स्नकर्मणः। तस्मै संज्ञानक्रपाय, नमोऽस्तु परमात्मने ॥१॥

He who has attained the purity of his nature by the destruction of all his karmas by his own effort—to such an Omniscient Paramatman salutation is offered.

Note:—Omniscience is the attribute of the Pure and Perfect soul, and is the most essential of divine qualities, which are all implied in it. In Jainism salutation is offered to Divinity not because the devotee expects any boons from the object of his veneration and worship, not because salutation is pleasing to Him who is the embodiment of all divine attributes, not even because such salutation is itself, in any sense, the aim and object of worship, but because, the Paramatman is the Ideal of Perfection for the devotee, who wants to realize it in His own self, and because the adoration of Him who represents the Perfection of Divinity in His own pure being is the only means of attaining to it, at least in the earlier stages of the path.

योग्योपादानयोगेन, दषदः स्वर्णता मता । द्रव्यादिस्वादिसंपत्तावात्मनोऽप्यात्मता मता ॥२॥

As gold in the ore is held to become pure gold on the intervention of the real causes of purification, in the same manner on the attainment to self-nature the impure (uneman-cipated) soul is also regarded as pure Spirit.

Note:—The impure ego is like gold in the state of ore; both of them possess the potentiality of attaining to purity and perfection, when rid of the adhering impurities. Smelting is the process employed to obtain pure gold from the ore, which means the removal of the nongold that is found to be mixed up with it. A lump of ore, thus, represents pure gold plus so much dross added to it. In the same way the mancipated soul is pure Spirit plus so much filth or dirt (matter) adhering to it. Hence, when the filth is removed by a process akin to that of smelting in the case of gold, the foreign material is separated off and self-nature attained, on the emergence of the purity of sra-dravya (own substance), consequent on the elimination of constituents of the not-self. The term sia-dravya (own-substance) here includes the other three conceptions that are homogeneous with it, namely sia-lala (own-time, signifying the external states that are changing in time), sia-labata (own-fielings or own nature, i. e., internal

states). These may be termed the 'sva' quartette technically. The soul that is rid of the not-telf exists in its own nature with respect to the sta quartette, while the transmegrating ego is overwhelmed with the conditions and lumitations imposed by the companionship of the not-self. This may be explained in a tabulated form, as follows:—

Pure Spirit,	Conditions, of existence	Impure ego.
Exists in His own substance	Dravya	Exists mixed with impurities of the nature of the not-self.
Is Divine all over	Kshetra	Is involved in impurities all over.
Abides in a form that is His own for ever more	Kâla	Possesses a form that is liable to periodic changes on account of the liability to birth and death.
Always enjoys the blass and blessed- ness, appertaining to pure Spirit.	Bhāva	Is devoid of self-feeling, and passes a joyless, cheerless exi- stence, generally.

वरं वतः पदं देवं, नावतेर्वत नारकम् । छायातपस्थयोभेदः, प्रतिपालयतोभेदान् ॥ ३॥

Observance of vows leads to birth in the heavens, therefore their observance is proper; the vowless life drags one to a birth in the hells, which is painful; therefore, vowlessness should be avoided; when two persons are waiting for the arrival of another person, but one of them waits in the heat of the sun and the other in the shade, great is the difference between their conditions; precisely the same difference is to be found between the condition of him who leads a life regulated by the vows and of him whose life is not so regulated.

Note:—In the last verse divinity is said to be the natural attribute of the soul which arises from within its own self on the occurrence of the helpful causes of Solf-realization. Naturally enough the question now arises why should one take the trouble of observing yows and otherwise subjecting one self to mife of austerities and hardships, considering that Divinity is actually the potential nature of the soul? Will not the supreme status be obtained without undergoing penances and without yows? The reply is given here in this verse. Painful, at times very pannful, indeed, is the life which results from the non-observance of vows. One might even descend into helis which is the most undesirable condition of existence. On the other hand, the observance of vows leads to very happy and desirable conditions, including a birth in the heavens. Therefore the acharya says that the difference between the soul that is leading a well regulated life and the one that the difference between the soul that is leading a well regulated life and the one whose hie is not so regulated is precisely that between the condition of the man who is waiting for the arrival, of a companion in the heat of the day, exposed to hot winds and the burning glare of the sun, and of him who is also awaiting the arrival of the same person but in a cool and shady grove.

Metaphysically, of course, the helpful potent causes themselves include the observance of vows and the suffering of hardships at a certain stage of advancement; for without them the karmic filth cannot be separated from the soul. But the great thing to note about the observance of yows and the suffering of hardships is this that they appear

to be irksome and unpleasant only when thought of or looked at from a distance. When one is imbued with the right Faith one realises at once the necessity of a well-regulated life and actually longs for the perfection of character through suffering and self-denial. And the task does not then appear to be hurden-some, but is cheerfully accepted as the surest means of the acquisition of that joyous feeling of self-elevation which is dear to the heart of every aspirant on the path. That virtue is its own reward, is a saying the truth of which is not realized except by him whose life is characterized by self-imposed suffering in the name of Duty and Dharma.

यत्र भावः शिवं दत्ते, द्यौः कियहूरवर्तिनी । यो नयत्याशु गन्यूति, क्रोशार्द्धे किं स सीदति ॥४॥

The soul that is capable of conferring the divine status when meditated upon, how far can the heavens be from him? Can the man who is able to carry a load to a distance of two koses feel tired when carrying it only half a kos?

Note:—This verse is intended to settle the doubt that might now arise in the mind as to the respective merits of self-contemplation and the observance of vows, especially in regard to the ability of the former to secure a rebirth in the heavenly-regions. The answer is that the soul's contemplation can grant both moksha as well as heavens, which are much nearer so to speak; since he who can easily cover a distance of four miles without being fatigned is not likely to experience trouble in going only a mile. Self contemplation thus, is much superior to the mere observance of yours, though the latter are able to lead to heavens for the time being.

हपीकजमनातङ्कं दीर्घकाळोपळाळितम् । नाके नाकोकसां सौख्यं, नाके नाकोकसामिव ॥ ५ ॥

The happiness that is enjoyed by the residents of heavens appertains to the senses, is free from disturbance [literally, disease], enjoyable for very very long periods of time, and is without a parallel outside the heavens!

Note:—The pleasures of a heavenly life are but sense produced, though they are not to be found outside the heavenly region and are exceedingly delightful. The duration of the life, too, is incomparably longer in the heaven than on the earth, and it is therefore true that the heavenly pleasures are enjoyable for much longer periods than the pleasures, of this world.

वासनामात्रमेवैतरसुखं, दुःसं च रेहिनाम् । तथा ह्युद्रेजयन्त्येते, भोगा रोगा इवापदि ॥ ६॥

The experiences of pleasures and pains of the samsari jivas (unemancipated souls) are purely imaginary; for this reason the sense-produced pleasures give rise, like disease, to uneasiness on the approach of trouble !

Note:—If the pleasures and pains of the world were not the product of imagination they would be lasting, unchanging and eternal. But we see that what is the cause of pleasures to-day becomes a source of disturbance and pain as soon as trouble arises or calamity overtakes the enjoyer. Hence the acharya points out that senseproduced pleasures and pain are purely imaginary in their nature, notwithstanding that the infatuated humanity regard them as real and run after them. By the use of the word imaginary it is not to be taken that the acharya denies the reality of the experiences altogether; what he is aiming at in reality is only an emphasis on the nature of true happiness to be described later,

मोहेन संवृतं शानं, स्वभावं लमते न हि । मत्तः पुमान्यदार्थानां, यथा मदनकोट्रवैः ॥७॥

Deluded by infatuation the knowing being is unable to acquire adequate knowledge of the nature of things, in the same way as a person who has lost his wits in consequence of eating intexcitating food is unable to know them properly!

Note:—Infatuations—likes and dislikes, etc.—deprive us of that purer form of mental serenity which is necessary for the acquisition of true knowledge, for, as is well known, lucidity of the intellectual faculty is clouded when the mind is strongly agitated by passions and desires and wrong convictions and beliefs.

चपुर्र्य्हं धनं दाराः पुत्रा मित्राणि राजवः। सर्वथान्यस्वभावानि मृदः स्वानि प्रपद्यते ॥ ८॥

All the objects, the body, the house, wealth, the wife, the son, the friend, the enemy and the like, are quite different in their nature from the soul; the feelish man, however, looks upon them as his own!

Note—The wise always perceive themselves as different from the objects of the world whose relations are transient and temporary and perish after a time. The Self, however, is unperishing and eternal, and will pass away, on death, into some other form of life, leaving his newly-formed relations of a transient phase of life, in the course of his eternal wandering career, mourning has loss. Some times the relations depart plunging us in mourning. Hence, the acharya points out that the relations and, like them, the other objects which either leave us or are themselves left hehind, on death, are all different from the Self in their nature for otherwise they will always accompany the soul and cause it pleasure at all times and under all conditions.

दिग्देश्रेभ्यः समा पत्य, सवसंति नमे नमे । स्वस्वकार्यवशाद्यान्ति, देशे दिश्च प्रमे प्रमे ॥ ९ ॥

The birds gather together to pass the night, on a tree, from various places in different directions in the evening; but at the earliest moment at the break of day they depart, in the pursuit of their diverse purposes, for different places in all directions !

Note.—The world is like a tree where the birds gather together to pass the night; in the morning they are gone. In the same way friends and relations are formed in this world, us if for the night; at the break of day we part company from them, each one going his own way! Who, then, but the foolish will suffer himself to be entangled with such 'roosting-time' ties?

विराधकः कथं हन्त्रे, जनाय परिकुप्यति । ज्यङ्गुलंपातयन्यद्भवां, स्वयं दण्डेन पात्यते ॥ १० ॥

Why should the evil-doer become angry with him who takes revenge on him? He who pulls down the *irangura* with both his feet is himself felled to the ground through its instrumentality! This is but just! It therefore, does not become one to get angry!

Note.—The trangura is an instrument so constructed that if a man holds it with both his hands and then tries with his feet to pull it down to the ground, it will overthrow him at once. The acharya likens the action of an evil-doer to the result of pulling down the trangura. The evil one experiences at this moment from the hands of an enemy is sure enough the result of one's own evil-doing in the past. It is that evil which like the trangura has rebounded on oneself and is responsible for one's suffering. Surely, this

is but justice, pure and simple. Where is, then, room for anger in this? The point is that in this world evil is caused by evil, what is experienced now as an evil, experience is sure enough the resultant of an evil act done by us in the past. The experiencer of evil is thus himself proved to be the doer of evil and the cause of his own suffering. Still it is necessary to punish the evil-doer, for otherwise it will be destructive of society and good order. The wise man should, however, so control himself that he should do his duty, but should not allow humself to be carried away by passion in its discharge. The judge, for instance, should so deport himself as to punish the prisoner who is proved to be guilty, but while doing so he should maintain his own serenity of mind and should not allow his decision to be influenced by anger. The result of anger is very harmful for the soul; it tends to undesirable conditions in the next rebirth. Hence, the judge who allows his mind to be swayed by passion will be incurring the liability for a painful hereafter, while the judge who merely discharges his duty and remains calm and collected and of an unruffled temperament will be avoiding that liability and will also be shortening his own bondage as the result of passionlessness.

रागद्वेपद्वयीदीर्घनेत्राकर्षणकर्मणा । अक्षानात्सुचिरं जीवः, संसाराब्धी अमत्यसौ ॥ ११ ॥

Tied to the long rope intwined with [the strands of] attachments and aversions, the soul is whirled about in the ocean of samsāra (transmigratory existence) for immeasurable time, led by ignorance!

Note:—Love and hatred, or attachment and aversion, are the causes of bondage and transmigration. The series of births and deaths is unending, except in the case of him who acquires Selfknowedge. Hence the statement that souls wander about in transmigration for time beyond measure. Ignorance of the real nature of the soul and the non-soul, and of happiness and what is not happiness though it may appear to be so, is the producer of loves and hatreds of embodied life. Led by these the soul comes and remains under the sway of harmic forces that drag it about in different conditions and grades of existence in the different parts of the world.

विपद्भवपदावर्ते, पदिकेवातिवाह्यते । यावत्तावद्भवन्त्यन्याः, प्रचुरा विषदः पुरः ॥ १२॥

The samsāra (transmigratory condition) is like a wheel at a well, where before one bucketful of distress is got over a large number of afflictions overtake the soul!

Note —The thoughtful mind only discovers the world to be full of misery and pain in all conditions, No one thinks of associating happiness with the conditions of existence in the lower grades of life. The trees are rooted to the spot and remain perpetually exposed to the inclemency of seasons; they are further subjected to all kinds of afflictions in the shape of cutting, piercing, burning, uprooting an the like. The smaller insects are destroyed by the thousand by the carcless movements of their bigger fellow-beings. No one cares for their writhings and suffering. The birds and beasts and fishes are scized and devoured mercilessly by animals and men. Man himself is a constant prey to the fear of death, and lives in perpetual dread of calamity and misfortune. Those even who may be regarded as favourites of fortune are troubled with many kinds of mental and bodily troubles of their own and of their relations and friends. And at the end of a career, even where it has been the least undesirable, there is nothing more comforting than the grave or the burning pyre to look forward to. Death and the blankness of death ever stare the thinking being in the face. Human life is short and the best of its condi-

tions is ephemeral and fleeting; you have hardly celebrated the advent of a joy when its place is taken by affliction in some form or other. Those who are unluckly spent their whole time in crying and lamentations. Their suffering ceases even to excite the pity of the passers by, by its frequency. Some of them actually experience all the excruciating horrors of hell-life without being in hell! Kings and millionaires and potentates are no exceptions; they are subject to the pain and misery which the flesh is heir to. The acharya, therefore, justly says that this world of transmigratory life is so full of suffering and pain that you have hardly got-over one affliction when its place has been filled up with a dozen others. The wise should, therefore, only seek to obtain release from the world to obtain nirvana where there is eternal peace and joy and life unending.

दुरवर्षेनासुरक्षेण नश्वरेण धनादिना । स्वस्थंयन्यो जनः कोऽपि जनरवानिव सर्पिवा ॥ १३ ॥

He who regards himself as happy on account of the possession of wealth and other like objects of desire, that are obtained with great trouble, that require a lot of botheration in their protection and that are after all perishable, is like the fool who eats clarified butter when suffering from fever and then thinks that he is enjoying good health!

Note:—Ghee (clarified butter) only goes to aggravate fever, so that he who eats ghee in that condition and regards himself as healthy because of his cating ghee is a big fool. Precisely the same is the case with the man who considers himself happy because he is surrounded by the objects and sources of pleasure. These, too, aggravate the heat and fever of lust, and depart sooner or later without producing anything like satisfaction, that is happiness and rest and peace. The acharya, therefore, points out that it is an act of folly to regard oneself as happy when enjoying material prosperity and the like, which, it is further pointed out, are acquired with a lot of trouble and exertion and which involve a great deal of additional trouble in guarding and protecting, and which, notwithstanding all this worry and trouble, are ultimately bound to depart, being perishable by nature.

विपत्तिमात्मनो मुद्रः परेषामिव नेक्षते । दह्यमानस्गाक्षीर्णवनान्तरतरुस्थवत ॥ १४ ॥

The fool is not warned by seeing distress overtake others; he acts like the man who, scated on the top of a tree in the midst of a burning forest, sees deer and other living things perish, but does not think that the same fate is soon to overtake him!

Note:—The acharya here gives us a true description of the individual blinded by the lusts of the world, who though surrounded by calamity and distress all round is still unable to check himself in time to turn to the true side of life, taking no warning by the fate of others.

भायुर्वृद्धिक्षयोत्कर्षहेतुं कालस्य निर्गमम् । वांछनां घनिनामिष्टं जीवितात्सुतरां घनम् ॥ १५ ॥

Time is the cause of the shortening of the duration of life as well as of the increase of wealth: the amassers of wealth [thus] love money more than their lives!

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः संचिनोति यः । स्वशारीरं स पङ्केन स्नास्थामीति विलिम्पति ॥ १६ ॥

The poor man who accumulates wealth so as to be able to acquire merit and the destruction of evil karmas by spending it in charity is like the man who covers himself with filth in the expectation that he is going to bathe his body thereafter.

Note:—The acquisition of wealth is accompanied by so much evil-doing and evil-hinking that it itself implies a lot of sin accruing to the soul: what purpose can, then, e served by charity and good works thereafter. The man who enters a drain full of lth in the hope that he will have a good bath afterwards covers himself for a certain with filth. Whether he will be able to wash it off thereafter is an entirely different matter!

आरंभे तापकान्प्राप्तावतृप्तिप्रतिपादकान् । अन्ते सुदुस्यजान् कामान्कामं कः सेवते सुधीः ॥१७॥

What! will any wise man indulge in the pleasures of the senses which cause trouble a their acquisition, enkindle lust and desire at the moment of enjoyment and are very sinful at the time of parting? Should a wise man do so, he would not abandon himself a the lustful feeling.

Note:-According to the degree of foresight developed by them, men fall into hree classes, namely, the short-sighted, the far-sighted and the farthest-sighted. The ret class is that of fools, as all will agree. The second is that of men who are wordly tise. They are learned and thoughtful, but only in matters pertaining to the world, and she concerns of the immediate life that comes to an end after some three score years and ten, when their wisdom also perishes. The third class comprises those few but deeply thoughtful souls who have understood the nature of life and know that the soul survives the physical death. They are familiar with the true nature of things and know that there is no rest or peace for the soul outside nirvana. They are the farthest-sighted, for this reason; we may also call them Dharma-sighted, for Dharma signifies the ultimate Truth and the nature of things. Of these Knowers of the true nature of things it is said that they will not indulge in sensual lusts, knowing them to be the causes of suffering and pain, though not appearing to be such to the first or the second classes of men. Should a Knower of Truth be found to indulge in the pleasures of the world, he would not abandon himself altogether to them, but would only be influenced by them in so far as he is unable to resist the forces of karmic infatuation engendered in the past. The point is this that the knowledge of Truth changes the angle of vision of the wise one who may not be able to resist the temptation but who will detest himself all the time for his failings, where the fool will simply plunge himself head long in the whirling vortex of pleasures and lusts.

भवन्ति प्राप्य यत्संगमशुचीनि शुचीन्यपि । स कायः संततापायस्तदर्थं प्रार्थना दृथा ॥ १८॥

By the contact of which even pure objects are rendered impute and which is a constant source of affliction, to seek to provide such a body with the objects of pleasure is vanity!

Note:—It is not the nature of the senses to ever attain to anything like a lasting sense of gratification. The source and store-house of impurity, the body may be surrounded by all sorts of luxuries and things that are expected to give one pleasure; but its cravings only increase while the things which it touches become impure for any other purpose!

यजीवस्योपकाराय, तद्देहस्यापकारकं। यदेहस्योपकाराय, तजीवस्यापकारकं॥ १९॥

Whatever action is beneficial to the soul is harmful to the body, and whatever action is beneficial to the body is harmful to the soul!

Note:—The association of the soul and the body being the cause of the pain and misery apportaining to embodied existence, nireana really only signifies the destruction of the fleshy prison of the soul, when the latter, fully evalted and immortal in its own right, is installed in the Temple of Divinity as a God, by the mere process of emancipation from the bondage of matter. Hence, whatever tends to the fattening of the body is necessarily the source of continued affliction to the soul and the 1782.

दर्ताधन्तामणिदिंग्य, इतः विण्याकराण्डकम्। ध्यानैन चेंदुमे लभ्ये, फाट्रियंताम विवेकितः॥ २०॥

When the divine wish fulfilling Jewel and a piece of refuse both are obtainable by meditation, which of these will the man of discrimination choose?

Note:—The man of discrimination will naturally prefer the soul which is like a divine wish-fulfilling Jewel, capable of conferring the inconceivably great become the status and the joy of Divinity—to a passing pleasurable form of sense-ticking that is like a worthless piece of hhalf (a cake of ser amum seeds from which oil has been extracted) and serves only to prolong and to embitter the bondage of kirmas.

स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमान्नो निरत्ययः । अत्यंतसीख्यवानात्मा, लोकालोकविलोन्नतः ॥ २१ ॥

This coul can be adequately known by celf-contemplation and is of the size of its body, immortal, of an exceedingly blissful nature and the knower of Loka and Aloka!

Note.—In this stok.t the acharya has given a brief description of the soul as freed from the bondage of matter. It is, roughly speaking, of the size of its physical body and is indestructible, hence immertal. Knowledge and blies appertain to it by nature being but two of its divine attributes. It can be known adequately in self-contemplation, and when established in its natural purity, freed from the corrupting commonship of matter, it is the enjoyer of unbounded joy and the knower of the entirety of things, which constitute what is known as the Lokaloka (Loka—the universe of life and matter+aloka—the infinity of Puro space lying beyond the Loka).

संयम्य करणद्राप्तमेकाप्रत्वेन चेतसः। शातमानमात्मवान्ध्यायेदात्मनेवात्मनि स्थितम् ॥ २२ ॥

Controlling his senses, with concentrated mind, the knower of the Self should ontemplate the Self, scated in his own Self, through the Self!

Note.—The contemplation of the divinity of the Self, that is the seul, is only possible through the seul itself, by turning the attention inwards. Now, because the self is scated inwards and the objects of the senses which attend and enthral the mind lie outwards, the withdrawal of the mind from the outside, that is to say the controlling of the lustful cravings of the lower nature, is an absolute necessity for the realisation of the glory apportaining to Life. For one cannot serve two masters at one time. The Self and the world are antagonistic in nature. The dominance of the latter means the maneipation and distress of the former. Hence, the wise banish the world completely from their thoughts and attend with one-pointed mind to the glorious Divinity of the Self, seated inside.

अन्नानोपास्तिरसानम्, झानम् श्वानिसमाश्रयः । ददाति यत्तु यस्यास्ति सुमसिद्धमिदम् वदः ॥ २३ ॥

Devotion to ignorance bestows ignorance, and devotion to Gnama (self-knowledge) bestows Knowledge; for it is well established that a thing can grant only that of which it is possessed !

Note:—False beliefs and wrong convictions can never lead to true knowledge; for you cannot get what is not contained in the nature of a thing, e. g., blood out of stones. But he who seeks knowledge is sure to be rewarded by enlightenment; for the law is that he who seeks shall find, he who asks shall get what he asks for and he who knocks shall be admitted into light, provided only the seeking, the asking and the knocking is sincere and persistent and in harmony with the nature of things.

परीपहाद्यविद्यानादास्त्रवस्य निरोधिनी । जायतेऽध्यान्मयोगेन, कर्मणामार्गु निर्करा ॥ २४ ॥

By bearing with equanization, by the power of the soulforce, the trials and hardships consequent on world-renunciation, is accomplished speedily the destruction of larmas and the stoppage of further inflow thereof!

Note: There are two aspects of the karmic force the draigs and the bhave karmas. Drayya karmas simply mean matter which flows into the soul with every thought and word and deed. Bhara karmas are inner mental states, that is to say feelings, cravings and the like which are the causes that lead to the inflow of matter towards the soul. The bondage of the soul consists in the state of embodiment which signifies association with matter. The ascetic aspires to separate his soul completely from the material impurities that defile and hold it in bondage. The inflow of matter is termed escara, and takes place only because of a certain kind of magnetic attraction which the soul developes under the influence of desire. It ceases when the soul becomes desireless completely. The matter existing in combination with the soul also then begins to dissolve and soon becomes separated from it. This is termed mirjara, in the course of which many hardships have to be faced by the aspirant. If these are cheerfully borne, the goal of freedom and bliss is reached speedily, and the soul becomes a pure and perfected God. The destruction of desire, therefore, is the key to the situation, and the acharya points out that those who preserve equanimity of mind in the midst of trials and temptations speedily attain to the Supreme Status by the stoppage of the fresh inflow and the destruction of the existing karmas.

कटस्य कर्त्तारमिति सर्वधः, स्याद् ह्योईयोः। ध्यानं ध्येयं यदात्मैव, संबंधः कीररास्तदा ॥.६॥

In a statement such as 'I am the maker of the mat', two objects are implied; but where the soul itself is the instrument as well as the object of contemplation. For each there be duality in that state?

Note:—This sloka is intended to further clucidate the nature of self-contemplation which is non-dual. There are in that state no two separate objects like a met and the man who made it; but the object of contemplation is the same as he who contemplates. The soul in reality only contemplates its own inherent glory, so as to re-directly divinity. Hence achains points out that there is no room for duality in the process of pure self-contemplation.

बध्यते मुच्यते जीवः, सममो निर्ममः कमात्। तस्मान्तर्य प्रयन्तेन, नियमचं विचित्रयेत् ॥२६॥

The soul involved in the delution of egolty is summed ed in the land-penel parents of who is free from delution of egolty is freed from the bondage of iter at this is the order of things; such being the law, one should try in all possible mays to attain to pure efficient capitally, devoided the defusion of egolty.

Note:—We have already seen that desire is the root of bondage. Here the *ceharya* takes us a step further towards the analysis of desire, which is rooted in the delusion of identity with the body. The ordinary man only knows himself as the physical personality, and naturally remains absorbed in the gratifications of the bodily cravings and wants. This is the delusion which the *acharya* warns us against.

पक्षोऽहं निर्ममः शुद्धो, ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः । याद्याः संयोगजा सावा सत्तः सर्वेऽपि सर्वथा ॥२७॥

I am one, I am without delusion, I am the knower of things, I am knowable by Master Ascetics; all other conditions that arise by the union of the not-self are foreign to my nature in every way!

Note:—The soul is here described from what is known as the misleheya naya, that is to say in respect of its pure natural attributes; in other words, as a pure spirit. The pure spirit is devoid of parts, and therefore only one; being a pure embodiment of knowledge, without any obstructing veils to curtail the field of its knowing functions, it is devoid of delusion; rid of all forms of defilment and corruption, it is pure; having omniscience for its attribute, it is the true knower; and not being endowed with sensible qualities, it is knownble by the super-clairvoyant vision of Great Ascetics and Saints. All the other qualities, attributes and relations which appertain to embodied existence are really produced under the corrupting influence of matter, and are, therefore, not natural to a pure Spirit.

हःससंदोहभागित्वं, संयोगादिह देहिनाम् । त्यजाम्येनं ततः सर्वे, मनोवाकायकर्मभिः ॥ २८ ॥

The souls involved in transmigration have to suffer a multitude of afflictions, owing to the association of the not-Self, the body and the like: therefore, I [shall] renounce them along with all the activities of the mind, the body and speech!

Note:—He who does not control the activities of his mind, speech and body, which are the three channels of sin, only prolongs his boudage and the transmigratory life which is simply full of pain and misery, even under the best of conditions. The aspirant after the final release, therefore, resolves in the manner indicated in the text.

न में मृत्युः कुतो भीतिन में व्याधिः कुतो व्यथा। नाई बाठो न बृद्धोऽईं, न युवैतानि पुहले ॥२९॥

I am not subject to death; then, what should I fear death for? Nor am I subject to disease, then, what can cause me pain? I am not a child; I am not an old man, nor am I a youth: all these appertain to the flesh (matter)!

Note:—Pure Spirit is free from death and disease, and has no concern with the divisions of life, childhood, youth, oldage and the like. These are different conditions that appertain to the body of matter, which is, undoubtedly, not the same thing as Spirit or the soul. Why should, then, one fear death? and how can one be really affected by disease? The saint, knowing the pure immortal and incorruptible nature of the soul speedily attains to the highest and best condition of Life which is enjoyed by all who acquire the purity of their spritual nature.

भुक्तोज्ञिता सुदुमोहान्यया सर्वेऽपि पुद्रलाः । उच्छिष्ठेपिय तैश्वव, मम विवस्य का स्पृहा ॥३०॥

Again and again, through delusions, have the bodies of matter been enjoyed and thrown off by me; how can I long for them now that I am endowed with true wisdom; for no one likes to eat the leavings.

Note:—In the part infinity of time, during which the immortal soul has never ceased to exist, it has put on all kinds of bodies and enjoyed, again and again, the pleasures appertaining to embodied existence, through them, throwing them off always at the end of each form of life. The bodies and things of matter are thus like the leavings in a plate which nobody will like to eat. The Right Believer whose vision has been clarified to perceive the true side of Life, therefore, cannot long for them, since it will be like n longing to eat the leavings and refuse.

कर्म कर्महितार्वान्य, जीवो जीवहितस्पृहः। स्वरवप्रभावसूयस्त्वो, स्वार्थे को वा न वांछिति ॥:१॥

Karma works in its own cause; the soul works for its own good. who is there in the world that will not work for his own good when he has the power to do so?

Note:—Since har ma produces karma, and thus is the cause of the perpethation of the soul's bondage, it is here dere described as working in its own cause, the soul also works for its own good, that is to say against the karmic power, when it is able to do so The interests of the two thus clash with each other. The acharya here exhorts the soul that has acquired the wisdom of the saints to gird up its loins for the destruction of the enemy; forthere is no one in the world who will not like to destroy his foe when he has the power to do so, especially such a foe or karma, that acts by stealth and strikes mercilessly and hard.

परोपकृतिमुत्सुज्य, स्वोपकारपरो भव । उपकुर्वन्परस्याक्षो, दश्यमानस्य लोकवत् ॥ ३२ ॥

O Witless one! thou art serving this visible show that is not thyself; thou shouldst now renounce doing good to others and take to doing good to thine own Self!

Note:—It is the way of the world that one gives up serving those who are found to be inimical to oneself. The soul has been serving its physical body and the rest of the visible sensible panorama, in the belief that its good lies with the things outside itself. But it has now learnt their real nature. They are - all the ties and joys and relationships of the world, taken together—only so many enemies in disguise! The acharya, therefore, exhorts the soul that is endowed with true insight into the nature of things to abandon them to their own fate and turn to its own welfare, that is, to take to self contemplation.

गुरूपदेशादभ्यासारतंवित्तेः स्वपरांतरं । जानाति यः स जानातिमोक्षसौख्यं निरंतरम् ॥ ३३॥

He who has acquired the discrimination between the Self and the not-Self, through the teaching of the preceptor, by repeated meditation on the nature of things, or by direct inner Self-perception, that great soul enjoys the happiness appertaining to salvation constantly!

Note:—Salvation and the happiness appertaining to it are obtained by self-contemplation, when the karmas are destroyed and the soul is left as n pure Spirit, omniscient, and blissful and immortal in its own nature.

स्वस्मिन्सद्मिलावित्वादभीप्रज्ञापकत्वतः । स्वयं हितप्रयोक्तृत्वाद्।त्येव गुरुरात्मनः ॥ ३४ ॥ .

Because of its internal longing for the attainment of the highest Ideal, because of its understanding of that Ideal, and because of its engaging itself in the realisation of its Ideal, because of these the soul is its own preceptor!

Note: The outside Teachers and guides are only helpful where the soul itself is ripe for advancement on the path: their word is of no avail where the hearer is not onen to receive it. For this reason the real teacher and guide is the goul itself; and so far a exertion is implied in the realisation of the Ideal, it is the soul's own action which can ever lead to its advancement and progress on the path. Hence the statement that it is its own preceptor!

माह्रो विह्नत्वमायाति विह्नो नाह्नत्वमूच्छति । निमित्तमात्रमन्यस्तु, गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥ ३५ ॥

Those not yet qualified for the acquisition of Truth cannot become the knowers of Truth; the knower of Truth cannot become devoid of it; external Teachers are useful like Ether which is but helpful in the motion (of moving things)!

Note:—The acharya here elucidates the nature of the teaching from an outside source. It is like ether which is helpful to the object in motion, but which does not push or move any one. Similarly an external Guide can help only the soul that has acquired n longing to proceed on the Path of Freedom; he cannot impart the impulse which is to initiate the proceeding 1

अमविश्वत्तविक्षेप, एकांते तत्त्वसंस्थितिः। अभ्यस्येदमियोगेन, योगी तत्त्वं निजात्मनः॥ ३६॥

He in whose mind no disturbances occur and who is established in the knowledge of the Self,—such an ascetic should engage himself diligently in the contemplation of his soul, in a lonely place.

Note.—The one-pointedness of the mind which is necessary for steady medition is exceedingly difficult in a place where there is even a likelihood of disturbance. Hence, t is pointed out here that self-contemplation should be performed in a lonely place.

यथा यथा समायति, संवित्ती तत्त्वमुत्तमम् । तथा तथा न रोवंते, विषयाः सुरुमा अपि ॥ ३७ ॥ .

As greater and greater progress is made in the realization of the glorious Self, so is lessened, more and more, the liking for even those objects of pleasure which may be obtained with ease.

Note—This sloka describes the effect of the progress in self enjoyment. It is destructive of the cravings of the lower nature. The Self is blissful by nature; he who begins to enjoy the divine thrill ef spiritual bliss certainly cannot thereafter hanker for worldly pleasure, the craving for which decreases as the enjoyment of true happiness increases.

यथा यथा न रोजंते, विषयाः सुलमा अपि । तथा तथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वसुत्तमम् ॥ ३८ ॥

As even those objects of pleasure which are easily obtainable become increasingly intolerable, in the same measure does the glorious self come into one's enjoyment!

Note:—The enjoyment of the natural inherent poy of life increases side by side with the sense of indifference for worldly pleasures. Thus the more there is of the enjoyment of the internal spiritual happiness, the less is the craving for the sense-produced pleasures; and, conversely, the greater the sense of indifference for worldly attractions and joys, the greater the enjoyment of the real bliss appertaining to Life.

निशामयति निःशेषमिद्रजालोपमे जंगत् । स्पृह्यत्यात्मलामाय, गत्वान्यत्रानुतप्यते ॥ ३९ ॥

The seeker of the self regards the whole world as a product of illusion; and is moved by the desire to attain to self-realization. If he ever becomes entangled in anything else he repents of it ! Note:—Self-realization is possible only by completely turning the back on the temptations and snares of the world; hence, he who longs to attain to it must regard the panorama of the world as transient, instable and fleeting, in other words, as the product of illusion. The wise man will thus never allow himself to be entangled in anything worldly. Born with all the weaknesses of the human nature, he is nevertheless subject to powerful cravings and impulsions, and may, under their influence, deviate from the proper path. The acharya says that the true characteristic of n wise man is that whenever he is entangled in any of the worldly pleasures, neglecting his proper dharma (duty), he will be repenting of his wrong action, even while doing it. For repentance implies confession which is half the amends.

इच्छत्येशांतसंवासं, निर्जनं जनितादरः। निजकार्यवशार्तिकचिदुचवा विस्मरति द्वतं॥ ४०॥

The seeker after the Self longs for solitude, preferring dissociation with men; if he has to speak to men for a purpose of his own, he puts it out of his mind as soon as it is said!

Note: - Solitude is absolutely necessary for pure self-contemplation.

ब्रुवर्म्नाप हि न बूते, गच्छन्नपि न गच्छति । स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु, पश्यन्नपि न पश्यति ॥ ४१ ॥

He who has firmly established himself in the knowledge of the Self, such a one does not speak while speaking, does not move while moving and does not see while seeing!

Note:—When a man has put his faith firmly in the Self his actions cease to bind, that is to say; affect him. His activity in such a case ceases to be volitional and becomes automatic, as it were. Of such a being it is correct to say that speaking he does not speak, moving about he does not move about, and seeing he does not see.

किमिदं कीदर्श कस्य, कस्मात्केत्यविशेषयन् । स्वदेहमपि नावैति, योगी योगपरायणः ॥ ४२ ॥

The ascetic immersed in the process of self-realization has no awareness of even his body, being undisturbed by questions such as what is the soul? what is its nature? who is its master? from whom is it derived? where does it reside? and the like,

Note:—In the culminating samadhi (the condition of entrancement of self-realization) thought is over-powered by the thrilling pulsation of the joyousness of self-feeling. Consequently, no question arises as to the nature, attributes, etc., of the soul-substance. The entire soul is then filled with the rapturous rhythm of a life that is at once illumined and blissful by its own light and the inherent ecstasy of delight. In that state there can, of course, be no engrossment of the conscious faculty with the idea of the physical personality or its basis and abode, the body of matter.

यो यत्र निवसवास्ते, स तत्र कुरुते रातें । यो यत्र रमते तस्मादन्यत्र स न गच्छति ॥ ४३ ॥

He who abides in a place, becomes attached to the place he who takes π liking to π locality does not give it up to go elsewhere !

Note:—This is the general rule. When a person likes a place he sticks to it and does not think of leaving it and of going to another place. Similarly, the ascetic who loves the state of the samadh of self-realization never entertains the idea of departing from it, it being full of delicious joy and eestasy for him.

थगच्छंस्तद्विशेषाणामनभिष्यस्य जायते । अज्ञाततद्विशेषस्तु, बद्धवते न विमुच्यते ॥ ४४ ॥

The ascetic, not stirring out of his Self and not attending to the particular natures of the not self, does not become their enjoyer; by not enjoying the not-self he is not bound by harmas, but becomes released from them!

Note:—The law governing karma and transmigration is this that attachment and aversion for objects of the senses are the causes of bondage of the soul. They cause the influx of a kind of subtle invisible matter into the soul substance, and the fusion of the inflowing material with the soul is the form of the bondage of karma that is so harmful to the self. The soul not falling in the category of the objects of sense, its contemplation does not give rise to attachment and aversion; on the contrary, it is productive of a state of equanimity and indifference in the mind that is engaged in the enjoyment of the natural indown joy of his own real self. Hence he is not afflicted with fresh karmic bondage while he is engaged in self-contemplation. In addition, his existing karmic bonds also begin to break up on account of the prevailing state of equanimity; because what is attracted into the soul in consequence of an agitated state of the mind must begin to disperse and depart when a contrary state is established therein. The achievy, therefore, says that the samadh of self-feeling has a two fold merit it is, firstly, not productive of any additional mancipation for the soul, and, secondly, it is actually destructive of the existing bondage.

परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखं । अत एव महात्मानस्तन्निमितं कृतोचमाः ॥ ४५ ॥

The not-self are surely never the Self; only sorrow accounts to the soul from them the Self ever remains the Self; it is, therefore, the cause of happiness; because of this, great personages have exerted themselves for the realization of the Self!

Note.—The distinction between sense-produced pleasure and the natural joy appertaining to the soul itself is again emphasized here by the acharya, for what shall a man profit if he gain the whole world but lose his own soul? The fact is, as the Jainacharyas have demonstrated, over and over again, that the soul is blissful by nature and comes into the enjoyment of surpassing, unsurpassed bliss by the simple practice of self-feeling. The pleasures of the world are false and illusory, as compared with the joyoueness of life itself; they even fail and deceive one in the most critical moment. Moreover, nothing in the class of the not self is lasting and unperishing, so that he who becomes attached to them has sooner or later to lament their loss. Sometimes he himself has to part from the objects of pleasure, when the parting is all the more terrible. What good can, then, come of attachment to the objects in the world? Atman (the Self) alone is, thus, the fit object of attachment, and it rewards the devotee with life eternal and knowledge and joy unlimited!

अविद्वान्युद्गलद्रव्यं, योऽभिनंदति तस्य तत्। न जातु जंतोः सामीप्यं, चतुर्गतिषु भुंचति॥ ४६ ॥

Matter which the undiscerning soul attaches itself to never leaves him wherever he goes in the four gates!

Note:—Gatis signify the four principal types of embodied existence, in which souls are being constantly born and reborn in the course of their transmigration. These are the celestial, the hellish, the human and the sub-human or the lower kingdoms, the last of which includes all kinds of animals, plants and all other lower forms of life. All these are imposed on the soul because of the companionship of matter of which the not-self are

chiefly composed. The law of the influx of matter has already been noticed a little earlier. It shows that the effect of the love of the not-self on the Self is its being over-powered by matter in the shape of the undesirable forces of karma that drag it from one gati to another or in the numerous classes and sub-classes of the same type. The acharya, therefore, discourses on the folly of the undiscerning who perpetuate their bondage by their own acts, not knowing the nature of the Law that keeps the soul tied to the ever-revolving wheel of transmigration. He who allows himself to fall in love with matter—and all the not-self are perceived by us only in so far as they are matter—should know that the object he falls in love with will not abide to console or grant solace to his heart for ever, but matter will cling to him, because of that act of love, all the more closely! Knowing this, the seeke after the glory of the Self will shun the pursuit of the objects of the world once the law is shown to him.

आत्मानुष्टाननिष्ठस्य व्यवहारवहिःस्थितेः। जायते परमानंदः कश्चिद्योगेन योगिनः॥ ४७॥

He who is firmly established in his own Self, and keeps away from the worldly intercourse, a supreme kind of happiness is produced in the being of such a you!

Note:—Divine bliss is the nature of the soul which is realized the moment one is rid of all the sense of attachment to the world and is immersed in pure self-contemplation.

आनंदो निर्देहतयुद्धं, कर्मेंधनमनारतं । न चासौ खिद्यते योगी, वीहर्दुःखेप्यचेतनः ॥ ४८॥

Self produced happiness is constantly burning up the harme fuel in large quantities, while the yogs, indifferent to the external pain, is not affected by it in the least!

Note—The Master Ascetic is constantly absorbed in the enjoyment of the spiritual happiness pertaining to his soul, and is, therefore, not affected by badily decomforts and pains to which he does not even attend consciously.

गविद्याभिदुरं ज्योतिः, परं ग्रानमयं महत् । तत्प्रप्त्यं, तदेप्रन्यं, तद्रप्रन्यं मुसुक्षुभिः॥ ४९ ॥

That excellent and supreme light of the Self is the destroyer of ignorance,—the seekers after salvation should always engage themselves in questioning others about it in affectionately seeking it and in realizing it by actual experience!

Note.—The soul being the embodiment of knowledge is antithetical to ignorance. Hence the injunction to be constantly engaged in talking and thinking of it and in feeling it in every other possible way. It will not do to turn to the Self for a moment or two once a week or even every day; for the habit of the mind is that it runs always after what has engaged its attention the most of the time. The reason why novitintes in yogo find it difficult to concentrate their mind on the Self is to be found in the fact that their habitual thinking unconsciously directs the stream of thought into the accustomed channels of activity, and the slightest temptation, which they have never learnt to resist, suffices to steal away their determination.

जीवोऽन्यः पुद्गलक्षान्य, इत्यसौ तत्त्वसंब्रहः । यदन्यदुच्यते किचिन्सोऽस्तु तस्थेव विस्तरः ॥ ५० ॥

The Self is different from matter, matter is different from the Self : this is the quintessence of all the compilations of wisdom; all the rest of knowledge is but an amplification of this!

Note:—Here the acharya sums up the result of the entire discourse and says that the one thing to know is the fact that the soul is not matter, nor matter the roal. This is the quintessence of philosophy, though it is necessary to explain it in detail for the benefit of

the ignorant who entertain many doubts on the subject. Whoever has understood this one crucial point or fact thoroughly, so that no doubt is left in his mind concerning the nature and divinity of the soul, is the knower of truth who is sure soon to reap the benefit of his knowledge, and attain to the supreme status outside the painful dreary realm of transmigration and the kingdom of Death. For the soul being actually divine by nature its divinity remains unrealized only just so long as it is ignorant of itself and devotes all its time to the pursuit of the non-self. Hence, when Self-knowledge has dispelled the thick mists of ignorance and set its natural energy of dispassion in opposition to the forces of karma, the destruction of the latter becomes only a question of time, and is encompassed, generally, in the course of three or four incarnations, when it is loft, as the result of the process of self-realization, as a pure Spirit, all-knowing, immortal and eternally blissful, a pure and real Divinity, second to none in the three worlds, and the object of devotion and worship on the part of devas (celestials) and men.

इष्टोपदेशसिति सम्यगधीत्य धीमान्, मानापमानसमतां स्वमताद्वितन्य ॥ मुक्ताप्रहो विनिवसन्सजने वने वा, मुक्तिश्रयं निरुपमामुपयाति भन्यः॥ ५१॥

The wise bhavya* who has well understood the teaching of the "Ishtopadesha", and who maintains the serenity of the mind by the effort of his will when he is respected as well as when disrespect is shown to him, and who has freed himself from the attachment to the non-self, obtains the matchless treasure of moksha, whether he live in a city or in a jungle!

*The soul that is endowed with realizable potentiality for the attainment of salvation is termed bhavya, while the abhavya (a, not+bhavya) is the soul that is potentially divine like the bhavya, but with a portentiality that is not realizable into actuality.

NOTE—Faith in the glorious nature of the Self and mental equanimity are the chief things necessary for the obtainment of release from the cycle of births and deaths (transmigration) The rule with faith is that it never fails to translate itself into action, sooner or later, since belief is the builder and moulder of character, and the controller of impulses. For this reason, even the greatest sinner need not despair, and if he will be intelligently try to understand the teaching herein imparted and apply himself to put faith into it he will soon find himself travelling on the road to saintship. Whether he walk towards it or travel in some more speedy way, will depend on the nature of the obstruction that might be offered by the karmas of his previous like. But even the worst of karmas begin to lose their power under the lossening influence of the Right Faith, and are speedily destroyed by the scorching fire of Right Knowledge-Mental equanimity is speedily reached in this manner, and the rest becomes easy by a constant meditation on the "Ishtopadesha" which is the Discourse Divine as well as the name of the book in the reader's hand!

FOREWORD

Shri Pujyapada Swamı the author of the "Ishtopadesha" (Discourse Divine) was a Jaina saint, of the Digambara sect, who flourished in the fourth century A. D. He composed several important works on the Jaina Philosophy and Religion of which the "Sarvarilia Siddhi" (an elaborate commentary on the Tattvārtha Sutra, which may be termed the Jaina Bible), "Jainendra Vyūkarana" the "Samādhi Shataka" and the "Ishtopadesa" are the most famous. The last-named work was translated into Hindi from the original Sanskrit by Shri Dharma-Divakar, Dharma Bhushana Brahmachan Sital Prasadji in the year 1923. I have now translated it into English, at the suggestion of the respected brahmachariji himself, from his Hindi translation. The English translation has been personally revised by the brahmachariji to whom I am indebted for the favour.

The "Ishtopadesha" is a charming composition in adhyātma-rasa, that signifies a sort of direct appeal to the experience of self-realization rather than a metaphysical study of the soul-nature through the intellectual faculty. I have no doubt that it will prove very serviceable in fixing the attention of the contemplative thought, and, read intelligently, will enable the thoughtful to burn up his harmas on the adhyātmuc altar of the Glorious Divinity of the Inner Self.

Hardoi: 17th May, 1925.

C. R. JAIN

CONTENTS.

I.	Introduction.	77
II.	Versified Sermons.	78-33
1.	Obeisance.	78
2.	God and Self.	78
3.	Path of Peace and Piety.	78
4.	Philosophy of pain and pleasure.	78
5.	Ignorance the cause of all ills.	79
6.	Worldly life is a chain of pains.	79
7.	Wealth is no remedy for worldly ills.	79
8.	Concentrated thought is the only remedy.	80
9.	Self is the only thing worth realisation.	80
10.	Path of self realisation.	80
11.	Superiority of a devotee.	80
12.	The unreality of worldly life.	80
13,	The Path of victory.	80
14.	The unholy union.	81
15.	The divinity of self.	81
16.	Futility of worldly quest.	81
17.	The struggle of life.	81
18.	Appeal to self.	82
19.	Master's role in spiritual culture.	82
20.	In reality self is his own guide.	82
21.	The essential requisites of a devoter.	82
22.	Life features of a yogi.	62
23.	Yogi enjoys a free life.	82
24.	Self culture is the best culture.	8.3
25.	Summum bonum of life.	83
26.	Brief story of truth.	83
27.	Rlossings,	83

INTRODUCTION

ISHTOPDESHA (इप्रोप्टेंग) (Happy Sermons) is a didactic poem of 51 Stanzas in Sanskrit by Swami Pujyapada, a great saint of India, born in the Karnatak region in the 5th. century A. D.* He was the preceptor of Durvinit, the then ruling King of the great Ganga dynasty of the Decean. His real name was Devanandi but being held in high esteem by all, he was renowned as Pujyapada i. e. one whose feet are worth worshipping. For his lofty thinking, pure living and high order of asceticism as described in many inscriptions and Shastras of Karnataka, he was known as one who was untouched by earth, and whose ablution water of feet could change iron into gold

Besides being a saint of high repute, he was a great scholar and thinker of his times. For his lucid style, precise expression and masterly exposition of the subject he has held a revered place amongst all Indian writers. His works on medicine, grammar, prosody and jain philosophy, have always been regarded as works of standard value by all the subsequent scholars of India.

Amongst these works his Sarvarth Siddhi (অর্থাইডিছি), n commentary on Tatvarth Sutra (त्रवार्थस्त्र),—a compendium of Jain Metaphysics and cosmology written by Uma Swami of the first century A. D. in aphorisms—is a work of rare value, being n key to this vast treasure of knowledge. Jainendra Vyākaraņa (ন্বীন্ত্ৰ্যাক্ষ্য) is an equally important work on grammar written by him.

Samadhi Shatak—(ম্যাহিরাক) ("Equanimity") in 100 stanzas is an-other didactic poem composed by him. It is a work of about double the size of Ishtopdesha and is an outcome of his deep thinking and realisation of truth. This work undoubtedly possesses a rare spiritual charm. It provides a consolation to an afflicted mind, and an inspiring vision of the divine life to a seeker after truth.

To advance, the cultural relationship between the East and the West—a dire need of our times, I have for the present selected Ishtopdesha—"Happy Sermons", as the first offering for being presented to the western peoples in a western garb.

In order that renders who take liking to these sermons, may remember them by heart, the translation has been done in a versified form, stanza for stanza, but where the literal and formal translation of a stanza was unintelligible to convey the full substance of the pithy sayings and abstruse ideas condensed in it, a free and liberal style has been applied to expand it into several stanzas. Though taking this freedom with the style, the matter has been arranged in the same order as has been adopted by the original author. Every stanza of the original poem, whether rendered singly or in an expanded form has been numbered in its serial order on the left hand side, while the verses of this expanded composition have been numbered on the right hand side of the margin. Readings have been newly inserted to show the themes of the succeeding verses.

As to how far I have been able to fill up these verses with spirit which the saint wishes to convey through these sermons, is to be judged by the fane; bestoned by western readers on this composition. In case it bears good fruits I shall try to offer Samadhi Shatak also in its versified form as a next contribution to the noble cause of attengthening the cultural relations between the East and the West

The original text of the poem in Sanskrit has also been printed in this publication so the lovers of oriental studies have a facility of consulting it, and enjoying the original work of the master poet.

Panipat.
Mahavir Jayanti 1954

Jat Bhagwan Jain
Advocate.

[.] B. Lewis Rice-Journal of Royal Asiatic Society -1800, p. 215 ff.

परिशिष्ट नं. ४

HAPPY SERMONS.

Mr. JAI BHAGWAN JAIN, B. A. LL B.

Obeisance,

1,	DJ with Calliction of all tings	
	Who shone forth into purest glow, And paved for all, salvation path.	1
	God and Self.	•
2,		
	The difference lies in their modes, The pure is one, the other impure.	
	As ore transforms into gold, When released from foreign things,	2
	So self does evolve into God, When released from matter's strings.	2
	Self is gripped by foreign matter, When tinged with egotistic trends,	3
	And gets relieved from its meshes, When filled with vision of cosmic rhythm.	4
	To fill the self with cosmic rhythm, It needs a change of inner heart,	3
	Such as to shine coal in jewel, It needs a change in atomic form.	5
	With broader outlook of the life, Greater and greater grows the soul,	U
	When all is compassed by the self, It one and one becomes with God.	6
	Path of Peace and Piety.	U
3.	It becomes a traveller in the summer, When treading towards the sweet home,	
٠.	To follow a safe straightened path, Covered by cool shade of groves.	7
	Similar in the walks of life, Moving towards the goal of truth.	(
	It behoves a man to firmly stick, To path of peace and good conduct,	8
	The path of peace is double good, It comforts here and onwards,	0
	Through levely vistas of heavens, Leads to the goal of eternal blies.	9
	While the unruly ways of life, Denying equal rights to all,	v
		10
4	It does not matter for a man, To carry weight to half a mile,	
		11
	So far a path of peace and good, Which leads to goal of eternal bliss,	
	It is not hard to reach a heaven, A half way house on the trip.	12
5.	Heaven, place of songful plays, Free from worldly foes and fears,	
	Is not the abiding goal of life, But halting place in march of life.	3
	Philosophy of Pain and Pleasure,	
	Pleasures, pains of earthly; beings, Are mere self's imagery things,	
	They exist no where but in mind, Engendered by fantastic whims.	4
	No outer things are good or bad, They so become by likes dislikes,	
	A food for one is not for all, It is a well-known fact of life.	5
	So all the mates of worldly play, Which look delightful and so gay,	
	Become how hideous, out of tune, When one is filled with grief and gloom.	6

Ignorance, the Cause of all Ills.

7.	Being all engrossed in ignorance, Like drunkards under cover of drugs. Worldly beings have lost their sense, Of looking things in true colours.	17
8.	It is all due to ignorance, That things all distinct and aloof, Like spouse, children, body, wealth, Are all viewed as parts of self.	18
9.	If seen with clear crystal vision, Free from whims of likes, dislikes, No more related to us they are, Than forest trees are to birds. They flying come from distant lands, Settle on trees for the night, And take to wings for quarters new, When morning comes with feast of	19 light, 20
10.	As digger lowers the spade from high, The digger too is lowered by spatial Who lowers others by aggression, Is surely lowered by the same. This law of action and reaction, Though patent in the realm of life, But strange it is they fly in passion, When paid are in their own coin.	de, 21 <i>2</i> 2
11.	For false whims of likes, dislikes, Born of the egotistic trends, Self is dipped from eternal time, In deep waters of births and deaths.	23
	Wordly Life Is a Chain of Pains.	,
12.	The worldly life is set on frame, Ever on move like waterwheel, Full of turns of ills and pains, With little rest from cares and needs.	24
	Wealth is no remedy for worldly ills.	
13.	Wealth hard to earn, and retain, Unstable most, and most unsafe, One is never safe and sound with it, As fever patient with use of ghee.	25
14.	A rich man like the common folk, Yet being filled with self conceit, Like fools taking perch on tree, He thinks himself immortal being. Like fools to roaring flames, Engulfing him like other beings.	26 27
15.	With passage of the fleeting time, Near and near man draws to end.	۵(
16.	But how strong is the lust of pelf, He looks to wealth and not to end. A poor man wanting heaps of wealth, To give them off in public alms,	28
17.	Is like a fool who puts on mud, To wash it off with holy bath. The lustful pleasures of the world, No sure hand-maids of the wealth,	29
18	They while departing leave behind, Grief and sorrow for the mind. Nor body is the end of life, It is too frail and short in time,	30
	One need not for its sustenance, Use vile means to heap up wealth. Made of bones and loathsome flesh, Offensive filth and nasty germs, It is too hideous and impure, To turn sacred with wealthy hoard	31
19.	What doth add to vigour of flesh. Doth verily sap the vigour of soul, And what doth add to wealth of soul, Doth verily end the needs of flesh.	32
	As wealth increases greeds of flesh, It verily saps the life of self, Of what use is the gain of wealth, Which makes you lose divine self	33
		34

Concentrated Thought is the only remedy

20.	Every thing can be had in life, By force of concentrated thought, Both the precious and the worthless, Philosopher's gem, or piece of stone. It is to be settled by the wise, Which of the two is worth attempt, The devine self of eternal bliss, Or mortal life of fifth and alls,	35 36
	Self is the only Thing Worth Realisation	00
21.	and the state of the parties of the	
	Shining all, beyond and near, Visible, pure, and crystal, clear. Excellent bliss, the sublime peace, Free from time, unbound by space,	37
	Infinite, nearest, beyond the beyond, Undying, eternal, ever living. The final truth, the perfect whole, The end of ends, the goal of goals,	38
	The aim, the light and the way, It is the thing to get realised.	39
	Path of Self Realisation.	
22.	To know, realise the boundless soul. Let outward senses be controlled,	
	Give urges their an inner trend, To seek with in the joyful ends. Achieve all this with firm resolve, Of mind kept in a balanced poise,	40
28.	Then drawing your self with-in the self, Meditate on self in steady pose. The senses and their objects are, Made of dull, rash, callous matter,	41
	Whoever follows their follows training. Is sure to fall in painful pits. But if the voice of enlightened self, Is heard, grasped and put to work,	42
	One makes a gain of spiritual power, And enjoys the fruits of peace and 109. Whatever is inherent in a seed, Is sure to grow up in the field,	43
	So ignorance gropes in darker zones, And light leads to cherished home.	44
	Superiority of a Devotee.	
24,	A devotee of enlightened self, Conquers all the pains of flesh,	
15	He lets not in the vicious trends, And uproots what are scated deep When subject object are distinct, Separation surely severs their link,	45
20.	It does not touch devotee's lot, He is both the seeker and the sought. While one who clings to earthly things, And claims the same as his owa,	46
	He mourns and grouns with sorrow's pangs, Deserted when he is left alone.	47
	The Unreality of Worldly Life	
og.	Self is self and matter is matter, The twain can never meet in one,	
*104	Their union rests on ego's whims. Baseless, finsy and unreal.	48
	When one is free from ego's whims, free he is from matter too,	49
	The Path of Victory.	
	In all hours of day and night, Sitting, walking or sleeping,	50

5	-63 j Happy Sermons	į.	75
į	"Bereft of all the physical ties, I am one, alone, and fre Untinged by passions and emotions, Peace and purity re A seer, master seer of things, I stand above, aloof fr	ign in me.	51
	Unbound by egotisitic whims, 'I compass all of them in I "All the things of the outer world, Inherited and acquire wholly separate and others, There is no love lost be	red by us,	52 53
	The Unholy Union.	4	1 54
28.	Union of self with physical things, Is perennial source of With all thy force of thought, word, deed, Give up thy g	f pains and ills,	54
	The Divinity of Self.	reed for dater unings,	υ±
	,		
29.	To arise above the earthly woes, Should never lose the si O!feel and feel the warm delight, In divine dignity of t I am not the death, nor disease, Neither young, adult, no	he soul.	55
	All these things belong to flesh, Nothing is there to fear I am, I was; shall ever be, This is the basic truth of life,	and mourn.	56
	In all the quests of charmful bliss, am the architect of "Powerful with my aspirations, Resourceful with imagin	nations,	57
ţ¢	Blissful with glorious hopes, I tread my way through thi	ck and thin."	58
	Futility of Worldly Quest,		
30.	"Enchanted by the charms of dust, Again and again I to Filled, refilled in all its forms, Put all its poses and its t		59
	"Moved up and down in varied ways, In various climes, Lived in heaven, hellish zones, But none gave the cherish	ed goal, "	60
	"Age's have past and eras rolled, Still no rest from outer Now let me turn to inner self, For tried old things, no us		61°
	The Struggle of Life	· f	
31:	The great struggle of worldly life, Against pain, wants at Is struggle against the physical bonds, Forged by foolish Self and matter both are real, But differ in roles of cosmi	nd ignorance, whims of self	62 ₍
,	The one is subject, object other, To cast in forms the inn The self is whole of space and time, Of charms, of beauty	er dreams.	63
	While matter is dark, dull, decaying, Ever on move for no Though highest charming truth is self, But self through h	is ignorance,	64.
	Entangled in the outer meshes, Confuses matter with his a Thus there sets a servant's rule, Matter assumes the mast But self being the motive force. It ever asserts the will of	er's role,	55·
	As both belong to distinct realms, They ever differ in the	ir trends	66
,	The self is astir for the whole, The matter tends to dingy Life is thus an eternal struggle, To evolve freedom from the	cells.	37
	Life from death, the light from dark, Purge from vice, per	ace from woes.	8,

Appeal to Self.

32.	O Self! awake, how long will thou, Serve dictates of alien rule, And feel proud with names and forms, Like a fool who works as tool. Delay not throw the foreign yoke, And busy thyself with own welfare, Rule thyself with thy own self, For self rule is the best for self.	
	Master's role in Spiritual Culture	
33.	The eternal blies reveals on him, Who discerns self from motley heap, To equip thee with discerning sense, Practise to sit at master's feet. Master is great beacon light, Showing the various paths of life, But helping only those ship wrecked, Who themselves feel inclined to right.	71
	Self is his Own Guide.	
84.	Self alone has urge for truth, Animated with his lovely visions, And makes quests in diverse fields, Propelled by his own missions.	78
35.	As other in the realm of matter, Helps only those prone to move, So all the teachers and scriptures, Only help right-minded souls. They neither bestow any wisdom, On perverse, niggards, and fools,	74
	Nor they extract any knowledge, From the high enlightened souls. Self alone is foe and friend, He has all the keys of betterment, So one should look to one's own self, For all his failures and success.	75 76
	The Essential Requisites of a devotee	
	Who has a calm and content mind, Who loves to live a lonely life,	
86,	Is eager most for lasting truth, Is devotee best of life divine.	77
	Life Features of a Yogi.	
88	The more he reveals the truth of life, The higher he soars from luxtful world, The higher he soars from lustful world, The more he reveals the truth of life.	78
	Enriched with his spiritual sight, He looks on world as game of tricks, He ever yearns for glorious self, And feels annoyed with carthly things He loves to live in lonely place, Away from mart, away from fame,	79
	Speaks some times for personal need. Yet soon forgets of what he speaks.	80
41.	He is fast fixed within his self, Talking though, he does not talk, Looking though, he does not look, Walking though he does not walk.	81
42	In eastasy, self centered he, The world of senses does not heed, Self alone in cosmic rhythm, Shines to him as holy film.	82
	Yogi Enjoys a free Life.	
43	Where settles one with love and ease, There he yearns to live in peace, And where one gets his heart's content, He makes that place as permanent.	88
44	So devotee is often lost in self, Charmed with inner bliss and glow,	94
	He is ever filled with self content, His mind does not roam abroad, His senses too get drawn within, He is not aware of outer things.	ar

Is sure one day to attain the goal, Of perfect and beauteous soul.

૮ર

100

परिशिष्ट नं. ५

इप्टोपदेशके मूल इलोकोंकी वर्णानुकमणिका

	Δ,			
	का. नं. पृष्ठाक	1	य	
अगच्छंस्तद्विशेपाणाम्	88-88	परः परस्ततो दुःखम्	,	. 84-40
अभवधित्तविक्षेप	\$\$ \$\$	परीपहाद्यविज्ञानादा		- 2878
अविद्याभिदुरं ज्योतिः	· 89-42	परोपकृतिमुत्सुच्य		₹₹₹ ९
अविद्वान् पुद्रसद्यं	86-40		a	1 1 1
अंज्ञानोपास्तिरज्ञानं '	2326	वध्यते मुख्यते जीवः	,	ं २६—३२
आ		बुबन्निप हिं न ब्रुते		8880
आत्मानुष्टाननिष्ठस्य	४७—५१		भ	
आनन्दो निर्देहत्युद्धं	86-68	भवन्ति प्राप्य यसकुं		१८२ २
आयुर्वेद्धिक्षयोत्कर्षहेतुं		भुक्तोज्झिता सुहुमीहान्		₹0₹19
आरम्भे तापकान्यासाव	20-20	1 -	म '	H
£	1	मोहेन संवृत शानं		£8
इ व्हारयेकान्त्रसंवासं	8084		य ,	1
इतिश्चिन्तामणिदिञ्य	30 58 3	प्रजीवस्योपका राय		\$9-73
इष्टोपदेशमिति सम्पगधीत्य	५१-५३ र	यथा यथा न रोचन्ते	•	₹८४4
्र ए		वया यथा समायाति	5	\$0.—RR
एको ८ इ निर्ममः ग्रदोः	₹ 8595	।त्र भावः शिवं दत्ते		8-4
्क		स्य स्वयं स्वभावाति		4-4
कतस्य कत्तीहमिति	74-38 2	रोग्योपादानयोगेन		5-5
कर्म कमेहिताबन्धि		ो यत्र निवस्त्रास्ते		8386
किमिदं कीहर्च कस्य	85-86		₹	
विभिन्न भारत भारत	1	गिह्रेषद्वयीदीर्घ		१११३
गुरूपदेशादभ्याषात्	\$\$Ko		₹ '	*
जुलाबसाब-नाजार्		।पुर्ग्हं घनं दारा		6-80
जीवोऽन्यः पुद्रस्थान्य		ारे व्रत पदं दैवं		₹₹
त	/- //	।सनामात्रमेवैतत्		€ <i>७</i>
त त्यागाय श्रेयसे वित्तम्		वेपत्तिमारमनो मूढः		188-19
		वेशघकः क्यं इन्त्रे		9527
₹		वरावका क्रम रूप वेपद्मवपदावर्त		12-14
दिग्देशेम्यः खगा एत्य		वपश्चवपदा <u>व</u> त	स	• • • •
दुःखसंदोहभागित्वं	२८३५		Ġ.	२२
दुरव्यॅना धुरक्षचेण	., .,	वंयम्य करणप्रामं		28-24
न	- 1	ख्यंवेदेनसुब्यक्त —————		₹8—R0
न में मृत्युः कुतो मीतिः		खरिमन सदमिलापि	~	44.
नाजो विज्ञत्व मायाति	£688		ह	44
निशामयति निश्शेप	३९४६ । ।	हपीकनमनासङ्क		14

परिशिष्ट नं. ६

इप्रोपदेशकी टीकामें उद्भृत श्लोकों, गाथाओं और दोहोंकी वर्णानुक्रमणिका।

31	ष्ठांक	गुरूपद्शमाताध	४७
अकिंचनोऽहमिस्यास्व-गुणमद्राचार्यः आत्मानुशासनम्		ब्रहण त्यागसे शून्य जो-दोहा-	५१
अपराघीजन क्यों करे-दोहा-न्न, शीतलप्रहाद	१३	জ	
अपि संकल्पिताः कामाः	२०		१६
अर्थस्योपाजेने दुःखम्-	१६	अन् राजा देश रिवार्ट कर संस्थ	48
अज्ञभक्ति अज्ञानको-दोहा-ब्र. शीतलप्रसाद	२९	***	γų.
	İ	वस क्षत जातन तत्त्रम प्रश्	४५
आ -	48	and and take district the title	
आग्रह छोड़ स्वग्राममें-दोहा-		जायदि जीवस्सेवं — कुन्दकुन्दाचार्यः पंचास्तिकाये —	14
आतम-हित जो करत है-दोहा-	58	जीवकृत परिणामं-अमृतचन्द्राचार्यः पुरुषार्थ-	
आस्मदेहान्तरज्ञान-प्रयपादस्वामि-समाधिशतकम्	२९	1043111	₹ <i>८</i>
आत्मभाव यदि मोक्षप्रद-दोहा	ч	114 361 34 34 34	4:
आत्मज्ञानात्परं कार्ये-पूज्यपादस्वामि समाधिजतकम्	४७	all 68 dalled 3. 4 8 4 1 1 1 1 1 1 1 1	१ः
आपिं निज हित चाहता-दोहा-	४१	जी व्यक्ति नेरासा रह दाहा	81
आयु धय धनवृद्धिको-दोहा	१८	झाणस्य ण दुछहं किंपीति—	२
इ		त	
इत चिन्तामणि है महत्-दोहा	२५	"	_
इदं फलमियं क्रिया करण—शुभचन्द्राचार्यः		तथा ह्यचरमाङ्गस्य-नागसेनाचार्थः-तस्वानुशासनम्-	۲,
ज्ञानार्णवः आशाधरः सागारवर्मामृते	२०	तदा च परमैकाय्या-नागसेनाचार्यः-तत्वानुशासनम्-	-Y.
इन्द्रजाल सम देख जग,-दोहा-	२५	तदात्वे सुलसंज्ञेषु —	ર
इन्द्रियजन्य निरोगमय, दोहा-	Ø	तदेवानुभवंश्चाय-नागसेनाचार्यः-तत्वानुशासनम्	8
इष्टलप उपदेशको-दोहा-	48	व	
उ			2
उपशम इव मूर्तः-अ।शाधरः	48	दहनस्तृणकाष्ठसंचयैरपि	2
क	-	दिशा देशस आपकर-दाहा-	8
कटका मैं कर्तार हूं-दोहा	३२	देखत भी निह देखते-दोहा	٥
कठन प्राप्त संरह्य ये-दोहा	७१	ঘ	
करथिव बलिओ जीवो—	36	ध्यायते येन तद्धयानं-नागसेनाचार्यः तस्त्रानुशासन्म	13
कर्म कर्महितकार है-दोहा	38	ध्यायोतोईत्सिद्धरूपेण-। १९७ ।-नागसेनाचार्थः	
किमपीदं विषयमयं-आशाधरःअनगारधर्मामृते-	२०		
क्या कैसा किसका किसमें-दोहा-	86	1.	
,धा		न	5
गदिसधिगदरसदेहो-कुन्दकुन्दाचार्यः पंचास्तिकाये	18		
गहियं तं सु अजाणा-अनगारधर्मामृते	30		O.Y
गुरूपदेश मासाय । १९६ ।—नागसेनाचार्यः		निज अनुभवसे प्रगट है-दोहा	₹
तस्वानुशासनम्	, 1	 निवृत्ति भावयेद्याव-गुणभद्राचार्यः आत्मानुज्ञासनम्- 	-1

		थस्य पुष्यं च पापं च-गुणभद्राचार्यः आत्मानुशाः	धनै म्
पर पर ताते दुःख हो दोहा	لر ه	यत्र रागः पदं घत्ते-। २५ । ग्रुभचन्द्राचार्यः-ज्ञानार्ण	वे १
परमातमानमानस्य-आञ्चाघरः	. 8	यत्रात्रिकं फर्कं किंचित—नागसेनाचार्यः तत्वानुशासन	म्२
परिणममानस्य चित्-अमृतचन्द्राचार्यः	Ì	₹	
पुरुषार्थसिद्धशुपायः	36		
परिषद्दादि अनुभवं विना-दोहा—	38	रम्यं इर्मं चन्दनं चन्द्रशादा—	
प्रगट अन्य देहादिका-दोहा-	३९	रागी बन्नाति कर्शणि-शुभचन्द्राचार्यः ज्ञानाणेवे	á.
प्राणी जा संयोगते-दोहा	38	a .	
प्राच्याच्य विषयेभ्योऽहं-पूज्यपादस्वामि		वज्रे पतत्यपि भयद्रुत विश्वलोके, पद्मनिदः	
—समाथिशतकम्—	হঙ	पद्मनंदिपंचविश्वतिकाः	Y
पुद्रलको निज जानकर-दोहा	પે શ	वस्तु विशेष विकल्पको-दोहा	40
पुण्य हेतु दानादिको-दोहा	88	विनयेन्दुमुनिर्वाक्या-आशाधाः	4,8
पुत्र मित्र घर तन तिया-दोहा	११	विरमकिमपरेणा-अमृतचन्द्राचार्यः-नाटकसमयसार-	
पूज्य अविद्या दूर यह-दोहा	५२	ক্ত্যা:	84
-		विषयी सुख दु:ख मानते-दोहा	9
¥		वेदालं वेद्यक्तवं च-नागसेनाचार्यः-तत्वानुशासनम्-	- 26
भैया जगवासी त् (टिप्पणी)-बनारसीदास		য়	
—नाटकसमयसार	84	दामसुखशीलितमनसा—	88
भोगार्जन दुःखद महा-दोहा	२२	ग्रुचि पदार्थ भी संगते-दोहा-	२२
म		गुद्धैर्भनैविवर्धरते—गुणभद्राचार्यः—आत्मानुशासनम्—	
मत्तः कायादयो भिन्नात् ।१५८ ।-नागसेनाचार्यः			1,
तरबानुशासनम्—	33	- स	
मथत दूघ डोरीनितें-दोहा	84	सव पुद्रलको मोहसे-दोहा	३८
मनको कर एकाप्र-दोहा	26	सीलेर्डि संग्तो-नेमिचन्द्राचार्यः-गोम्म्टसारः	
मरण रोग मॉर्मे नहीं-दोहा	३७	जीवकाण्डम्	26
मलविद्यमणेर्यिकः—	8	स्वर्ण पाषाण सु हेतुसे-दोहा	34
भिन्न राह देखत खड़े-दोहा	8	स्वयरक्षतिरूपत्वात्-नागसेनाचार्यः तत्त्वानुशासनम्	१३
मुखाङ्ग ग्लपमस्यलं —	(y	स्वबुद्धचा यत्तुग्रह्णोयात्-पृज्यपादस्वामि	
मूर्ज न ज्ञानी हो सके-दोहा	83	समाधिशतकम्—	34
में एक निर्भम शुद्ध हूं-दोहा	३९		४२
मोहकर्मके उदयरे-दोहा-	१७	स्वयं कर्म सब नाशकरि, दोहा-प्र. चीतलप्रसाद	?
मोही बॉयत कर्मको-दोद्या-	₹४,	क्ष	
य		क्षोभ रहित एकान्तमें-दोहा	ጸጸ
यदा मोहात्प्रजायेते-पूज्यपादस्वामि-समाधिशतकम्-	-43	8	
यद्यानं रीद्रमार्से वा-नागसेनाचार्यः-तत्त्वानुशासनम्	[2 8	जानमेव पर्छ जाने-गुणभद्राचार्यः आत्मानुशासनम्-	36